आलोचनात्मक अध्ययन

दिनकर और उनकी उर्वशी

(उर्वशी का आलोचनात्मक तथा व्याख्यात्मक अध्ययन)

लेखक

प्रो० देशराजसिंह भाटी एम० ए०



प्रकाशक

अशोक प्रकाशन

नई सड़क, दिल्ली-६

प्रकाशक
अशोक प्रकाशन
नई सड़क दिल्ली ६



प्रथम संस्करण १९६१
मूल्य ७ ५०



मुद्रक
अशोक मुद्रणकला द्वारा
बदलिया प्रेस में मुद्रित ।

दो शब्द

'उर्वशी' श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' की नवीनतम कृति है। आधुनिक काल में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है इसमें दो मत नहीं हो सकते। प्रस्तुत कृति इसी का आलोचनात्मक और व्याख्यात्मक अध्ययन है।

इस कृति को दो भागों में विभाजित किया गया है—आलोचना-भाग और व्याख्या भाग। आलोचना-भाग में उर्वशी से सम्बन्धित सभी प्रमुख समस्याओं का विवेचन किया गया है। व्याख्या-भाग में उर्वशी की सर्वांगीण व्याख्या है। आशा ही नहीं हमें पूर्ण विश्वास है कि यह कृति 'उर्वशी' के पाठकों को अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

इस कृति के प्रणयन में श्री लक्ष्मणदत्त गौतम एम०ए० साहित्यरत्न का सक्रिय सहयोग हमें मिला है। व्याख्या भाग में तीसरे और चौथे अंक की व्याख्या इन्होंने ही लिखी है। इसके अतिरिक्त आलोचना-भाग में उर्वशी की कथावस्तु, प्रमुख पात्र, प्रकृति-चित्रण सांस्कृतिक तत्त्व और मूल्यांकन भी इन्हीं के लिखे हुए हैं। इस स्नेह भरे सहयोग के लिए लेखक इनका अत्यन्त आभारी है।

—देवराजसिंह भाटी

विषय सूची

आलोचना भाग

व्याख्या भाग

आलोचना-भाग

१

दिनकर का जीवनवृत्त

हिन्दी-साहित्य के ओजस्वी कवि श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' का जन्म सन् १९०८ ई० में मुंगेर जिले के सिमरियाघाट नामक ग्राम में एक साधारण से कृषक परिवार में हुआ था। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा सिमरिया के मिडिल स्कूल में ही सम्पन्न हुई। मिडिल पास करने के पश्चात् इन्होंने मुकामाघाट के स्कूल में प्रवेश लिया और वहीं से एण्ट्रेंस की परीक्षा उत्तीर्ण की। सन् १९३२ ई० में पटना से बी० ए० ऑनर्स (इतिहास) की परीक्षा पास की।

इसके पश्चात् इन्होंने कर्मक्षेत्र में प्रवेश किया। सन् १९४३ ई० तक इन्होंने एक स्कूल के मुख्याध्यापक का पद सुशोभित ही नहीं किया बल्कि अपनी कार्य-कुशलता से सफलतापूर्वक अपने कर्तव्यों का निर्वाह भी किया। तदुपरान्त इनकी नियुक्ति सब रजिस्ट्रार के पद पर हुई। वहां भी इन्होंने अपनी कर्तव्य परायणता का प्रभावशाली प्रमाण दिया। सन् १९४७ ई० मे इन्होंने युद्ध प्रचार विभाग में डिप्टी-डायरेक्टर के पद पर कार्य किया। तत्पश्चात् कुछ दिनों तक भूमिहार ब्राह्मण कालिज मुजफ्फरपुर में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रहे। आजकल ये भारत की संसद् के मनोनीत सदस्य हैं। हिन्दी-जनता के अतिरिक्त भारत सरकार भी आपका अत्यधिक सम्मान करती है और समय-समय पर सम्मान-सूचक मैडलों से तथा विदेशों में शिष्ट मण्डलों के साथ भेजकर अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति करती रहती है।

'दिनकर' में अनन्य प्रतिभा जन्म-जात कही जा सकती है। जब ये विद्यार्थी जीवन में ही थे तब ही इनकी दो कृतियां—बारदोली-विजय और प्रणभंग प्रकाशित हो चुकी थीं। कालान्तर में यही प्रतिभा चरम विकास की ओर बढ़ती गई। आज कवि तथा चिन्तक के रूप में इनका अपने ही देश में नहीं, विदेशों में भी पर्याप्त सम्मान और प्रभाव है। ये अत्यन्त प्राणवान् व्यक्तित्व

सम्पन्न कवि हैं। इनके व्यक्तित्व की भावुकता तथा कर्मठता इनके काव्य में सफलता से अभिव्यक्त हुई है।

अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है कि राजनीति में प्रवेश करने के पश्चात् भी इनका साहित्यिक जीवन निरन्तर प्रगतिशील है और अनेक नवीन रचनाओं से हिन्दी माँ के गौरव में अभिवृद्धि कर रहा है। हाल ही में इनका उर्वशी महाकाव्य प्रकाशित हुआ है जिसके प्रकाशन से हिन्दी-साहित्य में मृतप्राय महाकाव्य-परम्परा को नवजीवन प्रदान कर दिया है। राष्ट्रभाषा के इस सजीव एवं कमठ साधक से हिन्दी-माँ को अभी बहुत-बहुत आशायें हैं।

भगवान् इन्हें चिरायु, नव-शक्ति और नवीन प्रेरणायें प्रदान करें!

काव्य-प्रेरणा

संस्कृत-काव्यशास्त्र के अग्रणी आचार्य और काव्यप्रकाशकार मम्मट ने काव्य-हेतु इस प्रकार बताये हैं—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

अर्थात् शक्ति अथवा कवि प्रतिभा निपुणता अथवा व्युत्पत्ति जो लोक-जीवन के अनुभव और निरीक्षण शास्त्रों के अनुशीलन और काव्य इत्यादि के विवेचन का परिणाम है तथा अभ्यास या कवि और काव्य-विमर्शक के उपदेश का अनुसरण करना काव्य के हेतु (कारण) कहलाते हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि वही व्यक्ति कवि बन सकता है जिसमें कवि प्रतिभा है, निपुणता है—लोक-जीवन के अनुभव शास्त्रों का अनुशीलन और काव्य आदि का विवेचन करने की शक्ति है। जो निरन्तर काव्य रचना में अभ्यास रत रहता है अन्य कवि अथवा काव्य-कृतियों का अनुसरण करने का प्रयास करता है। 'दिनकर' के काव्य प्रेरणा के विषय में भी ये वाक्य अक्षरशः सत्य सिद्ध होते हैं। इनके जीवन की कोई भी ऐसी घटना ज्ञात नहीं जिससे भावाभिभूत होकर इनकी कविता भावों से चुपचाप निकलकर अनजाने ही वह निकली हो। इनका काव्य तो सूक्ष्म निरीक्षण पर्यवेक्षण विवेचन अनुसरण और सतत अभ्यासपूर्ण प्रयासों की परिणति है। अपनी काव्य प्रेरणा के विषय में वक्तव्य की

भूमिका में स्वयं कवि ने जो विचार प्रकट किये हैं तथा इनकी कृतियों से जिन विचारों का अनुमान किया जा सकता है उनके आधार पर इनकी काव्य प्रेरणा का स्वरूप इस प्रकार निर्दिष्ट किया जा सकता है—

१ नाटकों और रामलीलाओं का प्रभाव

२ हिन्दी और अहिन्दी कवियों का प्रभाव

३ तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव।

नाटकों और रामलीलाओं का प्रभाव

बालक 'दिनकर' जब कभी भी किसी नाटक अथवा रामलीला को देखते तो उनके गीतों की धुन इनके मस्तिष्क में चक्कर काटने लगती। जब तक ये उन धुनों पर आधृत गीतों की रचना न कर लेते तब तक इनका मन उदास और खिन्न रहता। इस प्रकार इनका काव्याभ्यास निरन्तर बढ़ता गया। स्वयं कवि ने इस सत्य का इन शब्दों में स्वीकार किया है—

'जहां तक याद है कविता लिखने की प्रेरणा मुझ में नाटक और रामलीला देखकर उत्पन्न हुई। जब भी मैं नाटक वालों के मुख से कोई गीत सुनता, दूसरे दिन उसी धुन में एक नया गीत बना लेता। —चक्रवाल, पृ० २१

हिन्दी और अहिन्दी कवियों का प्रभाव

हिन्दी कवियों में गोस्वामी तुलसीदास मैथिलीशरण गुप्त माखनलाल चतुर्वेदी रामनरेश त्रिपाठी सुभद्राकुमारी चौहान और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का प्रभाव विशेष रूप से बाल-कवि 'दिनकर' पर पड़ा। इस प्रभाव की स्वीकृति 'दिनकर' ने इस प्रकार की है—

'यह भी प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति के ही आस-पास की बात है जब मैं आठ दस साल का रहा होऊंगा। तब सन् १९२० ई० में कानपुर के प्रताप में एक भारतीय आत्मा' की वह कविता छपी जिसे उन्होंने लोकमान्य तिलक की मृत्यु पर लिखा था। इस कविता का मुझ पर अत्यन्त प्रभाव पड़ा पत्र-पत्रिकाओं से रस पाकर जब मैं समकालीन काव्य पुस्तकों की ओर मुड़ा तब मुझे भारत-भारती मिली जयद्रथ-वध और शकुन्तला तथा किसान

पढ़ने का अवसर मिला एवं जब श्री रामनरेश त्रिपाठी का 'पथिक' निकला, मैं उस ग्रन्थ में आपाद-मस्तिष्क डूब गया। 'पथिक' मुझे इतना पसन्द आया जितना और कोई ग्रन्थ नहीं रुचा था। उन्हीं दिनों मैंने 'पथिक' के अनुकरण पर 'वीर-बाला' और 'जयद्रथ-वध' के अनुकरण पर 'मेघनाद-वध' ये दो खण्ड-काव्य लिखने आरम्भ किये किन्तु दोनों के दोनों प्रयास तीन चार सर्गों तक चलकर ही समाप्त हो गये। —चक्रवाल पृ० २५

अहिन्दी-कवियों में शेली, वर्ड्सवर्थ, रवीन्द्र, नजरुल, इकबाल और जोश का इन पर काफी प्रभाव पड़ा—

"कालेज में मुझ में शेली और वर्ड्सवर्थ दोनों के लिए उत्साह था और बंगला सीख कर तभी मैंने रवीन्द्र और नजरुल से भी परिचय बढ़ा लिया था। पीछे जब मैं नौकरी करने लगा तब मैंने उर्दू सीखी और इकबाल तथा जोश का मैं भक्त बन गया। —चक्रवाल, पृ० २७

तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव

'दिनकर' के काव्य में जो हुंकार और आग है उसका आविर्भाव तत्कालीन राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों के परिचय तथा प्रभाव के कारण ही हुआ। उन दिनों समूचा देश स्वतन्त्रता के लिये जूझ रहा था। देश भक्तों के नित नये बलिदानों की गिनती निरन्तर बढ़ती जा रही थी और गांधी जी का 'असहयोग आन्दोलन' भारतीयों के जीवन में नवाशा और नवचेतना का संचार कर रहा था। इन परिस्थितियों से 'दिनकर' के मानस का अदम्य विद्रोह कविता का माध्यम लेकर फूट पड़ा। इस विद्रोह में उनके प्रान्त की सामाजिक दारुण परिस्थितियों ने आग में घी का काम किया। डा० नगेन्द्र ने इस प्रान्त की दयनीय स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है—

"दिनकर ऐसे प्रान्त का कवि है जहाँ विषमता अट्टहास करती है। वर्ग वैषम्य भी बिहार से अधिक शायद रियासतों में ही मिले। इसके अतिरिक्त इन बेचारे भूखे-नंगों को प्रकृति के खूनी दाँतों और पंजों का भी शिकार बनना पड़ता है। —विचार और अनुभूति पृ० ८१

इस वातावरण में रहकर 'दिनकर' की कविता राष्ट्रीयता के आवरण में क्रांति एवं आग उगलने लगी और इनकी चेतना में साम्यवाद बैठ गया जो कुरुक्षेत्र में अपने सम्पूर्ण रूप में प्रकट हुआ—

'वट की विशालता के नीचे जो अनेक वृक्ष
ठिठुर रहे हैं उन्हें फैलने का वर दो
रस सोखता है जो मही का भीमकाय वृक्ष
उसकी शिरायें तोड़ो डालियाँ कतर दो'



२

दिनकर की काव्य-कृतियां

'दिनकर' की साहित्य प्रतिभा पद्य और गद्य दोनों में समान है। वे जितने सफल कवि हैं, उतने ही सफल गद्य-लेखक भी हैं। इनकी पद्य और गद्य की कुल कृतियां अब तक २८ प्रकाशित हो चुकी हैं। यहां पर इनकी केवल काव्य कृतियों का उल्लेख अपेक्षित है—

	काव्य-कृति	प्रकाशन-काल
१	बारदोली-विजय	१९२८ ई०
२	प्रणभंग (खण्ड काव्य)	१९३ ई०
३	रेणुका	१९३५ ई०
४	हुंकार	१९३८ ई०
५	रसवन्ती	१९३९ ई०
६	द्वन्द्व गीत	१९४० ई०
७	सामधेनी	१९४६ ई०
८	धूप-छांह	१९४६ ई०
९	कुरुक्षेत्र	१९४६ ई०
१०	बापू	१९४७ ई०
११	इतिहास के आंसू	१९५२ ई०
१२	धूप और धुआं	१९५३ ई०
१३	रश्मिरथी	१९५३ ई०
१४	रेती के फूल	१९५४ ई०
१५	नील कुसुम	१९५५ ई०
१६	उजली आग (गद्य-काव्य)	१९५६ ई
१७	नीम के पत्ते	१९५६ ई०

१८. दिल्ली १९५६ ई०
१९. सीपी और शंख (अनूदित कविता-संग्रह) १९५७ ई०
२०. नये सुभाषित (सूक्ति-संग्रह) १९५७ ई०
२१. उर्वशी (गीति-नाट्य) १९६१ ई०

इनके अतिरिक्त चक्रवाल नाम से इनका एक काव्य-संग्रह भी है जिसमें रेणुका से लेकर नील कुसुम तक की चुनी हुई कविताएँ हैं। इसका प्रकाशन काल सन् १९५६ ई० है। यहाँ पर कवि की प्रमुखतम कृतियों का संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक प्रतीत होता है ताकि कवि की विकास-प्रक्रिया को समझ लिया जाये।

रेणुका

रेणुका में संगृहीत कविताएँ तीन खंडों में विभाजित हैं—व्योम कुंजों की परी अयि कल्पने या वही कविता युगों से मुग्ध हो और फूंक दे जो प्राण में उत्तेजना। इस संग्रह की समस्त कविताओं में कवि की पाँच प्रकार की भावनायें परिलक्षित होती हैं—

१ प्रगति-भावना २ राष्ट्रीय भावना ३ शृंगार भावना ४ अध्यात्म भावना ५ प्रकृति-चित्रण की भावना।

'रेणुका' का कवि इस विषमतापूर्ण और पीड़ित संसार में समता तथा सुख लाने का इच्छुक है। जिस प्रकार 'साकेत' के राम इस भूतल पर स्वर्ग का सन्देश लेकर नहीं आते बल्कि इस भूतल को ही स्वर्ग बना देना चाहते हैं, उसी प्रकार 'रेणुका' का कवि कल्पना का वैभव त्यागकर इसी धरा को धनधान्य बनी देखने का अभिलाषी है—

व्योम-कुंजों की परी अयि कल्पने भूमि को निज स्वर्ग पर ललचा नहीं।
उड़ न सकते हम धुमैले स्वप्न तक शक्ति है तो आ बसा अलका यहीं।

कवि-कल्पना का सामाजिक बन जाना प्रगतिवाद की प्रमुख विशेषता है। प्रगतिवादी समाज के पुनर्निर्माण के लिए वर्तमान समाज का ध्वंस आवश्यक मानता है। रेणुका का कवि भी अपनी कविता से जग में ज्वाला सुलगाने की प्रार्थना करता है—

'क्रांति-धात्री कविते ! जागो उठ आडम्बर में आग लगा दे,
पतन पाप पाखंड जलें जग में ऐसी ज्वाला सुलगा दे।'

राष्ट्रीय भावना के अन्तर्गत कवि का वर्तमान के प्रति असन्तोष और अतीत के प्रति अनुराग व्यक्त हुआ है। अतीत के प्रति अनुराग-प्रदर्शन भी राष्ट्रीय कवियों की एक परम्परा सी रही है। यह भावना प्रायः दो रूपों में प्रकट होती है—एक तो विद्रोह के रूप में जहाँ कवि वर्तमान के ध्वंस की कामना करता है। 'रेणुका' में 'ताण्डव' कविता इसी रूप का प्रतिपादन करती है—

'नाचो हे नाचो नटवर !
चन्द्रचूड़ ! त्रिनयन ! गंगाधर ! आदि प्रलय ! अवढर ! शंकर !
नाचो हे नाचो नटवर !!

दूसरा रूप है अतीत की गौरव-गाथा का गान। उदाहरणार्थ, 'रेणुका की 'हिमालय' कविता की कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

'तू पूछ अवध से, राम कहाँ ? वृन्दा ! बोलो घनश्याम कहाँ ?
ओ मगध ! कहाँ मेरे अशोक ? वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ ?
× × × ×
री कपिलवस्तु ! कह, बुद्धदेव के वे मंगल उपदेश कहाँ ?
तिब्बत ईरान जापान चीन तक गये हुए सन्देश कहाँ ?

किन्तु इस विद्रोह में भविष्य-निर्माण की कोई योजना परिलक्षित नहीं होती केवल कवि का वर्तमान के प्रति असन्तोष और तज्जन्य क्रन्दन ही स्पष्टतः मुखरित है।

'रेणुका' के कवि की शृंगार भावना को भी अभिव्यक्ति मिली है किन्तु यह भावना छायावादियों की सी कुंठित और धूमिल नहीं बल्कि स्वस्थ सन्तुलित और स्पष्ट है। यथा—

पनघट से आ रही पीत वसना युवती सुकुमार
किसी भाँति ढोती गागर-यौवन का दुर्वह भार।
बनूँ वहीं मैं कवि ! इसकी माँग कलश काजल सिन्दूर सुहाग।

यह कवि की 'कविता की पुकार' है। शृंगार का यह वर्णन स्वस्थ और संयमित होने के साथ-साथ उदात्त भी है।

रेणुका की अध्यात्म भावना किसी गंभीर चिन्तन की परिणति नहीं बल्कि इसमें साधारण और स्वाभाविक दार्शनिक विचारों को ही व्यक्त किया गया है। जैसे—जीव और ब्रह्म का उल्लेख सृष्टि की नश्वरता संसार का अन्त दुःखमय आदि। जीवन और यौवन की नश्वरता का यह वर्णन देखिए—

'जीवन का मधुमय उल्लास, औ यौवन का हास विलास।
रूप-राशि का यह अभिमान एक स्वप्न है स्वप्न अजान।'

रेणुका में प्रकृति का प्रयोग प्राय राष्ट्रीयता की भावना से आविर्भूत विद्रोह अध्यात्म भावना और शृंगार भावना को अभिव्यक्ति देने के लिए किया गया है। यथा—

विद्रोह—चमक उठा तेरे मरघट में जिस दिन सोने का संसार,
एक-एक कर लगा बहकने मगध-सुन्दरी का शृंगार।
जिस दिन जली चिता गौरव की जय भेरी जब मूक हुई
जमकर पत्थर हुई न क्यों यदि टूट नहीं दो टूक हुई।

—पाटलिपुत्र की गंगा।

अध्यात्म भावना—'एक बात है सत्य कि झर जाते हैं खिलकर फूल यहाँ,
जो अनुकूल नहीं बन जाता दुर्दिन में प्रतिकूल यहाँ।
मैत्री के शीतल कानन में छिपा कपट का शूल यहाँ
कितने कीटों से सेवित है मानवता का मूल यहाँ।
इस उपवन की पगडंडी पर बचकर जाना परदेशी,
यहाँ मेनका की चितवन पर मत ललचाना परदेशी।

—परदेशी

शृंगार भावना—मुक्त कुंतल में गूँथ दूज का पहन कुसुम-कर्णाभूषण
चिरवधू क्षितिज पर खड़ी रही अधीर चपल कंप रहे चरण
रुनझुन रुनझुन जिसका सिंजन

—प्रभा-सगम

यदि इन पाँचों भावनाओं का विश्लेषण किया जाये तो कहा जा सकता कि प्रगति और राष्ट्रीय भावना कवि की समष्टिगत भावना की अभिव्यक्ति

और शृंगार तथा अध्यात्म भावना व्यष्टि की। प्रकृति-चित्रण की भावना में दोनों भावनाओं का—समष्टि और व्यष्टि का—समन्वय है। इसका निष्कर्ष यह हुआ कि कवि युगीन परिस्थितियों से बाध्य होकर अपनी समूह-भावना को पोषित तथा कोमल भावना को नियन्त्रित करने में प्रयत्नशील है। उसके युवा-हृदय में इन दोनों भावनाओं का द्वन्द्व चलता है, जिसमें अन्त में समाज भावना की विजय होती है। व्यष्टि के निरोध एवं समष्टि के ग्रहण के ही दो रूप राष्ट्रीय तथा प्रगतिवादी बनकर उनके काव्य में अवतीर्ण हुए।

हुंकार

'रेणुका' में कवि के मन में व्यष्टि और समष्टि का जो संघर्ष प्रारम्भ हुआ है 'हुंकार' में वह प्रायः समाप्त-सा हो जाता है। समष्टि व्यष्टि को पराभूत कर लेती है और कवि की वाणी वर्तमान की दयनीय दशा के प्रतिक्रिया-स्वरूप विद्रोह कर उठती है—

समय-ढूह की ओर सिसकते मेरे गीत विकल धाये।
आज खोजते उन्हें बुलाने वर्तमान के पल आये॥

इसीलिए कवि 'शृंग छोड़ मिट्टी पर' उतर आता है व्योम-कुंजों की परी कल्पना प्राणों में उत्तेजना फूंकने के लिये आतुर हो उठती है। वह कल्पना की जाली बुनने वाले कवियों को चुनौती दे देता है—

अमृत गीत तुम रचो कलानिधि! बुनो कल्पना की जाली।
तिमिर-ज्योति की समर भूमि का मैं चारण, मैं वैताली॥'

इन पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि 'रेणुका' के जिस विद्रोह में निराशा के कारण ध्वंस को निमन्त्रण दिया जाता था 'हुंकार' में वही विद्रोह आशा और नवीन प्रकाश से समुज्ज्वलित हो उठा है। कवि की वाणी क्रान्तिरूपा ज्योति और विशुद्ध क्षात्र-धर्म का बल लेकर बोलने लगी है—

'घर कर चरण विजित शृंगों पर झंडा वही उड़ाते हैं,
अपनी ही उंगली पर जो खंजर की जंग छुड़ाते हैं।
पड़ी समय से होड़ खींच मत तलवों के कांटे रुककर
फूंक-फूंक चलती न जवानी चोटों से बचकर झुककर।

नींद कहाँ उनकी आँखों में जो धुन के मतवाले हैं ?
गति की तृषा और बढ़ती पड़ते पद में जब छाले हैं।

यहाँ कवि का विद्रोह चरम कोटि पर पहुँचा हुआ दिखाई देता है। वह केवल उन्हें ही एक बार नहीं, शत बार नमन करना चाहता है जिनके युद्ध चरण रण की ओर बढ़ें, लेकिन मन के पीछे करुण पुकार छिपी हुई हो। इसीलिये कवि को दिल्ली का वैभव भी फूटी आँखों नहीं सुहाता। वह उसे ब्रिटिश की दासी और परकीया की संज्ञा देने में भी संकोच नहीं करता—

'तू वैभव-मद में इठलाती परकीया-सी सैन चलाती।
री ब्रिटेन की दासी किसको, इन आँखों पर है ललचाती ?

कहने का भाव यह है कि 'हुंकार' में कवि के सबल विद्रोह की सशक्त हुंकार है। कवि 'रेणुका' में देश की जिस दुरवस्था पर रोया था 'हुंकार' में उसी पर विद्रोह कर उठा है। अतः 'रेणुका' में जिस भाव का जन्म हुआ 'हुंकार' में वह यौवन को प्राप्त हुआ इसलिए यदि 'रेणुका' को 'हुंकार' की पीठिका या भूमिका कहा जावे तो अनुचित न होगा।

रसवन्ती

'रेणुका' में कवि की जो शृंगार भावना अंकुरित हुई थी 'हुंकार' में आकर वह ओजस्वी क्षात्र धर्म में दमित हो गई, किन्तु वह दमन 'रसवन्ती' में अपना पूर्ण प्रवाह लेकर बह निकला। सम्भवतः 'गीत शिशु' नामक कविता में कवि ने निम्नलिखित पंक्तियों में इसी तथ्य की ओर संकेत किया है—

'बड़े यत्न से जिन्हें छिपाया ये वे मुकुल हमारे।
जो अब तक बच रहे किसी विध ध्वंसक इष्ट प्रलय से।'

'हुंकार' की हुंकार में ये शृंगारिक गीत किस प्रकार बच रहे, स्वयं कवि को इसका पता नहीं है लेकिन वह विधि सहज प्रक्रिया के अतिरिक्त और क्या हो सकती है ? अर्थात् दमित काम भावना नष्ट नहीं हुआ करती वे अवसर पाकर फूट ही पड़ती हैं। यही सहज प्रक्रिया है। इसीलिये 'रसवन्ती' में किसी निश्चित उद्देश्य का अभाव है, केवल कवि-मानस की प्रसन्नता ही इसका कारण है।

'रसवन्ती' का कवि प्रकृति को भी अपनी शृंगार भावना की अभिव्यक्ति का साधन बनाता है। 'हुंकार' का कवि 'रसवन्ती' का प्रणेता नहीं हो सकता यह सहज ही कहा जा सकता है, क्योंकि एक में समष्टि की चरम सीमा है और दूसरी में व्यष्टि की पराकाष्ठा। 'पतझड़ की सारिका' में कवि इसी शंका का समाधान करता है—

जग तो समझता है यही पाषाण में कुछ रस नहीं।
पर गिरि-हृदय में क्या न व्याकुल निर्झरों का वास है?

इन पंक्तियों में कवि ने अपनी दमित काम भावनाओं की ईमानदारी के साथ स्वीकृति ही नहीं दी बल्कि एक शाश्वत सत्य की प्रतिष्ठा भी की है। अतः 'दिनकर' के आलोचकों का 'रसवन्ती' को कुछ विस्मय और सम्भ्रम के साथ अपनाना केवल कवि के प्रति ही अन्याय नहीं वरन् एक शाश्वत सत्य की सत्यता को भी झुठलाना है। 'रेणुका' में जिस कविता ने उडु के नील कुंज में स्वप्न न खोजने की बमेली में चन्द्र-किरणों से चित्र न बनाने की अधरों में मुसकान और कपोलों में लाली न आ जाने की कसम खाई थी तथा 'हुंकार' में जो युग धर्म की पुकार बनी प्रकृति-मग्न को लेकर रक्त शोषिणी संस्कृति को जिसने ललकारा अपना सदय विचार कर युग पर जिसने अपने तन-मन-धन का समर्पण किया और जिसने कवि के महायज्ञ की आहुति वार की वहीं कविता 'रसवन्ती' में आल्हा गाते हुए प्रेमी की राधा को घर से खींचकर चोरी चोरी नीम के नीचे खड़ी करने लगी—

'दो प्रेमी हैं यहां एक जब बड़े सांझ आल्हा गाता है,
पहला स्वर उसकी राधा को घर से यहां खींच लाता है।
चोरी-चोरी खड़ी नीम की छाया में छिपकर सुनती है
हुई न क्यों मैं कड़ी गीत की बिधना यों मन में गुनती है।

कहने का भाव है कि 'रसवन्ती' निर्विवाद रूप से कवि की शृंगारिक भावों की स्पष्ट और सहज अभिव्यक्ति है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद के शब्दों में — 'यदि पंक्तियों के शासन से कहना चाहें तो 'रेणुका' में 'चातक' की चेतना

मयूर है और 'हुंकार' में श्येन (बाज) का घोष। रसवन्ती में तो कोकिल की काकली है।"

द्वन्द्वगीत

'द्वन्द्वगीत' में अध्यात्म भावना और व्यष्टि-समष्टि के द्वन्द्व की प्रधानता है। इसमें ईश्वर आत्मा (जीव) जीवन और मृत्यु आदि पर विचार व्यक्त किये गये हैं। जिस प्रकार कबीर आदि भक्त-कवियों ने ब्रह्म की सर्व-व्यापकता स्वीकार की थी सर्वत्र अपने लाल की लाली देखी थी उसी प्रकार 'द्वन्द्वगीत' का कवि भी सृष्टि के प्रत्येक कण में उसी माली का रूप और प्रभाव देखता है—

किरणों के दिल चीर देख, सब में दिनमणि की लाली है।
चाहे जितने फूल खिले पर एक सभी का माली है।

जीवन और मृत्यु के विषय में भारतीय दर्शन पुनर्जन्म का दृढ़ता से प्रतिपादन करता है। भगवान कृष्ण ने अर्जुन के समक्ष इसी सिद्धान्त का आख्यान किया था—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।

यही मान्यता द्वन्द्वगीत में भी व्यक्त की गई है—

'जीवन ही कल मृत्यु बनेगा और मृत्यु ही नवजीवन
जीवन-मृत्यु-बीच तब क्यों द्वन्द्वों का यह उत्थान-पतन।।

संसार अस्थिर है अतः इसमें पनपने वाला जीवन भी क्षणभंगुर है। जिस यौवन पर व्यक्ति मदान्ध हो जाता है वह यौवन भी ठहरता कितने दिन है—

'दो गड्ढों को छिपा रहीं मदमाती आँखें लाल सखी!
अस्थि-तन्तु पर ही तो हैं ये खिले कुसुम से गाल सखी।
और कपोलों के कमल! अरे ये तो यौवन से पहले'
कुछ थोड़ा-सा मांस प्राण का छिपा रहा ।

आत्मा के स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण ही मनुष्य भटकता रहता है और जीवन मरण के चक्र में पड़ा रहता है। साथ ही कवि ने कुछ व्यावहारिक शंकाएं भी प्रस्तुत की हैं। जैसे—यदि जीवन असत्य है तो यह पाप पुण्य का बन्धन क्यों है ? यदि जीवन सत्य है तो यह मिथ्या स्वप्नों में क्यों भटकता रहता है ? यदि आत्मा नित्य और निर्लिप्त है तो इन धर्म-शास्त्रों की क्या आवश्यकता है ? और यदि ईश्वर अचिन्त्य है तो उसके चिन्त्य रूप का अन्वेषण तथा उसकी आराधना और पूजा के प्रयत्न क्यों ?—

> जो सुजन असत् तो पुण्य-पाप का कील-नील बन्धन क्यों है ?
> स्वप्नों के मिथ्या-तन्तु बीच आबद्ध सत्य जीवन क्यों है ?
> हम स्वयं नित्य निर्लिप्त अरे तो क्यों श्रुम का सन्देश हमें ?
> फिर चिन्त्य रूप का अन्वेषण, यह आराधन-पूजन क्यों है ?

यहां पर यह भी उल्लेख्य है कि द्वन्द्वगीत का दर्शन प्रतिपादन शुष्क नहीं बल्कि सरस और अनुभूतिपूर्ण है। 'संसार के विरोधी प्रतीत होने वाले विभिन्न तत्त्वों में रागात्मक सामंजस्य उत्पन्न करने का हार्दिक प्रयत्न ही यहां दृष्टिगोचर होता है बुद्धि से उसके शमन का प्रयास बहुत कम। 'द्वन्द्वगीत' का दर्शन सैद्धान्तिक नहीं बल्कि व्यावहारिक है और इसी कारण सरस एवं सुगम भी।

द्वन्द्वगीत में कवि की दार्शनिक और समन्वयवादी भावना ने 'सामधेनी और 'कुरुक्षेत्र की रचना के लिए कवि के मन में बीज डाल दिये।

सामधेनी

द्वन्द्वगीत में कवि के मन में व्यष्टि और समष्टि का जो द्वन्द्व प्रारम्भ हुआ था वह 'सामधेनी में आकर अवसान प्राप्त कर लेता है। व्यष्टि पर समष्टि की पूर्ण विजय हो जाती है। कवि की भावनाएं समष्टिमय बन जाती हैं। जिस प्रकार सन्त कबीर ने अपनी विरक्ति की उद्घोषणा करते हुए कहा था कि जो घर फूंक आपणो चलै हमारे साथ' उसी प्रकार 'सामधेनी का रचयिता भी अपनी क्रांति की भावनाओं से अभिभूत होकर इसी प्रकार का आह्वान करता है—

मेरी पूँजी है आग, जिसे जलना हो बढ़े निकट आये।

'सामधेनी' का 'कुरुक्षेत्र' की रचना में महत्त्वपूर्ण योग है। जो युद्ध की समस्या कवि के मन में 'सामधेनी की' कलिंग विजय कविता लिखते समय आविर्भूत हुई थी, वही समस्या तो कुरुक्षेत्र की आधार-शिला है। यही कारण है कि 'कलिंग-विजय' और 'कुरुक्षेत्र' के कुछ पदों में बहुत ही भाव-साम्य है। जिस प्रकार महाभारत को जीत लेने के पश्चात् युधिष्ठिर के मन में भयंकर ग्लानि होती है और उन्हें अपने कृत्य पर गहन पश्चात्ताप होता है उसी प्रकार महाराज अशोक भी कलिंग को जीतने के पश्चात् युद्ध का क्या परिणाम हुआ यही सोचते हैं—

'सोचते इस बन्धु-वध का क्या हुआ परिणाम ?
विश्व को क्या दे गया इतना बड़ा संग्राम ?

और जिस प्रकार से स्वप्न में वे सुयोधन आदि की बातों को सुनते हैं तो उनका पश्चात्ताप त्रिगुणित हो जाता है। कलिंग विजय में भी कोई रहस्य शक्ति अशोक को सत्य का संदेश देती है। कहने का भाव यह है कि इन दोनों कृतियों की पृष्ठभूमि में बहुत-कुछ साम्य है। स्वयं कवि ने 'कलिंग विजय' की 'कुरुक्षेत्र' से सम्बद्ध महत्ता इन शब्दों में स्वीकार की है—'बात यों हुई कि पहले मुझे अशोक के निर्वेद ने आकर्षित किया और कलिंग-विजय नामक कविता लिखते-लिखते मुझे ऐसा लगा मानो युद्ध की समस्या सारी समस्याओं की जड़ हो। इसी क्रम से द्वापर की ओर देखते हुए मैंने युधिष्ठिर को देखा जो 'विजय' इस छोटे-से शब्द को कुरुक्षेत्र में बिछी हुई लाशों से तौल रहे थे।

कुरुक्षेत्र

'कुरुक्षेत्र' में महाभारत की प्रख्यात कथा का एक महत्त्वपूर्ण अंश ग्रहण करके उसे युगानुरूप कल्पना से मंडित किया गया है। जब महाभारत का भयानक युद्ध समाप्त हो जाता है और विजय भी युधिष्ठिर को मिल जाती है तो युधिष्ठिर का मन खिन्न हो जाता है। वे असंख्य वीरों की मृत्यु से खिन्न हो उठते हैं, उनका मन वैराग्य और विरक्ति की भावनाओं से भर

जाता है। वसुधा का राज्य उनके लिए विष-सा दाहक बन जाता है। अपने मन के इस द्वन्द्व को लेकर भीष्म पितामह के पास पहुँचते हैं जो बाणों की शैया पर लेटे हुए अपनी मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे थे।

युधिष्ठिर को वैराग्य भरी बातों को सुनकर पितामह को हँसी आ जाती है और वे अनेक प्रकार से युधिष्ठिर के द्वन्द्व का शमन करते हैं। वे युद्ध के कारणों पर प्रकाश डालते हुए बताते हैं कि युद्ध के प्रेरक तत्त्व कुशासन हैं। इसीलिए इसमें कुशासन की भर्त्सना और सुशासन की संस्तुति की गई है—

> नृपति चाहिए क्योंकि परस्पर मनुज लड़ा करते हैं।
> शासन चाहिए क्योंकि न्याय से वे न स्वयं चलते हैं।

यों तो कुरुक्षेत्र में प्रसंगवशात् अनेक विषयों की चर्चा है किन्तु इसका सर्वप्रमुख प्रतिपाद्य है साम्यवाद की स्थापना। कवि का विश्वास है कि जब तक मनुष्य को बराबर जीने के अधिकार और साधन नहीं मिल जाते तब तक समाज में सच्ची शान्ति और व्यवस्था नहीं हो सकती। इसलिये वह कहता है—

> है सबको अधिकार मृत्ति का पोषक रस पीने का
> विविध अभावों से अशंक होकर जग में जीने का।

कुरुक्षेत्र का दूसरा प्रमुख प्रतिपाद्य है विज्ञान। आज समूचा संसार इस तथ्य से अवगत है कि विज्ञान का प्रयोग निर्माण के लिए नहीं विध्वंस के लिए हो रहा है। कवि की यह धारणा है कि इसका कारण हृदय और मस्तिष्क की असन्तुलता है। इसलिए जब तक इन दोनों का समुचित समन्वय नहीं हो जाता तब तक मनुष्य के मन से हिंसा और पाशवी वृत्ति समाप्त नहीं की जा सकती—

> किन्तु है बढ़ता गया मस्तिष्क ही निःशेष
> छूटकर पीछे गया है रह हृदय का देश।
> नर मनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्यौहार
> ... रोता चीत्कार।

इस प्रकार अन्य अवान्तर प्रसंगों के साथ-साथ 'कुरुक्षेत्र' में आज के युग
ी भीषणतम युद्ध की समस्या का बहुत ही सुन्दर और व्यावहारिक समाधान
स्तुत किया गया है।

उर्वशी

उर्वशी दिनकर की नवीनतम कृति है। इसमें प्रागैतिहासिक काल के
ुरूरवा-उर्वशी-प्रेमाख्यान द्वारा मानव-मन की प्रमुखतम समस्या—काम—
ा विश्लेषण किया गया है। यही कृति हमारी पाठ्य है अतः इसके विषय
ं यहाँ अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं।

२

उर्वशी की कथावस्तु

'उर्वशी' की कथावस्तु पाँच अंकों में विभाजित है। इसका सम्यक और पूर्ण परिचय प्रदान करने के लिए इसे अंकानुसार देना ही अधिक उपयुक्त है अतः यहाँ यह इसी क्रम से दी जा रही है।

प्रथम अंक

सूत्रधार और नटी के परस्पर संवाद से उर्वशी की प्रेम-कथा प्रारम्भ होती है। सूत्रधार और नटी पुरूरवा की राजधानी प्रतिष्ठानपुर के एक मनोरम उद्यान में चाँदनी रात का रसपान कर रहे हैं। धरती के कण-कण में चन्द्रमा की रजत रश्मियाँ व्याप्त हो रही हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो आकाश चन्द्रमा की किरण रूपी करों से सम्पूर्ण धरा को अपने आलिंगन-पाश में बद्ध कर लेना चाहता है। इस प्रकार प्रकृति के उद्दीप्त आलम्बन का आधार लेकर कवि ने आगामी पुरूरवा-उर्वशी की प्रेम-कथा का संकेत दे दिया है।

मादकता के इन शान्त क्षणों में ऊपर आकाश में रशनाओं एवं नूपुरों की ध्वनि सुनाई पड़ती है। बहुत सी अप्सराएं एक साथ नीचे उतरती हुई दिखाई देती हैं। नटी का विचार है कि ये अप्सराएं फूलों की सखियाँ तथा विधु की प्रेयसियाँ हैं। सूत्रधार नटी को समझाता है कि ये न तो फूलों की सखियाँ हैं और न ही चन्द्रमा की अभिलाषाएं हैं अपितु अतृप्त प्रेम की जीवित प्रतिमाएं तथा कामासक्त मन की कामनाएं हैं। अतः ये धरती पर प्रेम का स्पर्श-ज्ञान करने के लिए आती हैं। इसी बीच तीन अप्सराएं—सहजन्या, रंभा और मेनका पृथ्वी पर उतर आती हैं। नटी और सूत्रधार वृक्ष की छाया में जाकर अदृश्य हो जाते हैं और अप्सराएं फूल, हरियाली और झरनों के पास



समवेत गान गाने के पश्चात् परियों का परस्पर वार्तालाप दिखाया गया है वास्तव में यह वार्तालाप मूल कथा तक पहुंचने की भूमिका है। मेनका प्रश्न करती है—"धरती और अम्बर में क्या भेद है?" रम्भा उत्तर देती है कि "मर्त्यलोक मरने वाला है पर सुरलोक अमर है।" मेनका पुनः रम्भा के उत्तर का स्पष्टीकरण करती हुई कहती है कि हम अमर होते हुए भी बड़ी अभागिनी हैं क्योंकि हमें व्यंजनों की गन्ध लेकर ही तृप्त होना पड़ता है। हमारी रसना भूतल-वासियों की तरह पदार्थों का रसना द्वारा मधुर स्वाद लेने में असमर्थ है। इस दृष्टि से धरावासी धन्य मान्य हैं। यद्यपि इनका जीवन अत्यन्त क्षणिक है मगर फिर भी वे अपने दो दिन के जीवन में चमक-दमक जीते हैं।

मेनका द्वारा धरती की अमित महिमा सुनकर सहजन्या मेनका पर व्यंग्य कसती है कि मुझे अब पता लगा कि तुम धरती का इतने मुक्तकंठ से यशगान क्यों कर रही हो? सम्भवतः उर्वशी की तरह तुम्हारा भी मन कहीं फँसा है? मिट्टी का मोहन कोई अन्तर में आन बसा है?

मेनका को उर्वशी की प्रेम-कथा का ज्ञान नहीं था। अतः सहजन्या बताती है कि एक दिन उर्वशी अपनी सखियों के साथ कुबेर के घर से वापिस इन्द्रपुरी को लौट रही थी। इसी बीच एक राक्षस बाज की तरह उर्वशी पर झपटा और उसे अपनी भुजाओं में समेट कर आकाश में उड़ गया। उर्वशी ने आत्मरक्षा के लिए बड़ा शोर मचाया। क्रन्दन-ध्वनि सुनकर एक राजा उर्वशी की रक्षा करने के लिए दौड़ा। राजा और राक्षस दोनों का परस्पर मल्ल-युद्ध हुआ और अन्ततोगत्वा उर्वशी को उसने उस 'काल-बन्धन' से मुक्त कर दिया मगर विधि की विडम्बना देखिए! उर्वशी उस दैत्य के बाहु-पाश से तो मुक्त हो गई लेकिन उस पुरुषरत्न के प्रेम में फंस गई। यह प्रेम एकांगी नहीं था। धरती पर राजा पुरूरवा विरह की आग से दग्ध हो रहा था और स्वर्गलोक में उर्वशी उस काम-मूर्ति की कठोर बाहों में अपना सर्वस्व समर्पित करने के लिए व्याकुल हो रही थी। रंभा उर्वशी के इस प्रेम की भर्त्सना करती है। वह कहती है—हम अप्सराओं का जन्म इसलिए नहीं हुआ कि हम किसी एक की होकर

रहें। हम अपने प्रेम की सुरभि किसी एक के लिए नहीं संजोती अपितु हम तो 'रचना की रचना' सारा जग में उमंग भरती हैं, कभी देवता कभी मनुज का आलिंगन करती हैं। अतः हमारा आवास तो न जाने कितनों की बाहों में है फिर भला कैसे हम बंध रहें किसी भी नर की दो बाहों में। इसके साथ-साथ रंभा मेनका के सम्मुख एक और प्रश्न तक उपस्थित करती है कि हम अप्सराओं को धरती पर रहने वाले पुरुषों से इसलिए भी प्रेम नहीं करना चाहिए कि वहाँ रह कर नारी को माता बनना पड़ता है। इससे उसका सारा सौन्दर्य नष्ट हो जाता है और वह अस्थि-पिंजर मात्र रह जाता है। अतः उर्वशी को चाहिये कि वह पुरुष प्रेम को अपने हृदय से उसी प्रकार उतार फेंके जिस तरह सर्प केंचुली को त्याग देता है।

मेनका रंभा के इस प्रश्न का प्रबल उत्तर देती है। वह कहती है—

> 'मां बनते ही त्रिया कहां से कहां पहुंच जाती है?
> गलती है हिमशिला, सत्य है, गठन देह की खोकर
> पर, हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर।"

इसी बीच उनकी एक अन्य सखी चित्रलेखा का आगमन होता है। वह बताती है कि जबसे उर्वशी ने पुरूरवा को देखा है वह बड़ी बेचैन है। आज मुझसे कहने लगी कि 'यदि आज कान्त का अंक नहीं पाऊँगी तो शरीर को छोड़ पवन में निश्चय मिल जाऊँगी" मुझे रोको मत। स्वर्ग में मेरे लिए कहीं भी आनन्द की किरण नहीं है। स्वर्ग तो स्वप्नों का जाल है और मैं सत्य का स्पर्श पाने के लिए बेचैन हूँ। अतः हे चित्रलेखे! मत देर लगाओ जैसे भी हो मुझे आज प्रिय के समीप पहुँचाओ। फिर भला सखियो! मैं क्या कर सकती थी? आज संध्या के समय मैंने उसे खूब अच्छी तरह फूलों से सजाया और सब की आंख बचाकर उसे सुरपुर से बाहर ले आई। धीरे-धीरे उस लोक से उतर कर मैं उसे राजा पुरूरवा के उपवन में छोड़ कर आई हूँ। यद्यपि राजा के महल में एक और भी रानी है मगर इस विषय में हमें किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिए क्योंकि राजाओं का प्रेम किसी एक

बाट पर बंध कर नहीं रहता वे तो नित्य नई सुन्दरताओं पर मरते ही रहते हैं।" और फिर उर्वशी का सौन्दर्य तो अनुपम एवं मादक है इसलिए यह (पहली पत्नी) कुल की रानी भले ही बनी रहे मगर उर्वशी तो पुरूरवा के हृदय की रानी बनकर ही रहेगी।

लेकिन एक बात है राजा की व्यग्रता एवं हृदय की बेचैनी से रानी ने यह अनुमान लगा लिया है कि उसके पति अवश्य किसी के प्रेम-पाश में फंस गए हैं इसलिए पति का प्रेम पाने के लिए चन्द्र-देवता का आराधन कर रही है।

इस प्रकार चित्रलेखा तथा अन्य अप्सराओं में संवाद करते-करते रात्रि के केवल चार प्रहर शेष रह जाते हैं। अतः वे मुक्त अम्बर में उड़ जाती हैं।

द्वितीय अंक

प्रस्तुत अंक की कथा दो तथ्यों को लेकर चली है—

क—पतिव्रता स्त्री की भक्ति और

ख—पुरुष का स्वभाव।

प्रतिष्ठानपुर के राजभवन में महारानी औशीनरी अपनी दो अन्तरंग सखियों के साथ बैठी हुई वार्तालाप कर रही है। उस अपनी सखी निपुणिका से पता चलता है कि महाराज से मिलने के लिए स्वर्ग से उर्वशी नाम की एक अप्सरा आई थी उसके साथ वे कहीं चले गये। उसका सौन्दर्य अप्रतिम था ऐसा लगता था जैसे नाग के मुख से कान्तिमान मणि बाहर निकली हो। क्या बतलाऊं वह तो नाग के मुख शान्त शोणित में आग समान वाली थी। उस चन्द्रमुख को देखकर महाराज पुरूरवा के हृदय में समुद्र के समान ज्वार भाटा सा आ गया। उन्होंने दौड़कर उसे अपनी बाहों में भर लिया और वह भी पवन के पंखों में सिमटी सिरिमल्लिका-लता-सी महाराज के हृदय में समा गई। महाराज ने उर्वशी से प्रार्थना की कि हे उर्वशी! मैं तुम्हारे मधुमत्त यौवन के सामने बिक चुका हूँ। अतः मुझे वचन दो कि तुम जीवन भर मुझे मिलन-सुख का यह अमित आनन्द देती रहोगी।

निपुणिका की यह बात सुनकर औशीनरी का हृदय सन्न रह जाता है। वह सोचती है कि 'जीते जी यह मरण झेलने से अच्छा मरना है।' परन्तु

पतिव्रता स्त्री मर भी तो नहीं सकती क्योंकि राजा मंत्रियों से कहकर गए हैं कि हम एक वर्ष पर्यन्त गन्धमादन पर्वत पर विचरण करेंगे और लौटने के उपरान्त नियम यज्ञ (पुत्रप्राप्ति-यज्ञ) करेंगे। अतः इसी धर्म की रक्षा के लिए तुम्हारा जीना परमावश्यक है। यह सुनकर औशीनरी और अधिक व्याकुल हो उठती है। वह कहती है कि ये अप्सराएँ बड़ी कठोर-हृदया होती हैं। अपने क्षणिक विनोद के लिए ये धर्म-गृहिणियों के प्राण ले लेती हैं।

निपुणिका और मदनिका औशीनरी को धीरज बंधाती हुई कहती हैं कि हे रानी ! अपने धीरज के बांध को तू मत तोड़ो। पुरुषों का स्वभाव बड़ा विचित्र होता है। उनके हृदय में जब नारी के प्रेम की प्रथम रश्मि आलोकित होती है तब दुर्लभ स्वप्न समान रम्य नारी नर को लगती है। उस समय मनुज केसरी सा पुरुष बेसुध होकर उसके चरणों में गिर जाता है। यही एक ऐसा क्षण है जब नारी पुरुष से जो कुछ भी चाहे वही वस्तु ले सकती है। वह चाहे तो—

> "उडुओं की मेखला कौमुदी का दुकूल मंगवा ले
> रचवा ले उगलियां पदों की ऊषा के जावक से
> सजवा ले आरती पूर्णिमा के विधु के पावक से॥

इस पर भी पुरुष की प्रकृति बड़ी निराली है। वह परिवर्तनशील होता है। वह नित्य नई प्रतिमाओं का प्यार पाने के लिए चंचल रहता है। मदनिका के मुख से पुरुष की इस प्रकृति का बड़ा हृदयग्राही एवं वैज्ञानिक चित्र प्रस्तुत कराया गया है—

> "नयी सिद्धि-हित नित्य नया संघर्ष चाहता है नर,
> नया स्वाद नव अध निज नूतन सुख चाहता है नर।
> ×　　×　　×
> धीवा में झूलते कुसुम पर प्रीति नहीं जगती है।
> जो पद पर चढ़ गई चांदनी फीकी वह लगती है।

मदनिका—

> "प्रियतम को रख सके निमज्जित जो अतृप्ति के रस में,
> पुरुष बड़े सुख से रहता है उस प्रमदा के वश में।"

अब औशीनरी की समझ में आता है कि प्रियतम मेरे हाथ से कैसे निकल गए। अब तो एक पतिव्रता नारी का धर्म पालन करने के लिए अपना सर्वस्व

न्यौछावर करके तृप्त करने का प्रयत्न किया। यदि वह भी अतृप्ति का भाग मनजाती था उसके प्रियतम कभी भी उसे छोड़कर नहीं जाते।

इसी बीच कंचुकी का प्रवेश होता है। वह बताता है कि जो सैनिक भट्टारक (पुरूरवा) को गन्धमादन तक छोड़ने के लिए गए थे वे सकुशल राजा को छोड़कर वापिस नगर में लौट आए हैं। महाराज ने उनके हाथ आपके लिए यह सन्देश भेजा है कि यहाँ का जलवायु बहुत सुन्दर है। यहाँ की स्वास्थ्यदायी पवन शीतल जल लाभी झीलें लम्बे-लम्बे चीड़ के वृक्ष और पहाड़ोंपर हिमराशि मुझे काफी रुचती है लेकिन एक अभाव के बिना सब कुछ सूना लगता है। हे प्रियतम! क्या कभी अपने घर में प्रेम का दीपक नहीं जलेगा? क्या यह विश्व प्रेम-शून्य प्राय नहीं बन सकेगा? अतः तुम ईश्वर से पुत्रेच्छा की प्रार्थना करती रहो। देखना तुम्हारी तप-साधना में कहीं किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होनी चाहिए। मैं भी यहाँ ईश्वर के आराधन में रत रहकर कुल-दीपक की गवेषणा करता रहूँगा।

राजा का यह विचित्र सन्देश सुनकर रानी बेबसी में मुस्कराने लगती है। वे तो अप्सरा के साथ रमण करने का ईश्वर की साधना बताएँ और मैं इस सूने भवन में पुत्रैषणा करती रहूँ? कैसा विलक्षण न्याय है? पति के संसर्ग बिना पुत्र क्या आकाश से टपक पड़ेगा? नारी कितनी असहाय है? वह अन्य किसी को अपना दुःख-दर्द भी तो नहीं बता सकती। अपनी हूक को जिह्वा पर लाना भी उसको शोभा नहीं देता। फिर भी—

"प्रियतम जहाँ भी हों बिछे उनके पथ में फूल हों।

तृतीय अंक

यह अंक उर्वशी रूपी काव्य-वृक्ष का तना है। इसमें एक ओर जहाँ काव्यत्व की निर्मल लहरियाँ हैं वहाँ दूसरी ओर दर्शन की गहन गम्भीरता भी है।

अंक का प्रारम्भ गन्धमादन-पर्वत पर बैठे हुए पुरूरवा और उर्वशी के प्रेम प्रसंग से होता है। उर्वशी अपने पुरावृत्त को दोहराती हुई कहती है कि जब मैं तुम्हारा प्रथम-दर्शन करके सुरपुर लौटी तो अहर्निश तुम्हारा चिन्तन

रूप मेरी आँखों पर छाया रहता था। समय काटते नहीं कटता था। ऐसा लगता था जैसे किसी विशाल अजगर ने इसे अपने आक्रोश में दबा लिया हो। दूसरी ओर पुरूरवा की भी यही दशा थी। वह कहने लगा कि तुम्हारे जाने पर मुझे ऐसा लगा जैसे फूट गये हों प्राण उन्हीं उज्ज्वल मेघों के संग में।" कई बार इच्छा हुई कि देवदेव से तुम्हारी भीख माँग लूँ मगर फिर मन ने टोका ' क्षत्रिय भी भीख मांगते हैं क्या ? और प्रेम क्या कभी प्राप्त होता भिक्षाटन से। लेकिन मुझे अपने प्रेम पर पूर्ण विश्वास था इसीलिए हृदय बार-बार कहता था कि तुम भूतल पर जरूर आओगी। उर्वशी ने कहा कि मैं चली तो आई मगर स्वयं चली आने में मुझे उस स्वाद की उपलब्धि नहीं हुई जो उन नारियों को होती है "जिन्हें प्रेम से उद्वेलित विक्रमी पुरुष बलशाली रण से आते जीत या कि बल सहित हरण करते हैं।" पुरूरवा इन दोनों कर्मों की भर्त्सना करता है और प्रेम की वास्तविक गहराई तक पहुँचने की इच्छा प्रकट करता है। उर्वशी यह सुनकर स्तब्ध हो जाती है क्योंकि देवों की जिस शीतलता को छोड़कर वह इस धरा पर आई थी वहां तक। चित्त में भी उसी का अंश दृष्टिगोचर होने लगा। भयाक्रान्त होकर उर्वशी कहती है—

"तन से मुझ को कसे हुए अपने दृढ़ आलिंगन में
मन से किन्तु विषण्ण दूर तुम कहाँ चले जाते हो।

पुरूरवा नहीं जानता कि मैं कहां जा रहा हूं। परन्तु इसके हृदय में इस सूक्ष्म भावना का उदय होता है कि 'रूप की आराधना का मार्ग आलिंगन नहीं है। शारीरिक सौन्दर्य से परे हटकर जब मैं तुम्हें एकाग्र मन से देखता हूं तो मेरे भाव व्यष्टि से समष्टि की ओर चल पड़ते हैं और त्रिलोक में मुझे केवल तुम्हारे ही सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। उस समय यह सिंह पुरुष के समक्ष शक्ति के रहते हुए भी निरुपाय होकर गिर जाता है लेकिन तुम यह मत समझना कि प्रेम की इस व्यापकता के कारण मैं 'तुम्हें छोड़कर आकाश में विचरण करूंगा' क्योंकि मैं मरणशील प्राणी हूं। देवत्व का संतोष एवं शीतलता मेरे लिए दुष्प्राप्य है। क्योंकि—

"देवताओं की नदी में ताप की लहरें न उठतीं
किन्तु नर के रक्त में ज्वालामुखी हुंकारता है"

पुरू के चित्त में देवत्व की चाह देखकर उर्वशी और अधिक बेचन हो उठी है क्योंकि देवों की जिस शीतलता का छोड़कर वह नर के उत्तप्त रुधिर को अपना समर्पण करने आयी थी यदि वह भी देव-लालसा में डूब गया तो जगती पर मेरा आना व्यर्थ हुआ। अतः उर्वशी पुरूरवा के चित्त में इस धारणा का उपस्थापन कराना चाहती है कि तुम में मनुजत्व और देवत्व दोनों ही निवास करते हैं—

'यह तो नर ही है एक साथ जो शीतल और ज्वलित भी है,
मन्दिर में साधक व्रती पुष्प वन में कंदर्प ललित भी है।

इस पर भी यदि तुम अपनी मधुर कांति से मुझे मोहित कर सोमे तो फिर तुम मनुज नहीं, देवता हो जाओगे। पुरूरवा बुद्धिवादी बन कर उर्वशी के इस कथन पर विचार करना चाहता है। उर्वशी 'रक्त' के सामने बुद्धि की हीनता सिद्ध करती है—

"रक्त बुद्धि से अधिक बली है और अधिक ज्ञानी भी
क्योंकि बुद्धि सोचती और शोणित अनुभव करता है।
गिरी बुद्धि की निर्मितियाँ निष्प्राण हुआ करती हैं
चित्र और प्रतिमा इनमें जो जीवन लहराता है
वह तूलों से नहीं वज्र पाषाणों में आया है
कलाकार के अन्तर के हिलकोरे हुए रुधिर से।"

अतः इस वैराग्यवादी भावना को छोड़कर 'रक्त की भाषा' को पढ़ो और इस पर पूर्ण रूप से विश्वास करो।

पुरूरवा इस बात को स्वीकार करता है कि रक्त बुद्धि से अधिक बली है लेकिन रुधिर एवं त्वचा का आनन्द ही सब कुछ नहीं है। हमें इससे भी ऊपर उठकर एक स्थान पर जाना है जहाँ न उठता प्रश्न न कोई शंका ही जगती है। अतः देह-धर्म से ऊपर उठकर हम अंतरात्मा तक जाना चाहिए। मगर यह पथ बड़ा दुःसाध्य है क्योंकि—

"पहले तो मधुसिक्त भ्रमर के पंख नहीं खुलते हैं,
और खुले भी तो उड़ान आधी ही रह जाती है
नीचे उसे खींच लेता है आकर्षण मधुवन का।

अतः यह प्रेम ही नर की उच्च प्रगति में बाधक है। उर्वशी से यह नहीं देखा जाता। वह नर के समन्वित कठोर आलिंगन-पाश की भूखी है। इसलिए वह अपने प्रभो से करबद्ध याचना करती है—

"नर, मैं बाधक नहीं, जहाँ भी रहो भूमि या नभ में
वक्षस्थल पर इसी भाँति मेरा कपोल रहने दो।
कसे रहो बस इसी भाँति उर-पीड़क आलिंगन में
और जलाते रहो अधर-पुट को कठोर चुम्बन में।

फिर पुरुरवा का विराग से ध्यान मोड़ने के लिए उद्दीपन रूप में रात्रि का उल्लेख करती है। इस प्रकार पार्थिव एवं आत्मिक प्रेम में काफी देर तक संघर्ष चलता रहता है। पुरुरवा के मन में एक ओर देवत्व की ऊँची-ऊँची कल्पनाएँ, दूसरी ओर उफनाते हुए रक्त की अप्रतिम पुकार और पग-पग घेरने वाली ठोस वास्तविकता अभेद्य चट्टानें जो हुक्म नहीं मानतीं जो पिघलना नहीं जानतीं —उठती हैं। वह हवा और पत्थर के दो छोरों के बीच भटकने लगता है और झटका खाकर, कभी इस ओर और कभी उस ओर को मुड़ जाता है—

कभी प्रेम ! कभी सन्यास !

और संन्यास प्रेम को बर्दाश्त नहीं कर सकता न प्रेम संन्यास को, क्योंकि प्रेम प्रकृति और परमेश्वर संन्यास है और मनुष्य को सिखलाया गया है कि एक ही व्यक्ति परमेश्वर और प्रकृति दोनों को प्राप्त नहीं कर सकता —

उर्वशी पूछती है क्या ईश्वर और प्रकृति दो हैं ?
क्या ईश्वर प्रकृति का प्रतिपक्ष है उसका प्रतियोगी है ?
क्या दोनों एक साथ नहीं चल सकते ?
क्या प्रकृति ईश्वर का शत्रु बनकर उत्पन्न हुई है ?
अथवा क्या ईश्वर ही प्रकृति से रुष्ट है ?"

काफ़ी विस्तार से उर्वशी इन प्रश्नों का समाधान करने का प्रयत्न करती है तथा पुरूरवा के चित्त में प्रवृत्ति और सन्यास में अभेद स्थापित करने का प्रयत्न करती है। उसका विचार है कि परमज्योति त्रिलोक के स्थूल और सूक्ष्म—दोनों तत्वों में विद्यमान है। अतः मनुष्य कर्म करते हुए भी उसको प्राप्त कर सकता है।

इस प्रकार दोनों में भावाश्रित उद्गारों का यह क्रम काफ़ी देर तक चलता रहता है। लेकिन फिर भी पुरूरवा के लिए उर्वशी और उसके विचार रहस्यमयी बने रहते हैं। उसे लगता है कि उर्वशी से उसका जन्म जन्मान्तर का सम्बन्ध है। वे कहते हैं—

साथ तुम जहाँ-जहाँ जाओगी,
साथ चलूँगा मैं सुगन्ध से खिंचे हुए मधुकर-सा।

प्रमालाप के इन मधुरिम क्षणों में देखते-देखते एक वर्ष व्यतीत हो जाता है। यह वर्ष ऐसे कट गया जैसे अभी दो पल ही बीते हों। पुरूरवा यज्ञ-हेतु राजभवन जाने के लिए तत्पर हैं अतः अनिश्चित काल के लिए युगल प्रेमी एक दूसरे से अलग हो जाते हैं।

चतुर्थ अंक

इस अंक में च्यवन-सुकन्या के आश्रम में पुरूरवा-उर्वशी के पुत्र आयु का पालन-पोषण होता हुआ दिखाया गया है। आयु का जन्म तब हुआ था जब उस के पिता उसकी माँ से अलग रहकर यज्ञ कर रहे थे। उर्वशी को ऋषि भरत का शाप था कि तुझे पति और पुत्र दोनों एक साथ नहीं मिल सकते। शाप का कारण यह था कि एक बार देवलोक में उर्वशी पुरूरवा के प्रेम में ध्यानावस्थित थी। इसी बीच भरत-ऋषि भिक्षा के लिए उर्वशी के द्वार पर आये। भरत के बार-बार पुकारने पर भी वह ध्यान-समाधि से अलग हटकर उनके आदर सम्मान को नहीं उठी। क्रोध में आकर भरत ने शाप दिया कि हे उर्वशी! तू जिसके ध्यान में इतनी डूबी हुई है कि तुझे मेरे आगमन का भी ध्यान नहीं है तो जा, तू उसी के लिए मर्त्यलोक में अपने प्रेमी के साथ प्रेम क्रीड़ा करके धरती के प्रेम की पीड़ा सह। मगर ध्यान रख तुझे प्रेमी तथा पुत्र में से एक का ही सुख उपलब्ध हो सकता है। यह सुख भी तू केवल तब तक

पा सकेगी जब तक तेरे प्रियतम तुम दोनों के परस्पर संयोग से जनित पुत्र को नहीं देखते। जिस दिन वे पुत्र के दर्शन कर लेंगे उसी क्षण तुम्हे अपने पति तथा पुत्र दोनों को छोड़कर इंद्रलोक में पुनः आ जाना पड़ेगा। इसलिए पुत्रोत्पत्ति का समाचार पति को नहीं दिया था और उसे च्यवनाश्रम में रख छोड़ा था।

च्यवन ऋषि बहुत बड़े तपस्वी थे। एक बार वे नर्मदा तट पर घोर तप करते हुए बहुत दिनों तक समाधिस्थ रहे। इनके शरीर को दीमकों ने ढक लिया, केवल आँखें चमकती रहीं। उनके इस आश्रम में एक बार राजा शर्याति की कन्या सुकन्या पहुँची और इनकी आँखों को जुगनू समझकर कौतूहल से ही मुनिवर की पलकें बींध दीं। ऋषि उसके इस व्यवहार से क्रुद्ध हो उठे। उनके क्रोध को देखकर सुकन्या तनिक भी नहीं हिली और प्रायश्चित करती हुई आँखें झुकाकर खड़ी रही। सुकन्या का सौम्य-मुख देखकर ऋषि का क्रोध हवा हो गया। उन्होंने समझा कि सुकन्या को परब्रह्म ने प्रसन्न होकर सिद्धि के रूप में मेरे पास भेजा है। वे सुकन्या से जीवन संगिनी बनने की याचना करने लगे। सुकन्या ने ऋषि के पवित्र प्रेम से प्रभावित होकर उन्हें अपना पति स्वीकार कर लिया। इस प्रसंग से सुकन्या के मुख से तथा-कथित प्रेम-संन्यास का समन्वय दिखाया गया है। संन्यासी होते हुए भी जब च्यवन सुकन्या को अपनी भुजा-पाश में बद्ध करने के लिए लालायित हो उठते हैं तब हमें यहाँ प्रकृति और संन्यास का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध दृष्टिगत होता है।

सुकन्या को जब उनकी ही सखी चित्रलेखा से उर्वशी के शाप का ज्ञान होता है, तो वह बड़ी चिन्तित होती है। वह उर्वशी से कहती है कि भरत ने यह बड़ा भयंकर शाप दिया है क्योंकि—

'कौन भामिनी है जो पति, पुत्र और प्रियतम में
किसी एक को लेकर सुख से आयु बिता सकती है?
कौन पुत्रवती तज सकती है पति के लिए तनय को
कौन सती सुत के निमित्त स्वामी को त्याग सकेगी।

इस प्रकार चित्रलेखा-सुकन्या, सुकन्या-उर्वशी एवं उर्वशी-चित्रलेखा के बीच भरत के शाप, मातृत्व तथा शाप की कठोरता के विषय में काफी संवाद होता है। उर्वशी इस बात को स्वीकार करती है कि माता वह नहीं है जो पुत्र को जन्म देती है अपितु असली मायने में माता वही है जो छाती से लगाकर बच्चे का पालन-पोषण करती है। अतः आयु की माता उर्वशी नहीं सुकन्या ही है क्योंकि जन्म देने वाले से पालने वाला बड़ा है।

पुरूरवा के पास जाने से पूर्व सुकन्या उर्वशी से आयु के भविष्य के बारे में पूछती है। उर्वशी अपने स्वार्थ को पीछे हटाकर सुकन्या को यह पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करती है कि जब तुम उचित समझो तब आयु को उसके पिता के पास भेज देना। मेरे ऊपर जो भी पहाड़ टूटेगा उसे एक न एक दिन तो झेलना ही है क्योंकि अपने पुत्र के सुखमयी भविष्य को मैं अपने सुख के लिए गहन गर्त में नहीं डाल सकती।

सुकन्या उर्वशी को धीरज बंधाते हुए कहती है कि हे सखि! तुम प्रियतम के पास रहकर आयु की चिन्ता मत करना। यह मेरी आँखों का तारा है। इस आश्रम में मैं बच्चे को किसी प्रकार भी तुम्हारा अभाव नहीं होने दूँगी। शैशवावस्था में यह पशु-पक्षियों के साथ आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करेगा, बड़ा होकर गौओं को चराने जाएगा, यज्ञ-वेदी पर बैठ कर मन्त्रादि का उच्चारण करके पण्डित हो जाएगा। अतः —

> 'शस्त्र शास्त्र-निष्णात धर्म से बली, विकसित मन से
> जब अपना यह आयु पुत्र कैशोर प्राप्त कर लेगा
> पहुँचा दूँगी स्वयं इसे मैं लाकर राजभवन में।
> तब तक का पीयूष पान कर तू सुखमयी वहीं का
> चिन्ता रहित अशोक आयु की कोई बात नहीं है।

इस प्रकार आयु की तरफ से निश्चिन्त होकर उर्वशी प्रिय के आलिंगन में बंधने के लिए राजभवन में चली जाती है।

पंचम अंक

उर्वशी राजा पुरूरवा के पास चली जाती है। वहाँ आए हुए उसे बारह वर्ष हो गए। एक रात राजा को एक विचित्र स्वप्न आता है। पुरूरवा इस

स्वप्न को देखकर बड़े व्यग्र हो उठते हैं। राज-दरबार लगाकर इसे अपने महामात्य तथा राज-ज्योतिषी विश्वमना के सामने कहते हैं। स्वप्न यों था—

'प्रतिष्ठानपुर में काफी शोर मचा हुआ है। पुरवासी कहीं से वट-वृक्ष का नया पौधा लाए हैं और उसे कच्चे दूध से पूज रहे हैं। मैं भी कुश-कलश लेकर उसकी अर्चना-हेतु जाता हूं मगर कोई भी नगर-निवासी मेरी तरफ नहीं देखता। निराशा से भरकर मैं हाथी पर बैठकर प्रतिष्ठानपुर से बाहर किसी जंगल में चला जाता हूं। वन में हाथी से उतर कर मैं जब इधर-उधर देखता हू तो इसी बीच हाथी लोप हो जाता है। निर्जन वन मे भटकता हुआ मैं च्यवन ऋषि के आश्रम में पहुंच जाता हू। वहां मैंने एक ऋषिकुमार को देखा। उसका व्यक्तित्व बड़ा भव्य था। उसे अपने अंक में समेट लेने को मैं व्याकुल हो उठा लेकिन जैसे ही मैंने उसे पकड़ने के लिए अपने कदम बढ़ाए, वैसे ही वह न जाने किस अंधकार मे समा गया। फिर मुझे हर लता-कुंज में मेरी परम प्रियतमा उर्वशी का मुख दिखाई देने लगा, मगर जिस तरफ भी स्पर्श करने के लिए बढ़ता था उसी तरफ वह कुसुम-आनन पुष्प-पत्रों की हरियाली में छिप जाता था। इस प्रकार चकित विस्मित और भयभीत होकर मैं वनवीथिका को छोड़कर उर्ध्वगगन पर पहुंच जाता हू और प्रातः शंख सुनने तक चक्कर-सा खाता हुआ तैरता रहता हू।

पास में बैठी ओशीनरी इस स्वप्न को सुनकर प्रसन्न हो जाती है, क्योंकि उसके समक्ष सम्पूर्ण पुरावृत्त चित्रपट के समान आँखों के सामने घूमता हुआ दिखाई देता है। ज्योतिषी विश्वमना अंक-गणना करने के पश्चात् राजा को फरमादेश देते हैं कि मेरी गणना के अनुसार—

आज संध्या तक
आप प्रव्रजित हो जाएंगे अपने और समय को
राज-पाट सब पाप सौंप अपना किरीट पहनाकर।

फलादेश देने पर विश्वमना स्वयं चकित हैं कि जब राजा के कोई पुत्र ही नहीं है तो सन्ध्या तक कौन राजा बनेगा और राजा पुरूरवा कैसे प्रव्रजित हो जाएंगे?

इसी बीच सुकन्या 'आयु' को लेकर दरबार में उपस्थित हो जाती है और सम्पूर्ण रहस्य का उद्घाटन कर देती है। शाप-वश उर्वशी धरती को छोड़-सुरपुर में चली जाती है। पुरूरवा उर्वशी को अपने पास न पाकर बेचैन हो उठता है। सुकन्या भरत-शाप की घटना बताकर राजा को शान्त करने का प्रयत्न करती है, मगर पुरूरवा का चित्त अशांत हो जाता है। वह सुरलोक को भस्मीभूत करने के लिए अपने स्यन्दन को सज्जित करने की आज्ञा देता है। राजा के इस भयंकर रौद्र रूप को शान्त करने के लिए भविष्यवाणी होती है। उसे आत्मज्ञान होता है कि देवता मनुष्य का श्रेष्ठ रूप हैं तो क्या तुम अज्ञान-प्रवृत्ति के द्वारा अपनी ही श्रेष्ठ-प्रवृत्ति का हनन करना चाहते हो।

धीरे-धीरे पुरूरवा का चित्त प्रतिक्रिया की भावना से शान्त हो जाता है मगर उर्वशी के बिना इस राजभवन में अपने आपको रखने में असमर्थ देखकर 'आयु' के मस्तक पर किरीट रखकर तपस्या वनों में चला जाता है।

राजभवन में यह सब कुछ देखते-देखते ही सम्पन्न हो गया। जब पुरूरवा की रानी औशीनरी को इस सम्पूर्ण घटना का पता लगता है तो वह स्तम्भित हो जाती है। पति का बिना किसी पूर्वसूचना के सदा के लिए चला जाना उसे बहुत अखरता है मगर नारी की विवशता को देखकर वह बेचारी शान्त हो जाती है और आयु को ही अपने अंक से लगा कर धन्य हो जाती है।

उर्वशी के प्रमुख पात्र

प्रबन्ध रचना में पात्र मेरुदण्ड के समान होते हैं। काव्य, कथा, कल्पना और भाषा की आधारशिला इन्हीं पर टिकी हुई है। पात्र तो एक तैल-बिन्दु के समान है जो सम्पूर्ण काव्य-सरोवर में छाया रहता है।

पात्र भी कई प्रकार के होते हैं। जैसे—नायक प्रतिनायक (खलनायक), नायक के सहयोगी पात्र नायिका प्रतिनायिका (खलनायिका) तथा नायिका के सहयोगी पात्र। उपरोक्त सभी पात्रों का आश्रय लेकर कथा आगे बढ़ती है। नायक अथवा नायिका काव्य में आए हुए सभी पात्रों का संचालक होता है।

उर्वशी के प्रमुख पात्र हैं—उर्वशी पुरूरवा औशीनरी और सुकन्या। इनके अतिरिक्त नटी सूत्रधार रंभा, मेनका सहजन्या मदनिका तथा चित्रलेखा का भी अपने-अपने स्थान पर अच्छा महत्त्व है। ऋषि च्यवन तथा ऋषि भरत प्रच्छन्न अथवा सूक्ष्म रूप में हमारे सम्मुख आते हैं मगर कवि उनके विषय में जो कुछ भी किसी अन्य पात्र से कहलाता है वह उनके चरित्र को पूर्णतः स्पष्ट करने में समर्थ है।

प्रमुख पात्रों का संक्षिप्त परिचय एवं उनकी चरित्रगत विशेषताएं प्रकार हैं—

उर्वशी

उर्वशी इस काव्य की संचालिका कथा का प्राण कवि के मानस में काम की विस्तृत परिभूमि एवं नारी का प्रतीक है।

पौराणिक कथाओं के आधार पर उर्वशी इन्द्रलोक की अप्सरा के दरबार की प्रमुख नर्तकी है। अप्सरा होने के कारण इसका अनुपम एवं लावण्य है। यह अनिंद्य सुन्दरी है। यह मन्मथ नरनार के लिए कोई स्वरूपा स्त्री के मन की कलित कामना

के हृदय में राग जगाने वाली, देवों के मधुमय शोणित में आग लगाने वाली, रति की साकार प्रतिमा, रमा का साकार स्वरूप, विधु की प्राणवती, काम के कर की आरक्त-शिखा तथा सम्पूर्ण भूतल के प्राणियों की तृषा है। कवि ने स्वयं उर्वशी के मुख से ही उसकी अनुपम सुन्दरता का आख्यान करवाया है—

पाषाणों के अनघड़ अंगों को काट-छाँट
मैं ही निविड़-स्तनता, मुष्टि-मध्यमा
मदिर-लोचना काम-कुंठिता नारी
प्रस्तरावरण कर भंग
तोड़ तम को उन्मत्त उभरती हूँ।

इस मदिर-लोचना का प्रेम आर्यावर्त के अधिपति पुरूरवा से हो जाता है। प्रेम की भूमिका क्या थी इसमें पर्याप्त मतभेद है। दिनकर का कथन है कि एक बार उर्वशी अपनी सखियों के साथ कुबेर घर से निकल रही थी कि कोई दैत्य उसे बाज की तरह झपट कर ले जाने लगा। उर्वशी की त्राहि त्राहि सुनकर राजा पुरूरवा वहाँ आ पहुँचा। उसने उर्वशी को दैत्य से तो मुक्त कर दिया लेकिन स्वयं उसके मधुर प्रेम-पाश में बद्ध हो गया। उर्वशी भी पुरूरवा को देख कर व्याकुल हो गई। स्वर्गलोक में उर्वशी को केवल इसी का ध्यान रहता। अहर्निश इसी पुरुष रत्न में अवस्थित रहने के कारण उर्वशी को ऋषि भरत के शाप को सहन करना पड़ा और वह प्रियतम के अंक में आनन्द भोग करने के लिए धरती पर आ गई।

चूँकि उर्वशी स्वर्ग-लोक की अप्सरा है इसलिए धरती पर आकर उसके हृदय में पुरुष के गाढ़ालिंगन में आने की उत्कट अभिलाषा, अपरिमित वासना इच्छा तथा कामना है। वह चिरकाल तक अपने प्रेमी के भुजपाश में बंधे रहना चाहती है—

वक्षस्थल पर, इसी भाँति मेरे कपोल रहने दो!
कसे रहो बस इसी भाँति उर-पीड़क आलिंगन में
और जलाते रहो अधर-पुट को कठोर [illegible]न से।

इस प्रकार जहाँ वह 'काम, रसना, प्राण, त्वक तथा श्रोत्र की कामनाओं का प्रतीक है वहाँ वह मानिनी भी है। पुरूरवा के पास वह स्वयं चली तो आई मगर इस बात का उसे दुःख बहुत ज्यादा है। उसका सिद्धान्त तो यह है कि पुरुष स्वयं उसके द्वार पर आये और उसे ले जाए। इसी में उसका गौरव है—

वही धन्य जो मानमयी प्रणयी के बाहु वलय में
खिंची नहीं विकल तरंग पर चढ़ी हुई आती है।

नारी की स्वाभाविक वृत्ति है कि वह बुद्धि की अपेक्षा भावना पर बल देती है। रूप ही उसके लिए सर्वस्व है। वैराग्य अथवा बुद्धि उसके सामने हेय है। जब कभी पुरूरवा मानवलोक से परे हट कर ज्ञान के उर्ध्वलोक पर चढ़ना चाहता है तभी वह 'रक्त' की महिमा का गान करके उसे धरती के क्षणिक सौन्दर्य पर ले आती है —

रक्त बुद्धि से अधिक बली है और अधिक ज्ञानी भी
क्योंकि बुद्धि सोचती और शोणित अनुभव करता है।
निरी बुद्धि की निर्मितियाँ निष्प्राण हुआ करती हैं
चित्र और प्रतिमा इनमें जो जीवन लहराता है
वह कूची से नहीं पत्र पाषाणों में आया है
कलाकार के अन्तर के हिल्लोरे हुए रुधिर से।

उर्वशी भावना की साकार प्रतिमा है। बुद्धि अथवा विराग का नाम सुनकर तो उसकी भृकुटि तन जाती है।

उर्वशी प्रकृति की परम पुजारिन है। दार्शनिक शब्दावली में उसकी मान्यता यह है कि मनुष्य प्रेम और संन्यास (परमेश्वर) दोनों को प्राप्त कर सकता है। परमेश्वर और प्रकृति दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। ये दोनों प्रतियोगी या प्रतिद्वन्द्वी नहीं हैं और न ही इन दोनों में परस्पर किसी प्रकार की शत्रुता है। दोनों सत्य के एक ही लक्ष्य पर पहुँचने का प्रयास करते हैं लेकिन संन्यास का मार्ग तो कृपाण की धार के समान जटिल है और प्रवृत्ति अर्थात् प्रेम का मार्ग नवनीत के समान कोमल तथा मधुर है। अतः पुरुष को चाहिए कि प्रकृति से ही नेह लगाकर उस परब्रह्म को प्राप्त करे—

" जिसे ईश्वर हम सब कहते हैं
शत्रु प्रकृति का नहीं न उसका प्रतियोगी प्रतिबल है

× × ×

ईश्वरीय जग भिन्न नहीं है इस गोचर जगती से
इसी अपावन में अदृश्य वह पावन सना हुआ है।

× × ×

प्रकृति नहीं माया माया है नाम भ्रमित उस धी का,
दोनों जीभ सर्प-सी जिसकी जिह्वा फटी हुई है
एक जीभ से जो कहती कुछ सुख अर्जित करने को
और दूसरी से बाकी का भजन सिखलाती है।

× × ×

प्रकृति नित्य आनन्दमयी है जब भी भूल स्वयं को
हम निसर्ग के किसी रूप (नारी नर या फूलों) से
एक तान होकर खो जाते हैं समाधि निस्तल में
खुल जाता है कमल धार मधु की बहने लगती है
दैहिक जग को छोड़ कहीं हम और पहुँच जाते हैं
मानो मायावरण एक क्षण मन से उतर गया हो।

उर्वशी जहाँ प्रेम की सच्ची साकार प्रतिमा है वहाँ वह सच्चे अर्थों में ननी भी है। यद्यपि वह अपने मातृ-कर्तव्य का पालन नहीं कर पाती किन्तु फिर भी उसके भीतर भी मातृत्व की स्वच्छ पीयूष-धारा बहती है। वह न्य अप्सराओं की तरह नहीं है जो केवल दूसरों को रिझा रिझा कर मुक्त हार करने वाली हैं। 'उर्वशी' मेनका के इन वाक्यों का प्रतिरूप है—

माँ बनते ही त्रिया कहाँ से कहाँ पहुँच जाती है
गलती है हिमशिला सत्य है गठन देह की खोकर
पर हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर।

उर्वशी द्वारा अपनी सखी चित्रलेखा से कही गई निम्न पंक्तियाँ ही उसके ातृत्व के अमित रूप को प्रतिभासित करने में समर्थ हैं—

केवल भ्रूण-वहन केवल प्रसवन मातृत्व नहीं है
माता वही पालती है जो शिशु को हृदय लगा कर।

इस प्रकार कवि दिनकर ने अप्सरी उर्वशी को केवल मदिर-लोचना तक ही सीमित नहीं रखा अपितु उसमें नारी धर्म मातृत्व एवं गृहिणी के गुणों का आत्मसात करके उसे सर्वांग सुन्दरी बनाकर कविता के सांचे में ढाला है।

पुरूरवा

वेदों एवं पुराणों के आधार पर पुरूरवा आर्यावर्त का अधिपति था। प्रतिष्ठानपुर इनकी राजधानी थी। इला का पुत्र होने के कारण इसे इला पुत्र तथा इनके वंश को ऐलवंश के नाम से पुकारा गया—

"इलापुत्र' मैं पुरु वर्षों मैं नमस्कार करता हूं।"
× × ×
देवि! किन्तु यह ऐलवंश क्या आगे नहीं चलेगा?

इलापुत्र पुरूरवा पुरुष का प्रतीक है। दिनकर जी की दृष्टि में तो पुरूरवा सनातन नर का प्रतीक है और उर्वशी सनातन नारी का। पुरूरवा शब्द का अर्थ है वह व्यक्ति जो नाना प्रकार का रव करे नाना ध्वनियों से आक्रान्त हो। पुरूरवा रूप रस स्पर्श गन्ध और शब्द से मिलने वाले सुखों से उद्वेलित (होने वाले) मनुष्य (का प्रतीक है)। पुरूरवा द्वन्द्व में है क्योंकि द्वन्द्व में रहना मनुष्य का स्वभाव है। मनुष्य सुख की कामना भी करता है और उससे आगे निकलने का प्रयास भी।'

संक्षेप में देखा जाय तो पुरूरवा की यही चारित्रगत विशेषताएँ हैं जो दिनकर जी ने अपनी भूमिका में व्यक्त करदी हैं। फिर भी उसका विस्तृत उल्लेख अपेक्षित है।

पुरूरवा नर पुंगव है। उसके शारीरिक एवं मानसिक सौन्दर्य का अत्यन्त सशक्त वर्णन सखी चित्रलेखा ने सौदामिनी के सम्मुख किया है—

'कार्तिकेय सम शूर देवताओं के गुरु-सम ज्ञानी
रवि-सम तेजवन्त सुरपति के सदृश प्रतापी मानी
जलद-सदृश-औघड़ी ज्योत्स्ना-मुख जलद निज त्यागी
कुसुम-सदृश मधुमय मनोज्ञ, कुसुमायुध-से अनुरागी।

पुरूरवा को स्वयं भी अपने सौन्दर्य शक्ति एवं तेज का ज्ञान है। आ
श्लाघा करना मनुष्य की एक विशेषता होती है जिसे कवि ने पुरूरवा के मु
से उर्वशी के सम्मुख कहलवाया है—

'यह शिला-सा वक्ष ये चट्टान-सी मेरी भुजाएँ
सूर्य के आलोक से दीपित समुन्नत भाल
मेरे प्राण का सागर अगम उत्ताल उच्छल है।
सामने टिकते नहीं वनराज पर्वत डोलते हैं,
काँपता है कुंडली मारे समय का व्याल
मेरी बाँह में मारुत गरुड़ गजराज का बल है।
मर्त्य मानव की विजय का तूर्य हूँ मैं
उर्वशी! अपने समय का सूर्य हूँ मैं।
अन्ध तम के भाल पर पावक जलाता हूँ
बादलों के सीस पर स्यन्दन चलाता हूँ।'

परन्तु जो पुरुष जितना अधिक तेजस्वी अभिगामी होता है जिसकी धमनियों में जितना अधिक तीव्रगति से रक्त प्रवाहित होता है और जो सिंह से बाँहें मिलाकर खेल सकता है वह पुष्प के समान नारी के सामने उतना ही अधिक विनत एवं निरुपाय हो जाता है। मदनिका के शब्दों में—

अमित प्रताप वीर नर को अप्रतिम तेज बल भारी
बड़ी सहजता से वश करती उन्हें रूपसी नारी।

पुरूरवा जैसा वीर भी गिरिमल्लिका की लता के समान कोमलांगी नारी उर्वशी के प्रेम पाश में बद्ध हो जाता है। पुरूरवा के पहले भी एक पत्नी है जिसका नाम औशीनरी है। औशीनरी पतिव्रता स्त्री है। उसने अपना सब कुछ अपने पति को समर्पित कर दिया। मगर पुरुष का यह स्वभाव है कि जो वस्तु उसे एक बार पूर्ण रूप से प्राप्त हो जाती है उसके प्रति वह विरक्त हो जाता है और वह नयी वस्तु की खोज में रत रहता है। पुरुष की इसी विशेषता का वर्णन कवि ने पुरूरवा के चरित्र में किया है।

हाथ में आयी हुई वस्तु से इसको तोष नहीं है
जीत लिया जिसको उससे आगे सन्तोष नहीं है

× × ×

नयी सिद्धि हित नित्य नया संघर्ष चाहता है नर
नया स्वाद नव रूप नित नूतन हर्ष चाहता है नर।

× × ×

ग्रीवा में झूलते कुसुम पर प्रीति नहीं जगती है।
जो पद पर चढ़ गई चांदनी फीकी वह लगती है।

लेकिन—

प्रियतम को रख सके निमज्जित जो अतृप्ति के रस में
पुरुष बड़े सुख से रहता है उस प्रमदा के वश में।

जब तक पुरूरवा को उर्वशी का सान्निध्य नहीं मिला तब तक वह उसके हाथ का लीला कमल बना रहता है मगर जैसे ही वह उर्वशी के प्रेम-रस का पान कर लेता है वैसे ही उसका मन उर्वशी से विरत होकर विवेक ज्ञान ऊर्ध्व-लोक तथा संन्यास की दिशा में अग्रसर होने लगता है।

इस प्रकार पुरूरवा के हृदय में संघर्ष एवं अन्तर्द्वन्द्व का उदय है। कभी वह भावना के बल पर नारी के सौन्दर्य पर मर मिटना चाहता है—

मैं तुम्हारे बाण का बींधा हुआ खग
वक्ष पर धर शीश मरना चाहता हूं।
मैं तुम्हारे हाथ का लीला कमल हूं
प्राण के सर में उतरना चाहता हूँ।

और कभी—

'रक्त की उत्तप्त लहरों की परिधि के पार
कोई सत्य हो तो
चाहता हूं, भेद उसका जान लूं
पन्थ हो सौन्दर्य की आराधना का व्योम में यदि
शून्य की उस रेख को पहचान लूँ।'

इन मुख्य विशेषताओं के साथ-साथ उर्वशी में पुरूरवा की कुछ अन्य विशेषताएँ भी मिलती हैं जैसे—

(क) पुरूरवा पत्नीव्रती न होकर प्रेमी है। अपनी महारानी का उसे तनिक ख्याल नहीं। इतना आदर्श राजा होकर भी जब वह उर्वशी को लेकर गन्धमादन पर्वत पर चला जाता है तो वहां से सैनिकों के हाथ झूठा संदेश तक भिजवाने में भी नहीं हिचकिचाता—

करती रहें प्रार्थना त्रुटि हो नहीं मम शासन में
जहां रहूं मैं भी रत हूं ईश्वर के आराधन में।

(ख) पुरूरवा एक आदर्श राजा है अपनी तृष्णा की तृप्ति के लिए उसने कभी भी दूसरे देश की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं किया। वह सदा अपने ही देश की समृद्धि का आकांक्षी रहा है—

नहीं बढ़ाया कभी हाथ पर के स्वाधीन मुकुट पर
न तो किया संघर्ष कभी पर की वसुधा हरने को।

(ग) पुरूरवा उर्वशी का सच्चा प्रेमी है। उसने उर्वशी में ही ईश्वर के रूप को देख लिया है। अतः उसके अभाव को वह सहन नहीं कर सकता। जब सुकन्या के द्वारा उसे यह ज्ञात होता है कि उर्वशी देवलोक में चली गई तो उस समय रौद्र रस-पूर्ण कहे गए उसके शब्द दर्शनीय हैं। आकाशवाणी के द्वारा उसके चित्त की रौद्रता तो भले ही शान्त हो जाती है मगर वह राजमहल फिर भी उसे काटने को आता है। अतः तत्क्षण राजभवन का त्याग करके वह संन्यास धारण कर लेता है।

औशीनरी

औशीनरी महाराज पुरूरवा की महारानी है। दिनकर जी ने औशीनरी के रूप में ऐसी नारी का चित्रण किया है जो पति को सब कुछ देकर भी दुखी रहती है उस पर संकटों का पहाड़ क्यों न टूट पड़े लेकिन कभी उफ तक नहीं करती, अपने पति को कुमार्ग पर जाते देख कभी मुख नहीं खोलती और मौन धारण किए रहती है। संक्षेप में औशीनरी के व्यक्तित्व की निम्न विशेषताएँ हैं—

(क) औशीनरी पतिव्रता स्त्री है। पति की आज्ञा मानना ही पतिव्रता स्त्री का धर्म है। औशीनरी भी अपने पति के एक-एक संकेत पर अपना जीवन तक बलिदान कर सकती है। उसे पता है कि पति मुझसे विमुख होकर उर्वशी के साथ गन्धमादन पर्वत चले गए हैं। वह मरना चाहती है, मगर सखियों के साथ औशीनरी को समाचार मिलता है कि अगले वर्ष हम लौटकर पुत्रेष्टि यज्ञ करेंगे अतः ईश्वर की पूजा-साधना में लगी रहें। औशीनरी इस आज्ञा को तुरन्त शिरोधार्य करती है। ऐसे समय में औशीनरी जैसी गृहिणियों की विवशता वर्णनीय है—

हाय मरण तक जीकर मुझको हालाहल पीना है।

(ख) नारी बड़ी असहाय है। वह अपने दुःख को जबान पर लाने में भी असमर्थ है। पुरुष बड़े से बड़ा पाप करें तो भी कुछ नहीं मगर नारी यदि उफ भी कर दे तो उसे कुलच्छनी का तमगा मिल जाता है। अपनी असहायता का वर्णन करते हुए औशीनरी कहती है—

'अवलम्ब है सबको मगर, नारी बहुत असहाय है।
दुख दर्द जतलाओ नहीं
मन की व्यथा गाओ नहीं
नारी ! उठे जो हूक मन में जीभ पर लाओ नहीं।

(ग) पति के द्वारा इतनी पीड़ित किए जाने पर भी औशीनरी अपने पति की मंगल-कामना करती है। वह भाग्यवादी है। अपने ही भाग्य में दोष मानकर चलती है। इसलिए पति की मंगल-कामना के लिए चन्द्रमा की पूजा करती है और अच्छे दिनों की प्रतीक्षा करती है—

'कुल-वामा क्या करे किन्तु जब यह विपत्ति आ जाए ?
प्रिय की प्रीति हेतु रानी कोई व्रत साध रही है
सुना आजकल चन्द्र-देवता की आराधन रही है।
× > ×
'सब को भवन अनुकूल हों
मुझको मिलें जो शूल हों
प्रियतम जहाँ भी हों बिछे सर्वत्र पथ में फूल हों।"

(च) औशीनरी वत्सलहृदया है। यह जानते हुए कि 'आयु' उस उर्वशी का जाया है जिसने मेरे बसे हुए घर को उजाड़ कर रख दिया। वह उसे अपनी छाती से लगाने के लिए बेचैन है। एक आदर्श गृहिणी की भाँति ममत्व उसमें कूट-कूट कर भरा है।

'आ बेटा! लूँ जुड़ा प्राण छाती से तुझे लगाकर।

× × ×

चले गए सब, किन्तु, अरे माता तो यहीं खड़ी है।
बड़ा धन भी हो अनाथ असनाथ नहीं ऐसों का।
तुझ प्यास वात्सल्य सुधा की मैं भी पली अमृत से।
बिना लुटाये कोष हाय! आजीवन भरी रही हूँ।

(छ) औशीनरी का आधार लेकर कवि ने गृहिणी नारी का शोचन चित्र खींचने के लिए कुछ सूक्तियाँ अंकित की हैं जो सचमुच उसके जीवन का जीता-जागता चित्र हैं—

'स्वप्न छोड़ विधि ने लिखा क्या और भाग्य नारी का?

× × ×

'स्वामी का सर्वस्व रहता है किन्तु मौन बंधन है।
पर, क्या मिला, अस्त में आकर मुझको इस बंधन से।

× × ×

'नारी क्रिया नहीं वह केवल क्षमा शान्ति करुणा है।

× × ×

'और देवि! जिन दिव्य गुणों को मानवता कहते हैं,
उससे भी अत्यधिक निकट नर नहीं नारी है। आदि।

सुकन्या

सुकन्या च्यवन ऋषि की धर्मपत्नी है। कवि ने इसके चरित्र का बड़े भावुक रूप में व्याख्यान किया है। एक राजा की कन्या होते हुए भी उसके विचारों में किसी प्रकार का अहं नहीं है। वह आन्तरिक प्रेम की पुजारिन है। उसने बाहरी यौवन की मधुता चुनकर वह मुग्ध नहीं होती उसे तो प्रेम की भीतरी ज्योति चाहिए जिसे महर्षि च्यवन ने पहचाना था—

सबको लगा, मोहिनी सी मुझमें कुछ भरी हुई है
पर यह सम्मोहन तरंग आती है उमड़ कहाँ से।
भीतर के उस महासिन्धु तक किसकी दृष्टि गई है।
देखा उसे महर्षि च्यवन ने और गुप्त महिमा को।
बता दिया आभास मुक्त, जिसका प्रमाणित यह लाकर
'हरि प्रसन्न यदि नहीं' सिद्धि बनकर तुम क्यों आई हो।

सुकन्या अप्रतिम सुन्दरी है। समाधि भंग हो जाने के उपरान्त च्यवन जब सुकन्या को देखते हैं तो उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाते हैं और उसके अनुपम सौन्दर्य का वर्णन किए बिना नहीं रहते—

सुर-कुल की शुचि प्रभा या कि मानव-कुल की तनया हो।
कहाँ छिपा यह रूप देखते ही जिसको पावक की।
दाहकता मिट गई, स्थाणु से पत्ते निकल रहे हैं।

सुकन्या पतिव्रता नारी है। अपने पति के पदचिह्नों पर चलना वह अपना धर्म समझती है। पति की तपस्या करुणा क्षमा तथा उदारता—सभी उसमें कूट-कूट कर भरी हुई है। शरणागत की रक्षा करना एवं अतिथि का आदर मान करना अपना परम पुनीत कर्तव्य समझती है। उर्वशी पुत्र-प्रजनन के लिए सुकन्या की शरण में आती है। सुकन्या उसे सिर-माथे पर रखती है एवं उसकी चिन्ता को अपनी चिंता समझती है।

वह कर्तव्य-निष्ठ भी है। आयु का पालन-पोषण करके उसे राजा के पास पहुंचाने का काम-भार वह अपने सिर पर ले लेती है—

'शस्त्र-शास्त्र-निष्णात अंग से बली, विभासित मन से
जब अपना यह आयु पूर्ण कैशोर प्राप्त कर लेगा
पहुंचा दूंगी स्वयं इसे मैं जाकर राजभवन में।

सुकन्या वात्सल्य रस की स्रोतस्विनी धारा है। आयु को देखकर उसके हृदय में भी ममता का उदय हो जाता है। वह जानते हुए कि यह मेरा पुत्र नहीं है और न ही इसे मेरे पास रहना है, वह उसे अपने आंचल में छिपाकर रखना चाहती है और उसे अपना मुन्ना समझकर उसकी क्रीड़ाओं की कल्पना करती है—

वृक्षों के तल दौड़-दौड़ मेरा मुन्ना पकड़ेगा
कभी हरिण के छाव कभी छौने कपोत-शावकों के।

सुकन्या रूप रंग से परे उदारचरित नारी है। उसके पुण्य शील स्वभाव के सामने औशीनरी भी अपने पति के वियोग को भूल जाती है। दुःखी नारी के दुःख का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना उसे आता है। नीचे दी ये चार पंक्तियाँ देखिए जिन्होंने औशीनरी के दग्ध मन के लिए शीतल जल का काम किया—

"कहते हैं जिसने लिखा था हमें प्रचण्ड पुरुष था
इसीलिए, उसने प्रवृत्ति भर न दी स्वस्थ-हृदय की।
और नारियों को लिखा उसने कुछ इस कौशल से
तृप्त हो जाती हैं ललनाएं अपने अधिकार जता कर।

इस प्रकार, सुकन्या एक आदर्श नारी का प्रतीक है। ऐसी नारी को पाकर प्रत्येक पुरुष अपने आपको धन्य समझेगा।

५

उर्वशी की ऐतिहासिकता

काव्य-सृष्टि के दो मूलाधार हैं—कल्पना और इतिहास। कल्पना-जन्य काव्य में कवि अपनी ही कल्पना से काव्य की कथावस्तु और उसके पात्रों का निर्माण करता है। इसमें सत्य केवल इतना होता है कि उस काल्पनिक कथावस्तु और उन पात्रों के द्वारा कवि जिस निष्कर्ष का प्रतिपादन करता है वह मनोवैज्ञानिक होने के कारण सत्य होता है। काव्य का यह सत्य शाश्वत और सरस होता है। यही काव्य और इतिहास के मध्य गहरी विभाजक रेखा खींचता है।

इतिहास जड़ घटनाओं का क्रमिक लेखा-जोखा होता है। वह नीरस और अमनोवैज्ञानिक भी हो सकता है। इतिहासकार काव्यकार की भांति घटनाओं की तह में घुसकर उनका विश्लेषण नहीं करता केवल ब्यौरेवार घटनाओं का ब्यौरा देना चाहता है। उसके फल और परिणति से उसका कोई संबंध नहीं होता। यही कारण है कि इतिहास को असत्य और काव्य को सत्य माना गया है और इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर एक आलोचक ने लिखा है कि इतिहास में सब कुछ यथार्थ होते हुए भी वह असत्य है और कथा-साहित्य में सब कुछ काल्पनिक होते हुए भी वह सत्य है। इसका तात्पर्य यही है कि साहित्य में जो सत्य शिव और सुन्दर की योजना होती है उसका इतिहास में अभाव होता है अर्थात् मानव-मन की बाह्य क्रियाओं की अपेक्षा उसकी आन्तरिक क्रियाएं सत्य होती हैं। काव्य इसी सत्य का प्रतिपादन करता है।

ऐतिहासिक काव्य इतिहास और कल्पना का मंजुल समन्वय होता है। ऐतिहासिक काव्यकार अपनी कथावस्तु और अपने पात्र तो निश्चय ही इतिहास से ग्रहण करता है किन्तु वह इतिहास की लीक पर अंधा होकर नहीं चलता वरन् अपनी मधुर कल्पना का पुट देकर ऐतिहासिक घटनाओं को सरस और

यथार्थवादिक बनाकर एक शाश्वत सत्य का उद्घाटन करता है—वह सत्य जो पाठकों अथवा श्रोताओं के हृदय पर अपेक्षाकृत गम्भीर प्रभाव करता है। यहाँ पर यह बता देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि यद्यपि काव्यकार को ऐतिहासिक काव्य-रचना करते समय अपनी कल्पना का प्रयोग करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है तथापि उसकी यह स्वतन्त्रता भी कतिपय सीमाओं में आबद्ध होती है। दूसरे शब्दों में यह कहना है कि ऐतिहासिक काव्यकार को इतिहास की प्रख्यात घटनाओं को विकृत करने का किंचित भी अधिकार नहीं होता। यदि वह ऐसा करता तो उसके काव्य का प्रभाव बिगड़ जाता क्योंकि जनमानस में इतिहास ने जो गहरी रेखायें खींच दी हैं वे सहज ही नहीं मिटाई जा सकतीं। इसीलिए ऐतिहासिक काव्यकार अपनी कल्पना का प्रयोग या तो प्रख्यात ऐतिहासिक घटनाओं की कड़ी जोड़ने के लिए करता है या छोटी-मोटी ऐतिहासिक घटनाओं को कल्पित कर देने के लिए और अपने प्रतिपाद्य की अभिव्यञ्जना करने के लिए।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि किसी भी ऐतिहासिक काव्य में दो तत्त्व अनिवार्यतः विद्यमान होते हैं—ऐतिहासिक तत्त्व और कल्पना-तत्त्व। अतः किसी ऐतिहासिक काव्य का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विवेचन करते समय इन दो तत्त्वों के अतिरिक्त यह भी देखना होता है कि काव्यकार का कल्पना-तत्त्व काव्य की प्रभावशीलता में किस मात्रा तक साधक अथवा बाधक सिद्ध होता है।

उर्वशी निस्सन्देह ऐतिहासिक नहीं वरन् अर्धऐतिहासिक घटनाओं पर आधृत काव्य-रचना है। इसकी ऐतिहासिकता का विवेचन उपर्युक्त मानदण्डों पर करना भी उचित और आवश्यक है।

ऐतिहासिक-तत्त्व—अध्ययन सौकर्य की दृष्टि से 'उर्वशी' के ऐतिहासिक तत्त्वों को दो वर्गों के अन्तर्गत रखा जा सकता है—घटनाक्रम और पात्र।

घटनाक्रम—'उर्वशी' में महाराज पुरूरवा और उर्वशी की प्रेमकथा वर्णित

है। इसमें संदेह नहीं कि यह कथा भारतीय इतिहास में आदिकाल से ही मिलती है। सर्वप्रथम ऋग्वेद में इसका उल्लेख प्राप्त होता है—

'पुरूरवः ! पुनरस्तं परेहि
दुरापना वात इवाहमस्मि।

अर्थात् हे पुरूरवा ! तुम अपने घर लौट जाओ। मैं वायु के समान दुष्प्राप्य हूं। इस सूक्त से यह भली भांति ज्ञात हो जाता है कि उर्वशी पुरूरवा को छोड़कर चली गई थी और महाराज पुरूरवा विरहोन्मत्त होकर उसकी खोज कर रहे थे इसके पश्चात् ऋग्वेद में यह कथा आगे भी चलती है जिसमें बताया गया है कि जब उर्वशी पुरूरवा को मिली तो वह गर्भवती थी इसलिए उसने महाराज पुरूरवा के साथ रहना अस्वीकार कर दिया।

इसके पश्चात् तो अनेक भारतीय ग्रंथों में इस कथा का भिन्न भिन्न प्रकार से उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में बताया गया है कि महाराज पुरूरवा से उर्वशी को छः पुत्र रत्न प्राप्त [illegible]। इन पुत्रों में सबसे बड़े पुत्र का नाम आयु था।

कहने का भाव यह है कि उर्वशी-पुरूरवा-आख्यान ऋग्वेद से आविर्भूत हो कर परवर्ती युगों में अपने भिन्न-भिन्न रूपों में आख्यायित होता रहा किन्तु इसकी ऐतिहासिकता अथवा प्रागैतिहासिकता असंदिग्ध है इसमें दो मत नहीं हो सकते।

'उर्वशी' का प्रतिपाद्य काम है। मानव-मन की यह भावना इतनी महत्त्वपूर्ण है कि इसका रूप भी ऐतिहासिक बन गया है। सर्वप्रथम इसका उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है—

'काम तदग्रे समवर्तताधि'

इसके पश्चात् तो अनेक पुराणों ने और शास्त्रों ने इसका खूब विवेचन किया—

१ काममय एवायं पुरुषः।
२ ज्ञानात्मसम्भूतं विश्वं परं ब्रह्म तदुच्यते।
परमात्मेति चाप्युक्तं विकारा कामकल्पिता।
३ अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।

४ धर्मार्थविमुक्तिकामा भवन्त इच्छां गतिमाप्नुवन्ति ।
५ धर्मादर्थः प्रर्थतः कामः कामात् धर्मफलोदय ।
६ यथा पुष्पफलं काष्ठात् काम धर्मार्थयो वरः ।
७ काम कुसुम धनु-सायक लीन्हे, सकल भुवन अपने बस कीन्हे ।
   मोहु न अन्ध कीन्ह केहि केही को जग काम नचाव न जेही ।
८ मैं काम रहा सहचर उनका
      उनके विनोद का साधन था ।
   हँसता था और हँसाता था
      उनका मैं कृतिमय जीवन था ।

इन कतिपय उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय साहित्य में काम के स्वरूप का विकास भी ऐतिहासिक क्रम से चलता रहा है, अर्थात् काम का प्रतिपादन भी ऐतिहासिक है। अतः कहा जा सकता है कि इतिहास उर्वशी की केवल कथा का ही आधार नहीं वरन् इसका प्रतिपाद्य भी ऐतिहासिक है।

पात्र—उर्वशी के प्रमुख पात्र हैं उर्वशी पुरूरवा च्यवन ऋषि सुकन्या आयु औशीनरी मेनका और अन्य सखियाँ। ये सब पात्र ऐतिहासिक हैं। इनमें से भी उर्वशी, पुरूरवा च्यवन ऋषि सुकन्या और आयु विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अतः यहाँ इनकी ही ऐतिहासिकता पर संक्षिप्त प्रकाश डालना अपेक्षित है।

१ उर्वशी—इसमें सन्देह नहीं कि ऋग्वेद में ही उर्वशी का आविर्भाव हो गया था किन्तु उर्वशी की उत्पत्ति किस प्रकार हुई इस विषय में निर्विवाद रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इसकी उत्पत्ति के विषय में दो मत प्रचलित हैं। एक मत तो यह है कि जब देव और असुरों ने मिलकर समुद्र मंथन किया था, तो उससे जो अप्सराएँ निकली थीं, उन्हीं में उर्वशी थी। दूसरा मत यह है कि इसकी उत्पत्ति नारायण ऋषि की उरु से हुई। इस मत से सम्बंधित कथा इस प्रकार है कि एक बार नारायण ऋषि ने घोर तप करना प्रारम्भ कर दिया। उनके तप को देखकर इन्द्र को यह भय हुआ कि यदि नारायण ऋषि की तपस्या पूर्ण हो गई तो वे उसके इन्द्रासन को छीन

भी इतना निर्विवाद कहा जा सकता है कि पुरूरवा और इनका प्रेमाख्यान ऐतिहासिक है।

महर्षि च्यवन और उनकी पत्नी भी ऐतिहासिक पात्र हैं। ऋग्वेद में च्यवन और अश्विनीकुमारों का उल्लेख मिलता है। महाभारत के अनुसार च्यवन की माता का नाम पुलोमा और पिता का नाम भृगु था। हिन्दीकथाकोष में इनका विवरण इस प्रकार दिया हुआ है—

'कहा जाता है कि जब इनकी (च्यवन की) माता गर्भवती थी तभी एक राक्षस उन्हें ले भागा। मार्ग में भय से इनका गर्भपात हो गया। द्रवीभूत हो राक्षस ने उनको सद्यः जन्म पुत्र के साथ चले जाने की आज्ञा दे दी। उसी पुत्र का नाम च्यवन हुआ। च्यवन बहुत बड़े ऋषि हो गये हैं। एक बार नर्मदा-तट पर घोर तपस्या करते हुए ये बहुत दिनों तक समाधिस्थ रहे। इनके सारे शरीर को दीमकों ने ढक लिया केवल आँखें ही चमकती रहीं। उनके इस आश्रम में एक बार शर्याति की कन्या सुकन्या पहुँची और इनकी आँखों को जुगनू समझकर खोद दिया जिससे आँखों से रक्त बहने लगा। राजा शर्याति क्षमा मांगने आए, पर स्त्री-रूप में सुकन्या को देने पर ही च्यवन क्षमा करने को प्रस्तुत हुए।

आयु भी ऐतिहासिक पात्र है। पुराणों में बताया गया है कि महाराज पुरूरवा से उर्वशी को छः पुत्र रत्नों की प्राप्ति हुई जिनमें सबसे बड़े पुत्र का नाम आयु था। इसके अतिरिक्त औशीनरी मेनका तथा अन्य सखियां भी ऐसे पात्र हैं जिनका उल्लेख भारतीय वाङ्मय में मिल जाता है।

इस संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उर्वशी का आख्यान और इसके पात्र ऐतिहासिक हैं।

कल्पना-तत्त्व

पहिले कहा जा चुका है कि किसी भी एतिहासिक काव्य में कल्पना का मिश्रण अवश्य होता है। कल्पना के मिश्रण में दो तत्त्व काम करते हैं—प्रतिपाद्य की प्रभावप्रवणता और कवि पर अपने युग का प्रभाव। उर्वशी में भी कवि ने अनेक घटनाओं को हेर-फेर करके प्रस्तुत किया है। यह हेर-फेर कुछ तो पूर्ववर्ती साहित्य में हो ही चुका था जिसे

कवि ने ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है और कुछ युगानुरूप अपनी कल्पना का संबल लिया है। किन्तु यह संबल कवि को बहुत ही कम लेना पड़ा है।

उर्वशी और पुरूरवा का प्रेम किस प्रकार हुआ, इस विषय में कथाकोष का उद्धरण देकर यह बताया जा चुका है कि इन्द्र की सभा में नाचते हुए उर्वशी महाराज पुरूरवा पर मुग्ध हो गई थी। उर्वशीकार ने इस घटना को इस रूप में स्वीकार (न करके उस रूप में स्वीकार) किया है जिसमें कविकुल गुरु कालिदास स्वीकार कर चुके थे अर्थात् एक राक्षस से महाराज का उर्वशी को बचाना और तब उर्वशी का उन पर मुग्ध होना—

> 'पुकार सुनी हमारी एक राजा ने
> दौड़ पड़े वे सखय उर्वशी को अविलम्ब बचाने।
> और उन्हीं नरवीर नृपति के पौरुष से मुजबल से
> मुक्त हुई उर्वशी हमारी उस दिन काल-कवल से।

इस प्रकार की घटना की स्वीकृति से काव्य का प्रभाव अधिक सबल और मनोवैज्ञानिक हो गया है। साथ ही नारी में पुरुष के पौरुष के प्रति जो सहज प्रेम होता है उसकी अभिव्यक्ति के कारण उर्वशी के चरित्र में अपेक्षाकृत अधिक निखार आ गया है।

हिन्दी-कथाकोष में बताया गया है कि उर्वशी ने अपनी ही कुछ ऐसी शर्तें रखी थीं जिनके कारण उसे महाराज पुरूरवा का परित्याग करना पड़ा। दिनकर ने इस घटना को न अपनाकर पद्मपुराण की उस घटना को अपनाया है जिसमें भरत के शाप का उल्लेख किया गया है—

> विस्मृताऽभिनयं सब मयुराहतम चेतितम्,
> शशाप भरत: कोपाद्वियोगाऽस्य भूतले।

इस घटना से उर्वशी के नारी-रूप को अधिक महत्ता और स्वाभाविकता प्राप्त हुई है। केवल शर्तों का बन्धन रखने पर उर्वशी अन्य अप्सराओं की उस परिधि से बाहर नहीं निकल सकती थी जो प्रेम को केवल एक खिलवाड़ समझती है समर्पण को एक प्रकार का सुन्दर खेल मानती है। भरत-शाप

की घटना का ग्रहण करने से एक तो उर्वशी के पत्नी-रूप में निखार आ गया है और दूसरे उसका माता-रूप भी व्यापक बन गया है। आयु को सुकन्या की गोद में देते समय उर्वशी का समस्त मातृत्व उमड़ पड़ता है—

> अपना सुख तृणवत् नगण्य है उसे छोड़ सकती हूं।
> किन्तु, पुत्र का भाग्य भूमि पर रख कैसे फोडूंगी।'

महर्षि च्यवन और सुकन्या की कथा में भी कवि ने कल्पना का प्रयोग किया है। कथाकोष में बताया गया है कि उसे महर्षि ने उनके पिता से मांगा। इस घटना में महर्षि का चरित्र कुछ धूमिल बन जाता है। दिनकर ने इस घटना को जो रूप दिया है उससे महर्षि च्यवन का चरित्र बहुत ऊंचा उठ जाता है साथ ही प्रेम का स्वरूप भी उदात्त बन जाता है।

अतः कह सकते हैं कि 'उर्वशी' में इतिहास और कल्पना का मधुर एवं प्रभावक सामंजस्य है। यदि पूर्ववर्ती साहित्य एवं कवियों की कल्पना-जन्य घटनाओं को भी ऐतिहासिक मान लिया जाये तो यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि कवि दिनकर को इस काव्य में अपनी कल्पना से घटना-प्रसूत करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी है। उनकी कल्पना की महत्ता तो केवल विविध रूपों में से किसी एक रूप का चयन करने में ही निहित रही है। कल्पना का यह योग भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

६

उर्वशी का काव्यरूप

आधुनिक हिन्दी-साहित्य संस्कृत-काव्य-शास्त्र और पाश्चात्य काव्य-शास्त्र दोनों से पूर्णतः प्रभावित है। इसमें जहाँ एक ओर संस्कृत-काव्य-शास्त्र के नियमों का रूढ़िबद्ध पालन परिलक्षित होता है वहाँ दूसरी ओर पाश्चात्य प्रभाव के अथवा प्रणेता की स्वच्छन्दता के कारण रूढ़िमुक्त प्रवृत्ति भी दिखाई देती है। फलतः आधुनिक हिन्दी-साहित्य की किसी भी कृति का काव्यरूप विवेचित करने के लिए इन दोनों दृष्टियों से विचार करना उपयुक्त ही नहीं, अनिवार्य भी है।

रूढ़िबद्ध काव्यरूप

रूढ़िबद्ध काव्यरूप से तात्पर्य काव्य के उस वर्गीकरण से है जो संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य को पुरुष का रूप राजशेखर द्वारा १वीं शताब्दी में ही दिया जा चुका था—

'तेषु सारस्वतेयो तृतीयसामपि जन्मः काव्यपुरुष असीत।

सम्भवतः इसी रूपक के कारण काव्य के वर्गीकरण के दो आधार निश्चित हुए—

१ रमणीयता का आधार इस आधार पर काव्य की आत्मा का विवेचन हुआ।

२. स्वरूप अथवा बंध का आधार इस आधार पर काव्य के शरीर का विवेचन हुआ।

रमणीयता के आधार पर काव्य के तीन भेद किये गये—ध्वनिकाव्य या उत्तम काव्य गुणीभूत व्यंग्य काव्य या मध्यम काव्य चित्रकाव्य या अधम काव्य। पंडितराज जगन्नाथ ने एक चौथा भेद—उत्तमोत्तम काव्य—और माना किन्तु यह प्रचलित न हो सका। फलतः उपर्युक्त तीन भेदों को ही मान्यता मिली।

स्वरूप अथवा बंध के आधार पर काव्य के दो भेद किये गये—श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य। श्रव्यकाव्य तीन भागों में बांटा गया—पद्यकाव्य, और चम्पूकाव्य। प्रबन्ध की दृष्टि से पद्यकाव्य के दो रूप किये गये—प्रबंध काव्य और मुक्तक काव्य। विस्तार की दृष्टि से प्रबंधकाव्य को दो भागों में विभाजित किया गया—महाकाव्य और खंड काव्य।

दृश्य काव्य के दस भेद किये गये—नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अंक, वीथी और प्रहसन।

रूढ़िमुक्त काव्यरूप

रूढ़िमुक्त काव्यरूप से तात्पर्य हिन्दी-साहित्य के उन काव्य रूपों से है जिनमें पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के प्रभाव अथवा प्रणेता की स्वच्छन्द प्रवृत्ति के कारण रूढ़िबद्ध काव्यरूपों का नियमतः परिपालन नहीं मिलता। हिन्दी साहित्य में प्रचलित रूढ़िमुक्त काव्यरूपों में नाट्यात्मक, स्वानुभूति प्रधान और आख्यान प्रधान ये तीन भेद प्रमुख हैं। नाट्यात्मक काव्यरूप के प्रमुख भेद हैं— नाट्य महाकाव्य और गीतिनाट्य।

इन काव्य रूपों में से 'उर्वशी' किसके अन्तर्गत आती है? इस प्रश्न के उत्तर में चार रूपों की सम्भावना होती है—महाकाव्य, नाटक, नाट्यमहाकाव्य और गीतिनाट्य। इन उल्लिखित रूपों में से किसी एक रूप को स्थिर करने के लिये यह आवश्यक है कि इन रूपों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया जाये।

महाकाव्य का स्वरूप

संस्कृत-महाकाव्य में सर्वप्रथम आचार्य भामह ने महाकाव्य के जिस विवेचन का सूत्रपात किया था वह आचार्य विश्वनाथ में आकर पूर्णता को प्राप्त हो गया। आचार्य विश्वनाथ ने प्रतिपादक अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के मतों का समन्वय करके एक प्रकार से उनकी व्याख्या ही कर दी। परवर्ती आचार्य भी प्रायः उसी व्याख्या को किंचित् शब्द भेद के द्वारा पुनरावृत्त करते रहे, अतः यहां पर केवल आचार्य विश्वनाथ से ही पर्याप्त होगा।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार महाकाव्य में निम्नलिखित विशेषताएं होती हैं—

१ महाकाव्य का नायक सुर अथवा प्रख्यात राजवंश से सम्बद्ध कोई कुलीन होना चाहिए।

२ महाकाव्य में शृंगार, वीर या शान्त रस में से एक रस अंगी होना चाहिए। साथ ही अन्य रस और सारी नाटक-संधियाँ होनी चाहिए।

३ महाकाव्य की कथावस्तु ऐतिहासिक अथवा किसी महापुरुष के जीवन से सम्बद्ध कोई लोक-प्रसिद्ध वृत्त होना चाहिए, जिसमें चारों पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ काम, मोक्ष) का वर्णन करके नायक को किसी एक की प्राप्ति हुई हो।

४ महाकाव्य के प्रारम्भ में मंगलाचरण या वस्तुनिर्देश हो। कहीं-कहीं दुष्टों की निन्दा और सज्जनों की स्तुति की गई हो।

५ महाकाव्य में कम से कम आठ सर्ग होने चाहिए जो न तो बहुत दीर्घ हों और न बहुत छोटे। एक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग होना चाहिए और सर्गान्त में वह छंद परिवर्तित कर देना चाहिए। एक सर्ग में अनेक छन्द भी हो सकते हैं। सर्ग के अन्त में भावी कथा का संकेत होना चाहिए।

६ महाकाव्य में संध्या सूर्य चन्द्र रात्रि प्रदोष अन्धकार दिन प्रातःकाल मध्याह्न मृगया पर्वत ऋतु वन-उपवन समुद्र सम्भोग विप्रलम्भ मुनि स्वर्ग, नगर, यज्ञ संग्राम यात्रा विवाह पुत्र-जन्म आदि का वर्णन होना चाहिए।

७ महाकाव्य का नाम कवि, वर्ण्य विषय नायक अथवा अन्य किसी आधार पर होना चाहिए।

८ महाकाव्य के सर्ग का नाम उस सर्ग में वर्णित विषय के आधार पर होना चाहिए।

आचार्य विश्वनाथ ने महाकाव्य की जो विशेषताएं बताई हैं, उन्हें दो वर्गों में रखा जा सकता है—स्थिर और अस्थिर। स्थिर विशेषताएं वे हैं जिनका पालन करना प्रत्येक महाकाव्यकार के लिए अनिवार्य है। अस्थिर विशेषताओं पर अनिवार्यता का बन्धन नहीं। इस वर्गीकरण के अनुसार महा

महाराज पुरूरवा जितने सुन्दर हैं उतने ही वीर हैं। उनका अपनी वीरता के प्रति दृढ़ विश्वास स्वयं उन्हीं के शब्दों में देखिए—

"सामने टिकते नहीं वनराज पर्वत डोलते हैं,
काँपता है कुंडली मारे समय का व्याल
मेरी बाँह में मारुत गरुड़ गजराज का बल है।

सारांश में कहा जा सकता है कि एक उदात्त और वीरोदात्त नायक में जिन गुणों की अपेक्षा है, वे सब महाराज पुरूरवा में मिल जाते हैं।

उर्वशी की कथा भी प्रख्यात है। यह कथा इतनी पुरानी है कि वेद पुराणों के अतिरिक्त संस्कृत-साहित्य में इसका खूब प्रचार रहा है और कविकुलगुरु कालिदास जैसे महाकवि भी इसे अपनाने का लोभ संवरण नहीं कर सके हैं। यह कथा आधिकारिक है। इसके साथ ही च्यवन ऋषि की कथा प्रासंगिक है।

इस काव्य का अंगीरस शृंगार है जो महाकाव्य के अंगीरस के लिए स्वीकृत है। इस कथा का फल काम है वैसे पुरूरवा के संन्यास ग्रहण का संकेत करके कवि ने मोक्ष की ओर भी इंगित किया है।

इन स्थिर लक्षणों के अतिरिक्त उर्वशी में महाकाव्य के अनेक अस्थिर लक्षणों का भी परिपालन किया गया है। जैसे—प्रकृति का वर्णन ऋतुओं का वैविध्य, पर्वत ऋतु मुनि स्वर्ग यज्ञ विवाह पुत्र-जन्म आदि।

इन तत्वों के प्राप्त होने पर भी उर्वशी को महाकाव्य नहीं माना जा सकता। इसके प्रमुख कारण ये हैं—

१ उर्वशी की कथा सर्गों के स्थान पर अंकों में विभाजित की गई है। भविष्य में भी महाकाव्य की कथा के अंकों में विभाजित होने की कोई संभावना नहीं है क्योंकि यह परिपाटी नाटक के लिए सर्वमान्य हो चुकी है।

२ इसमें यत्र-तत्र नाटकीय संकेत हैं।

३ इसकी कथा में वह व्यापकता और विविधता नहीं है जो महाकाव्य की कथा के लिए अपेक्षित होती है। जीवन के एक पहलू—केवल काम—का ही

सविस्तार वर्णन हुआ है। प्रथम दो अकों में आधिकारिक कथा सूक्ष्म है। जिसके कारण महत्त्वपूर्ण घटनाओं का उचित सन्निवेश न होने के कारण प्रभावाभिव्यक्ति शिथिल हो जाती है। इसके अतिरिक्त प्रासंगिक कथा भी सूक्ष्म है। प्रासंगिक कथा के नायक महर्षि च्यवन का तो दर्शन भी नहीं होता न उनके मुख से कोई शब्द ही सुनने को मिलता है। कथा में घटनाओं की अपेक्षा चिन्तन का प्राधान्य है। इसलिए महाकाव्योचित चरित्रों का उद्घाटन नहीं हो पाया है।

४ प्रारम्भ से अंत तक संवादात्मक शैली अपनाई गई है।

नाटक का स्वरूप

धनञ्जय ने नाटक के स्वरूप का जो विवेचन किया है, उसका सारांश इस प्रकार है—

१ जिस कथावस्तु का नायक उत्कृष्ट कोटि के सेवन करने योग्य गुणों से युक्त हो धीरोदात्त हो प्रतापशाली हो कीर्ति की इच्छा करने वाला हो बड़ा ही उत्साही हो वेदत्रयी की रक्षा करने वाला हो और प्रसिद्ध वंश वाला या तो कोई राजर्षि हो या दिव्य हो एसे ही नायक वाली प्रख्यात कथावस्तु को आधिकारिक वृत्त बनाना चाहिए।

२ इस कथावस्तु को पांच भागों में विभाजित कर लेना चाहिये। इन पांचों भागों में पांचों सन्धियों की योजना करली चाहिये।

३ यदि कथानक के अनुसंधान के लिये वस्तु का विस्तार अपेक्षित तो हो किन्तु नीरस समझ कर उसका परित्याग आवश्यक समझा जाय तो उस नीरस वस्तु की सूचना देने के लिए विष्कम्भक का प्रयोग करना चाहिये। यदि प्रारम्भ से ही सरस कथा हो तो विष्कम्भक की कोई आवश्यकता नहीं होती। एसी दशा में आमुख का आश्रय लेकर अङ्क को ही प्रारम्भ कर देना चाहिये।

४ रस के अधिक विस्तार के द्वारा वस्तु को बहुत अधिक विच्छिन्न नहीं करना चाहिये।

५. शृंगार और वीर दोनों रसों में से एक रस को अंगी बनाना चाहिये।

शेष सारे रस अंग होने चाहिये। निर्वहण सन्धि में अद्भुत रस का समावेश होना चाहिये।

६ दूर का मार्ग वध, युद्ध विप्लव सुरत अनुलेपन वस्त्र का पकड़ना इत्यादि उत्तेजक बातों को प्रत्यक्ष नहीं दिखाना चाहिये। केवल प्रवेशक इत्यादि से इनकी सूचना दे देनी चाहिये।

७ एक ही दिन में एक ही प्रयोजन से किये गये कार्यों को एक अंक में दिखलाना चाहिये। एक अंक में तीन या चार पात्र होने चाहिये और अंक के अंत में इन पात्रों को निकल जाना चाहिये।

इस विवेचन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

१ नाटक की कथावस्तु प्रख्यात होनी चाहिये।

२ इसका नायक उदात्त गुणों से सम्पन्न होना चाहिये।

३ इसमें शृंगार या वीर रस में से एक रस अंगी होना चाहिये। अन्य रस भी सहायक रूप में हों पर रस का विस्तार कथा प्रवाह में बाधक न हो।

४ विष्कम्भक आवश्यक नहीं अंक से ही वस्तु प्रारम्भ की जा सकती है।

५ उत्तेजक दृश्य वर्जित हैं।

६ एक अंक में चार से अधिक पात्र नहीं होने चाहिये। तथा एक अंक की वस्तु का समय एक दिन से अधिक नहीं होना चाहिए।

इन नियमों में पहले तीन नियम—कथावस्तु, नायक अंगीरस—स्थिर नियम हैं और शेष अस्थिर। अतः स्थिर नियमों की व्याख्या अपेक्षित है।

१ कथावस्तु—महाकाव्य की भांति नाटक की कथावस्तु भी या तो ऐतिहासिक होनी चाहिये या किसी प्रख्यात पुरुष से सम्बन्धित होनी चाहिये। प्रभावान्विति के लिए इसका पांच अंकों तथा पांच सन्धियों—मुख प्रतिमुख गर्भ अवमर्श और निर्वहण—में विभाजन कर लेना चाहिए। नाटक की कथावस्तु के विभाजन के तीन मुख्य आधार हैं—

१ प्रभावान्विति की दृष्टि से।

२ समर्पस की दृष्टि से।

३ नाट्यधर्म की दृष्टि से।

प्रभावान्विति की दृष्टि से इसके दो भेद होते हैं—आधिकारिक और प्रासंगिक। मुख्य कथा को आधिकारिक और उसकी अंगभूत गौण कथा को प्रासंगिक कहते हैं।

समर्पण की दृष्टि से भी इसके दो भेद होते हैं—सूच्य और दृश्य। जो वस्तु रसहीन हो वह केवल सूचित होनी चाहिए क्योंकि उसका अभिनय कथावस्तु को प्रभावान्विति में बाधक होगा। इसके विपरीत अभिनेय कथावस्तु दृश्य कहलाती है।

नाट्यधर्म की दृष्टि से इसके तीन भेद होते हैं—सर्वश्राव्य नियतश्राव्य और अश्राव्य। जिसे सुनाना सबको अभीष्ट हो वह सर्वश्राव्य जिसे कुछ निश्चित पात्रों को सुनाना ही अभीष्ट हो वह नियतश्राव्य और जिसे किसी भी पात्र को सुनाना अभीष्ट न हो, वह अश्राव्य कथावस्तु कहलाती है।

अभिनय भी नाटक की कथावस्तु का प्रमुख अंग है। अभिनय चार प्रकार का होता है—आंगिक (अंग द्वारा सम्पादित) वाचिक (वाणी द्वारा सम्पादित) आहार्य (वेषभूषा द्वारा सम्पादित) और सात्त्विक (मनोभावों द्वारा सम्पादित)।

नाटक की कथावस्तु की परिणति फल में होनी चाहिए। यह फल—धर्म अर्थ काम और मोक्ष में से कोई एक—नायक को प्राप्त होना चाहिए।

२ नायक—महाकाव्य के नायक की भांति नाटक का नायक भी उदात्त गुणों से सम्पन्न हो, वह धीरोदात्त प्रतापी कीर्ति की इच्छा रखने वाला तेजस्वी वेदत्रयी का रक्षक, प्रख्यात वंशी राजर्षि या दिव्य हो। दशरूप ने नाटक के नायक के लिये इन गुणों को अनिवार्य बताया है—

> नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियम्वदः।
> रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा॥
> बुद्ध्युत्साह स्मृति प्रज्ञाकलामान समन्वितः।
> शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः॥

अर्थात् नाटक का नायक विनीत मधुर, त्यागी दक्ष, प्रियवक्ता लोकप्रिय शुचि वाग्मी कुलीन स्थिर, युवा बुद्धिमान् उत्साही स्मृतिवान् प्रज्ञावान

कला-समन्वित मानी, शूर, दृढ़, तेजस्वी शास्त्रविद् और धार्मिक होना चाहिए।

इन गुणों के अतिरिक्त नायक में शोभा विलास, माधुर्य गाम्भीर्य, स्थिरता ललित और औदार्य ये आठ सात्विक गुण भी माने गए हैं।

नायक के चार भेद होते हैं—धीर ललित, धीर प्रशान्त धीरोदात्त और धीरोद्धत। जो नायक निश्चिन्त कलाओं में आसक्त, सुखी और कोमल होता है, उसे धीर ललित कहते हैं। सामान्य गुणों से युक्त द्विज इत्यादि को धीर प्रशान्त कहते हैं। जो बहुत तेजस्वी हो, अत्यन्त गम्भीर हो सहनशील हो मितभाषी हो स्थिर हो, निरहंकारी तथा दृढ़प्रतिज्ञ हो उसे धीरोदात्त कहते हैं। जिसमें दर्प और मात्सर्य बहुत अधिक हो जो माया और छद्म में लगा हुआ हो, जो अहंकारी चंचल उग्र और शेखीबाज हो उसे धीरोद्धत कहते हैं।

शृंगार-सम्बन्धी नायक के तीन भेद होते हैं—दक्षिण शठ और धृष्ट। जो अन्य नायिका के द्वारा अपहृत होते हुए भी प्रथम नायिका से सहृदयता का व्यवहार करता है, वह दक्षिण नायक कहलाता है। जो नायक पूर्व नायिका का चुपके चुपके अपकार करे, वह शठ नायक होता है और जिस नायक के अंग व्यक्त रूप से विकृत हों उसे धृष्ट नायक कहते हैं।

नायक के उपर्युक्त विवेचन से यह सहज ही बोध हो जाता है कि नाटक की नायिका भी उदात्त होनी चाहिए।

३ रस—नाटक में शृंगार या वीर-रस में एक रस अंगी होना चाहिए, अन्य रसों की नियोजना अंग रूप में होनी चाहिए।

नाटक की इस विवेचना पर यदि उर्वशी को परखा जावे तो इसमें अनेक नाटकीय तत्वों की उपलब्धि होती है। जैसे—

१ इसकी कथावस्तु प्रख्यात है।

२ इसका नायक उन सभी गुणों से सम्पन्न है जो नाटक के नायक के लिए अपेक्षित हैं। साथ ही नायिका में भी अपेक्षित गुण मिलते हैं।

३ इसकी कथा का विभाजन अंकों में हुआ है। जिसमें यत्र-तत्र नाटकीय उक्तियाँ भी हैं। इसकी कथा पाँच अंकों में विभाजित है।

४ प्रारम्भ से अन्त तक कथोपकथन की शैली ग्रहण की गई है।

५. नाटक का अंगीरस शृंगार या वीर में से कोई एक होना चाहिए। इसमें शृंगार अंगीरस है।

६. इस काव्य का प्रारम्भ नाटकीय नियमों पर हुआ है। नाटक की संधियाँ भी इसमें मिलती हैं।

किन्तु फिर भी इसे नाटक स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके निम्न लिखित कारण हैं—

१ नाटक में कथावस्तु की विविधता और विशालता अपेक्षित होती है। इसकी कथा में इन दोनों तत्त्वों का अभाव है। जीवन के वैविध्य के स्थान पर जीवन की केवल एक समस्या—काम—को ही प्रस्तुत किया गया है। समाधान उसका भी पूर्ण नहीं है।

२ इसमें चिन्तन की गंभीरता है, अतः कथा का प्रवाह टूट गया है। नाटक में इतने गहन चिन्तन की अपेक्षा भी नहीं होती।

३ अभिनय नाटक की आधार-शिला है। इसमें इसका अभाव ही है, क्योंकि इसमें रंगमंचीय संकेत नहीं हैं।

४ इसमें संकलनत्रय की कोई योजना नहीं है।

नाट्यमहाकाव्य का स्वरूप

नाट्यमहाकाव्य हिन्दी-साहित्य के लिए एकदम नवीन शब्द है। पाश्चात्य साहित्य में इस रूप में अनेक काव्य मिलते हैं जिनमें जर्मन कवि गेटे का 'फ़ावस्ट' तथा अंग्रेज़ी कवि टामस हार्डी का 'दी डाइनेस्ट' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। नाट्यमहाकाव्य में नाटक और महाकाव्य दोनों के तत्त्वों का मिश्रण होता है। 'साहित्यकोष' में नाट्यमहाकाव्य की परिभाषा इन शब्दों में की गई है—

'नाट्यमहाकाव्य वह पद्यबद्ध काव्य है जिसमें नाटक की कथोपकथन की पद्धति और नाटकीय संधियों से युक्त अन्विति तो होती है पर जो अभिनेय नहीं होता, क्योंकि उसका कथानक नाटक की अपेक्षा अधिक लम्बा वैविध्य पूर्ण और अवान्तर कथाओं तथा अनभिनेय दृश्यों से युक्त होता है और जिसमें नाटक की अपेक्षा गुरुत्व और गाम्भीर्य अधिक होता है।

नाट्यमहाकाव्य के कथानक के लिए जिस लम्बाई विविधता और

कला-समन्वित, मानी शूर, दृढ़, तेजस्वी शास्त्रविद् और धार्मिक होने चाहिए।

इन गुणों के अतिरिक्त नायक में शोभा विलास, माधुर्य गाम्भीर्य, स्थिरता ललित और औदार्य ये आठ सात्विक गुण भी माने गए हैं।

नायक के चार भेद होते हैं—धीर ललित, धीर प्रशान्त धीरोदात्त और धीरोद्धत। जो नायक निश्चिन्त कलाओं में आसक्त, सुखी और कोमल होता है, उसे धीर ललित कहते हैं। सामान्य गुणों से युक्त द्विज इत्यादि को धीर प्रशान्त कहते हैं। जो बहुत तेजस्वी हो अत्यन्त गम्भीर हो सहनशील हो मितभाषी हो स्थिर हो, निरहंकारी तथा दृढ़व्रतिज्ञ हो उसे धीरोदात्त कहते हैं। जिसमें दर्प और मात्सर्य बहुत अधिक हो जो माया और छद्म में लगा हुआ हो जो अहंकारी चपल उग्र और शेखीबाज हो उसे धीरोद्धत कहते हैं।

शृंगार-सम्बन्धी नायक के तीन भेद होते हैं—दक्षिण शठ और धृष्ट। जो अन्य नायिका के द्वारा अपहृत होते हुए भी प्रथम नायिका से सहृदयता का व्यवहार करता है वह दक्षिण नायक कहलाता है। जो नायक पूर्व नायिका का चुपके चुपके अपकार करे वह शठ नायक होता है और जिस नायक के अंग स्पष्ट रूप से विकृत हों उसे धृष्ट नायक कहते हैं।

नायक के उपर्युक्त विवेचन से यह सहज ही बोध हो जाता है कि नाटक की नायिका भी उदात्त होनी चाहिए।

३ रस—नाटक में शृंगार या वीर रस में एक रस अंगी होना चाहिए, अन्य रसों की नियोजना अंग रूप में होनी चाहिए।

नाटक की इस विवेचना पर यदि उर्वशी को परखा जावे तो इसमें अनेक नाटकीय तत्वों की उपलब्धि होती है। जैसे—

१ इसकी कथावस्तु प्रख्यात है।

२ इसका नायक उन सभी गुणों से सम्पन्न है, जो नाटक के नायक के लिए अपेक्षित हैं। साथ ही नायिका में भी अपेक्षित गुण मिलते हैं।

३ इसकी कथा का विभाजन अंकों में हुआ है। जिसमें यत्र-तत्र नाटकीय संकेत भी हैं। इसकी कथा पाँच अंकों में विभाजित है।

४ प्रारंभ से अन्त तक कथोपकथन की शैली ग्रहण की गई है।

५ नाटक का अंगीरस शृंगार या वीर में से कोई एक होना चाहिए। इसमें शृंगार अंगीरस है।

६ इस काव्य का प्रारम्भ नाटकीय नियमों पर हुआ है। नाटक की संधियाँ भी इसमें मिलती है।

किन्तु फिर भी इसे नाटक स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके निम्न लिखित कारण हैं—

१ नाटक में कथावस्तु की विविधता और विशदता अपेक्षित होती है। इसकी कथा में इन दोनों तत्त्वों का अभाव है। जीवन के वैविध्य के स्थान पर जीवन की केवल एक समस्या—काम—को ही प्रस्तुत किया गया है। समाधान उसका भी पूर्ण नहीं है।

२ इसमें चिन्तन की गंभीरता है अतः कथा का प्रवाह टूट गया है। नाटक में इतने गहन चिन्तन की अपेक्षा भी नहीं होती।

३ अभिनय नाटक की आधार-शिला है। इसमें इसका अभाव ही है, क्योंकि इसमें रंगमंचीय संकेत नहीं है।

४ इसमें संकलनत्रय की कोई योजना नहीं है।

नाट्यमहाकाव्य का स्वरूप

नाट्यमहाकाव्य हिन्दी-साहित्य के लिए एकदम नवीन शब्द है। पाश्चात्य-साहित्य में इस रूप में अनेक काव्य मिलते हैं जिनमें जर्मन-कवि गेटे का 'फ़ाउस्ट' तथा अंगरेज़ी-कवि टामस हार्डी का 'दी डाइनेस्ट' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नाट्यमहाकाव्य में नाटक और महाकाव्य दोनों के तत्त्वों का मिश्रण होता है। 'साहित्यकोश' में नाट्यमहाकाव्य की परिभाषा इन शब्दों में की गई है—

'नाट्यमहाकाव्य वह पद्यबद्ध काव्य है जिसमें नाटक की कथोपकथन की पद्धति और नाटकीय संधियों से युक्त अन्विति तो होती है पर जो अभिनेय नहीं होता, क्योंकि उसका कथानक नाटक की अपेक्षा अधिक लम्बा अविच्छिन्न और अवान्तर कथाओं तथा अनभिनेय दृश्यों से युक्त होता है और जिसमें नाटक की अपेक्षा गुरुत्व और गाम्भीर्य अधिक होता है।

नाट्यमहाकाव्य के कथानक के लिए जिस लम्बाई, विविधता और

प्रासंगिक कथाओं की अपेक्षा है वे उर्वशी में नहीं मिलते, अतः इसे इस भेद के अन्तर्गत भी नहीं रखा जा सकता।

गीतिनाट्य का स्वरूप

गीतिनाट्य उस काव्य को कहते हैं जिसमें नाटकीय तत्त्वों के साथ गीतिकाव्य की विशेषताएं भी सम्मिलित हों। गीतिनाट्य के प्रमुख तत्त्व ये हैं—

१ भावों का प्राधान्य।
२ कथा का सौन्दर्य कम भावाभिव्यंजना का अधिक।
३ कठोर और भयप्रद घटनाओं एवं दृश्यों का बहिष्कार।
४ जीवन के कोमल सूक्ष्म तथा भावात्मक चित्रण।
५ बाह्य चेष्टाएं कम मनोभाव अधिक।
६ अन्तर्द्वन्द्व की प्रधानता।
७ प्रकृति के रम्य रूप का चित्रण।
८ पात्रों की सीमित संख्या।
९ यत्र-तत्र नाटकीय संकेत।
१० चार या पांच दृश्य (अथवा अंक)
११ अभिनेयता आवश्यक नहीं।
१२ संगीतात्मकता अतः गीतों की योजना।

विस्तार भय से यहां केवल इतना कहना ही पर्याप्त है कि उर्वशी में ये सभी तत्त्व पूर्णतया मिलते हैं। अतः कहा जा सकता है कि उर्वशी का काव्यरूप गीतिनाट्य है। यह काव्यरूप हिन्दी-साहित्य के लिए काफी नया माना है।

उर्वशी का प्रकृति-चित्रण

'प्रकृति' शब्द अंग्रेजी के Nature का पर्याय है। प्रकृति का शाब्दिक अर्थ है—स्वभाव मिजाज, वह मूल सत्ता जिसका परिणाम जगत् है माया परमात्मा तथा पंचभूत आदि। कविता में प्रकृति-चित्रण से तात्पर्य है कवि का रागात्मिका वृत्ति का आधार लेकर मूल सत्ता माया परमात्मा तथा पंचभूत (पृथ्वी जल तेज वायु और आकाश) का अपने-अपने ढंग से सहज एवं स्वाभाविक चित्रण करना। इस प्रकार पंचीरूप प्रकृति (मूलसत्ता माया परमात्मा पंचभूत) का मानव एक अंश है। अतः मानव और प्रकृति का शाश्वत काल से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। जीवन तथा साहित्य दोनों में ही इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। कला और साहित्य की यह मूल प्रेरणा और कवि के भाव-स्फुरण की आधार-शिला है। इसके अंग होने के कारण हम प्रकृति में अपने शोक प्रसन्नता उमंग-उल्लास आदि भावों की छाया भी देखते हैं। प्रकृति का सौंदर्य शाश्वत है। इसके सौंदर्य पर मानवीय जगत की विभीषिकाओं का कोई प्रभाव नहीं देखा जाता। दुःख की ज्वालाओं में जलते संसार के बीच यह अपने ही आनन्दोल्लास में थिरकती रहती है—अंग्रेजी कवि टेनीसन ने प्रकृति की शाश्वतता की अभिव्यक्ति इन शब्दों में की है—

For men may come and men may go,
But I go on for ever

प्रकृति का यह शाश्वत सौन्दर्य ही अनादि तत्व की रहस्यमयी सत्ता को जानने का राजद्वार है किन्तु प्रकृति से सहज एवं अटूट सम्बन्ध स्थापित करने के लिए मानव में सदैव रागात्मिका वृत्ति के रहने की परमावश्यकता है। "मनुष्य लोक प्रकृति के साथ अपने रागात्मक सम्बन्ध का विच्छेद करके अपने आनन्द की व्यापकता को नष्ट करता है।

आदि काल से लेकर अब तक विभिन्न कवियों की रागात्मिक वृत्ति में अनेकरूपता होने के कारण विभिन्न कवियों की प्रवृत्ति निरीक्षण और अनुभूति के अनुसार प्रकृति का चित्रण कई ढंग से हुआ है। प्रकृति-चित्रण के भेदोपभेद का वर्गीकरण इस प्रकार है—

१—आलम्बन रूप—
(अ) भाव व्यंजना अथवा अनुरंजनात्मकता
(ब) प्रकृति का रूप-विस्तार
(स) गति-विधि का निरीक्षण
(द) वर्ण या रंगों की पहचान
(इ) गन्ध की संवेदना
(ड) स्पर्श की संवेदना

२—उद्दीपन

३—मानवीकरण

४—आलंकारिक विधान

५—प्रतीक विधान

६—रहस्यानुभूति अथवा रहस्य-सत्ता की अनुभूति

७—उपदेशात्मकता

८—पृष्ठभूमि व वातावरण की सृष्टि के रूप

९—कवि-हृदय के रूप

'उर्वशी' के आधार पर इन भेदोपभेदों का संक्षिप्त विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है—

१ आलम्बन रूप

आलम्बनो नायिकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात्।' अर्थात् जिस व्यक्ति अथवा वस्तु के कारण नायक आदि में कोई भाव जागृत होता है उस व्यक्ति अथवा वस्तु को उस भाव का आलम्बन विभाव कहते हैं। आलम्बन विभाव ही वास्तविक रस भूमि है। इसके बिना काव्य रचना और काव्यास्वाद दोनों ही असम्भव हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तो आलम्बन मात्र के विशद वर्णन

को श्रोता में रसानुभव कराने में पूर्ण समर्थ मानते थे। यदि कवि ने प्रकृति का मोह छोड़कर मौलिक वर्णन न किया तो प्रकृति के अन्य प्रयोगों में भी उसका दौर्बल्य झलक जाएगा। प्रकृति का आलम्बन रूप में वर्णन करने पर कवि की दो स्थितियाँ हुआ करती हैं—

१ प्रकृति के प्रति उन्मुक्त प्रेम भाव की व्यंजना।

२ प्रकृति का बाह्य चित्रण।

आलम्बन रूप में प्रकृति के इस सूक्ष्म-चित्रण के कवि की सूक्ष्मदर्शिता के आधार पर ६ भेद होते हैं। उर्वशी में इन सभी के उदाहरण मिल जाते हैं।

(क) नाद-व्यंजना—प्रकृति स्वतः संगीतमयी है। इसमें कवि को चारों ओर नाना प्रकार की ध्वनियाँ सुनाई देती हैं जैसे पक्षियों का कल-कूजन भ्रमरों का गुंजार, लहरों की कल-कल वृक्षों का मर्मर स्वर आदि। 'उर्वशी' में भी नाद-व्यंजना मिलती है। यथा—

"शान्ति, शान्ति सब ओर किन्तु यह छनछन-छनछन-स्वन कैसा ?
मगन व्योम पर में ये कैसे नूपुर झनक रहे हैं।

× × ×

नर्तन कर रहे थे मयूर तट पर से आग लगा कर
मेघमन्द्र घुन-घुन-ध्वनि जलधारा में पद धरने की।

× × ×

झलमल झलमल सरित्सलिल यह ज्योत्स्ना की जाली से
लहरों पर छितरी-बिखरी आभा वह रजत किरण की
चहक-चहक उठना वह विहगों का निकुञ्ज पुञ्जों में
स्वागतालिनी में श्रद्धा से नमस्कार करती हूँ
अतिशय सौन्दर्यपूर्ण अम्बर इस महा मही को।

× × ×

इस प्रकार कवि ने अनुरणनात्मक शब्दों द्वारा प्रकृति का सजीव एवं मनोहारी वर्णन किया है।

(ख) प्रकृति का रूप-विस्तार—प्रकृति के रूप-विस्तार के लिए कवि को प्रकृति के परतम् के गहन ज्ञान से युक्त होना परमावश्यक है। रूप-विस्तार

में पर्वत, भूमि मैदान, वृक्ष पेड़ पौधे लता-पत्र, छाया समुद्र, झील नदियाँ आकाश, मेघ, बिजली सूर्य चन्द्रमा, उषा, सन्ध्या इन्द्रधनुष आदि के चित्र सम्मिलित हैं जिनका कवि उल्लेख मात्र नहीं करता, अपितु कवि कल्पना के द्वारा उनमें कमनीयता पैदा करता है। यथा—

"फूलों की नाव बहाओ री यह रात रुपहली आई
फूटी सुधा सलिल की धारा
डूबा नभ का कूल किनारा
सजल चाँदनी की सुमन्द लहरों में तैर नहाओ री।"

× × ×

'दूर-दूर तक फैल रही दूर्वों की हरियाली है
बिछी हुई इस हरियाली पर शबनम की जाली है।

× × ×

बिछा हुआ है जाल रश्मि का मही मौन सोती है।

उपर्युक्त चित्रण के आधार पर यह सहज स्पष्ट है कि कवि ने प्रकृति अवयवों का परिगणन मात्र नहीं किया अपितु अपनी सूक्ष्म कल्पना के द्वारा उनमें कमनीयता पैदा की है, उनको भाव के रंगों तथा कला की तूलिका द्वारा नए रंग दिए हैं।

(ख) गति-विधि का निरीक्षण— इसमें कवि वस्तु-व्यापारों की सूक्ष्म गति विधि का ऐसा अंकन करता है कि उससे उसकी (कवि की) दृष्टि की निरीक्षणशीलता सूचित हो। जब तक प्रकृति के प्रति राग नहीं होता तब तक यह कार्य सम्भव नहीं। उर्वशी में प्रकृति के अनेक ऐसे रूप भरे पड़े हैं। उदाहरणार्थ, दिनकर की 'निशा' के प्रति निरीक्षणशीलता का यह चित्र प्रस्तुत है—

'झलमलाते झिलमिल भावों का चमकीले स्वप्नों का
विपुल पुंज, एकान्त यामिनी आती है जाती है।
आती जब शर्वरी पोंछती नहीं तिमिर के सिर से
केवल तपन-चिह्न, केवल लोहित सपत्न किरणों के

चमचमाती निर्मल ज्योतिमय अपने तिमिरांचल से
कोलाहल व्यथा विषाद को भी समेट लेती है।

(ख) वर्णों या रंगों की पहिचान—कवि प्रकृति का प्रेमी होता है। वह अपनी प्रकृति प्रेमिका को विभिन्न वर्णों या रूपों रंगों में देखता है। चित्रण में कवि की भावना सूक्ष्म से सूक्ष्मतर हो जाती है। रंगों का वर्णन ही चित्रित करना पर्याप्त नहीं है अपितु जिनकी दृष्टि सूक्ष्म होकर रंगों के विभिन्न भेद-प्रभेदों छायाओं व मिश्रणों को टटोल कर निकालती है वे अधिक सच्चे कवि कहलाते हैं। प्रकृति में शोभा लाल से युक्त नारंगिया और नीला रंग अधिक मोहक एवं सजीव लगता है। विषय में उर्वशी का यह उदाहरण प्रस्तुत है—

"मेह-कालिन दीप्तिमा-युक्त गति भरी पर्वों के वश में
चल देती है जिनी कांति पीकर उस मैनाको की
जो समुद्र का जल पीकर अम्बर चमचमा रही है।

× × ×

"कह या शाम मुझे, इतनी सुन्दर होती है नारी?
लाल-लाल वे चरण कमल से कुंकुम से, जावक से
तन की रक्तिम कान्ति शुद्ध, ज्यों, धुली हुई पावक से।"

× × ×

"बजा व्योम-वीणा के तार
भरती हुम नीली झंकार।"

(ग) गन्ध की संवेदना—समुद्र के तट पर, प्रथम वर्षा के समय हल जुती धरती में सावन पातों की कड़ी धूप में जलते चंपकी लता-पत्रों व प्रभात-पवन से तथा पुष्पों से विशेष प्रकार की मधुर गन्ध निकलती है। कवि दिनकर का ध्यान इस ओर विशेष नहीं था। वन-वन पुष्पों की सौरभ का मर्जुन अवश्य मिल जाता है, लेकिन वह भी हमारे मन को पर्याप्त ... नहीं करता—

गन्ध के इस लोक से बाहर न जाना चाहता हूँ

× × ×

"मैं इसी मधुप की ताप-तप्त,

मधुमयी गन्ध पीने आयी।"

(घ) स्पर्श की संवेदना— त्वचा के माध्यम से प्राप्त मृदुल-तरल अनुभूतियाँ वाणी पाने के लिए संवेदनशील कवि के हृदय को गुदगुदा कर मचल उठती हैं। शरद-ऋतु की रश्मियाँ शीतकाल की दोपहरी की सुखद धूप प्रातः पवन श्याम सलोनी छाया व कनक-किरण आदि के स्पर्श पुलकायित करने वाले होते हैं। कवि ने चाँदनी रात का कितना मधुर, संवेदनपूर्ण स्पर्श किया है यह द्रष्टव्य है—

मुदित चाँद की अलकें चूमो

तारों की गलियों में घूमो,

झूल गगन-हिंडोरे पर किरणों के तार बढ़ाओ री

यह रात रुपहली आई।

२ उद्दीपन रूप

'प्रकृति का उद्दीपन के रूप में प्रयोग उसका एक परम्परागत व्यापक प्रयोग है। इसमें कवि का प्रकृति के प्रति स्वतन्त्र अनुराग व्यक्त न होकर मानव-सापेक्ष रूप ही प्रकट होता है। प्रकृति मानव के सुख में सुखी व दुख में दुखी दिखाई जाती है। उद्दीपन रूप में प्रकृति जड़ भी हो सकती है और चेतन भी।

यूं तो उर्वशी में प्रकृति के चित्रण उद्दीपन रूप में सैकड़ों प्रसंगों में वर्णित हैं मगर एक प्रसंग कवि ने बड़े आकर्षक ढंग से प्रस्तुत किया है। पुरूरवा पार्थिव शरीर के आलिंगन-परिरम्भण का मोह त्याग कर ऊर्ध्वलोक में उठना चाहते हैं। उर्वशी भला यह कैसे देख सकती थी? अतः पुरूरवा का ध्यान भंग कर उसे पुनः आलिंगन-पाश में बद्ध करने के लिए वह प्रकृति का अत्यन्त उद्दीपन रूप में वर्णन करती है। यहाँ कवि की शैली दर्शनीय है—

"जो यों नहीं, अरे, देखो तो उधर बड़ा कौतुक है

नगपति के चतुर्दिक समुज्ज्वल हिम-भूषित शृंगों पर

कौन नयी उज्ज्वलता की तूली सी फेर रहा है?
कुछ वृक्षों की हरित मौलि पर कुछ पत्तों से छन कर
छाँह देख नीचे मयंक की किरणें लेट गई हैं।
× × ×
चमक रही कर्पूर धूलि दिग्वधुओं के आनन पर
रजनी के अंगों पर कोई चन्दन लेप रहा है
× × ×
कम कर दी दूरता कौमुदी ने भू और गगन की
उठी हुई सी नहीं व्योम कुछ झुका हुआ लगता है।

इस प्रकार उर्वशी ने किरणों के धरती पर लेट जाने, रजनी रूपी नायिका के मुख पर चन्दन के लेप करने, धरती का कुछ ऊपर की ओर उठने तथा आकाश का धरती के ऊपर झुकने के द्वारा पुरूरवा के मानस में पुनः काम-व्यापारों को जागृत करने की सफल चेष्टा की है।

२) मानवीकरण रूप

"अमानव में 'मानव-गुणों' के आरोप करने की साधारण प्रवृत्ति या प्रक्रिया को मानवीकरण कहा जाता है। अर्थात् जब कवि प्रकृति के विभिन्न व्यापारों में व्यक्तिगत जीवन का आरोप कर सका है तो पशु पक्षी वृक्ष-लता चाँद-तारे सभी में उस मानव क्रिया-कलाप की झलक मिलती है। प्रकृति चित्रण के इसी रूप को मानवीकरण कहते हैं।

निशा को कवि ने एक सम्राज्ञी का रूप प्रदान किया है। उसकी अनुपम छटा देखिए—

'सम्राज्ञी विराट रूपी आते इसको देखा है
समारोह प्रांगण में पहने दुकूल तिमिर का
नखतों से खचित फूल-कीलित मालरें विभा की
धूप हुए चिकुर में सुरभित दाम श्वेत फूलों के।

इसी प्रकार—

"जब से तुम आयी, धरती पर फूल अधिक खिलते हैं
दौड़ रही कुछ नयी दीप्ति-सी शीतल हरियाली में।

अब हैं छुटी एक पलकों को ऐसा लगता है
जैसे कोई वस्तु हाथ से उनके निकल गई हो।'

× × ×

"स्नान किया होगा जितना अम्बुधि ने तुम्हें पंखा कर

— — —

शून्य हो गया होगा सारा हृदय महासागर का

× × ×

सीने से तरंगियाँ उछलती हुई सुहास छिपा कर
हर्ष वेग चलने लगती थीं और चकित इठलाकर

मानवीकरण के एक से एक उत्तम चित्र उर्वशी में मिल जाएंगे।

४ आलंकारिक विधान

अलंकरण रूप में प्रकृति का वर्णन सबसे अधिक हुआ है। कवि नर-नारी के सौन्दर्य को द्विगुणित करने के लिए अलंकारों का प्रयोग करता है। अलंकारों के लिए कवि को उपमानों का चयन स्थूल अथवा सूक्ष्म जड़ अथवा चेतन प्रकृति से ही करना पड़ता है। प्रकृति के माध्यम से लिए गये उपमानों से प्राकृत मानव के सौन्दर्य में चार चाँद लग जाते हैं।

दिनकर ने उर्वशी में आलंकारिक चित्रण की अतिशयता अवश्य की है मगर उसे अस्वाभाविक-सा कृत्रिम नहीं कहा जा सकता। प्रकृति का एक से एक आलंकारिक चित्रण अनुपम है। यथा—

उरु सघन परिपुष्ट मध्य कृश पृथुल नितम्ब भुजाएँ
वक्षस्थल उन्नत प्रशस्त कितना सुरम्य लगता था।
प्रभा-विभासित वक्ष-देश की मानो स्वयं शिखा हो।

(उत्प्रेक्षा)

× × ×

'यह शिखा-सा लाल ये अहृलाल तो मेरी भुजाएँ'।

(उपमा)

"शान्ति-शान्ति सब ओर, मंजु मानो चन्द्रिका मुकुर में
प्रकृति देख अपनी शोभा अपने को भूल गयी हो।"

(उत्प्रेक्षा)

— — —

'मुख-सरोज मुस्कान बिना आभा विहीन लगता है।'

(रूपक)

२ प्रतीक-विधान

मानव-मन का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने में प्रतीक-विधान का महत्वपूर्ण स्थान है। 'हिन्दी साहित्य कोश' में प्रतीक-वाद की परिभाषा इस प्रकार दी गई है— प्रतीकों के माध्यम से किसी विषय का प्रतिविधान करना प्रतीक-वाद कहलाता है। वैसे तो प्रतीक अनेक प्रकार के माने गए हैं परन्तु उनमें से मुख्य प्रकार तीन हैं—

१ भुवन के प्रतीक
२ भाव के प्रतीक
३ काम के प्रतीक

उर्वशी में अधिकतर 'काम के प्रतीकों' के दर्शन होते हैं। कवि ने यौवन तथा सौन्दर्य के अनेक नवीन प्रतीकों की योजना की है यथा वक्षस्थल के लिए स्वर्ण-घिसा मत्स्यों के लिए मालिन 'इथालु सम कपोल तथा अधर रक्त के लिए सूर्य तथा मधुरस के लिए चन्द्रमा के प्रतीकों की योजना अपने आप में नवीन है।

दीप की लौ चातक, किरण कमल चन्द्रमा मीन आदि पदार्थ क्रमशः प्रेम अथवा अतृप्त तृषा आनन्द का प्रकाश पवित्रता, शीतलता तड़फ आदि मानसिक स्थितियों के प्रतीक हैं जिनका 'उर्वशी' में स्थान-स्थान पर चित्रण किया गया है।

रहस्याभिव्यक्ति का रूप

जब कवि के चित्त में प्रकृति का रोम रोम इस प्रकार रम जाए कि उसे (प्रकृति के) अन्तस् में उसे (कवि को) अपूर्व सत्ता के दर्शन अथवा

उसका आभास होने लग जाए वहां प्रकृतिवादी रहस्यानुभूति होती है। 'उर्वशी' का तीसरा अंक तो इस रहस्यानुभूति की प्रवृत्ति से ओत-प्रोत है।

प्रकृति में रहस्य-सत्ता की अभिव्यक्ति के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

> रक्त की उत्तप्त लहरों की परिधि के पार
> कोई सत्य हो तो
> चाहता हूँ अब उसका जान लूँ
> पन्थ हो सौन्दर्य की आराधना का व्योम में यदि
> शून्य की उस रेख को पहचान लूँ

> "ये किरणें ये फूल, किन्तु अन्तिम सोपान नहीं हैं
> उठना होगा बहुत दूर ऊपर इनके तारों पर
> स्यात् उन्हें उस अम्बर तक जिसकी ऊंचाई पर से
> यह मृत्तिका विहार दिव्य किरणों का हीन लगेगा।"

> 'रुको पान करने दो शीतलता उत्पल कमल की;
> एक सघन क्षण में समेटने दो विस्तार समय का,
> एक पुष्प में भर त्रिकाल की सुरभि सूंघ लेने दो।

इसी प्रकार 'मिथ्या मोम-प्रामुति बन गए हैं' (पृष्ठ ६८) 'स्वप्न पुनः फिर नहीं' (पृ० ७१) तथा 'शिखरों में जो मौन' (पृ० ७८) आदि पद्यांश भी दर्शनीय हैं।

७ उपदेशात्मक रूप

कोरा एवं रूखा उपदेश किसी काम का नहीं। हां जब प्रकृति के उपकरणों के माध्यम से उन्हें नए सांचे में ढाल कर व्यक्त किया जाता है तब उसकी बहार ही और होती है तथा उसका प्रभाव भी अमिट होता है। उर्वशी में सूक्तियों के रूप में इसका सफल प्रयोग हुआ है—

> जितना ही जो जलधि रत्न-पूरित विक्रान्त अगम है
> उसकी बाड़वाग्नि उतनी ही अविश्रान्त दुर्दम है।

× × ×

"पानी का सर्वस्व रजत है
किन्तु, मौन कंचन है।

पृष्ठभूमि व वातावरण-सृष्टि का रूप

प्रबन्ध काव्यों में किसी गम्भीर स्थिति या प्रसंग के उपक्रम-स्वरूप तथा भावोत्कर्ष के लिए प्रकृति के द्वारा पृष्ठभूमि व वातावरण का भी निर्माण होता पाया है। पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति के ये चित्र अंक के प्रारम्भ अथवा अन्त में आते हैं।

उर्वशी में भी ऐसे प्रसंगों की बहुलता है। प्रथम अंक में प्रकृति का आलम्बन लेकर आगामी पुरूरवा उर्वशी की प्रेम-कथा का परिचय दे दिया गया है यथा—

'सारी देह समेट निविड़ आलिंगन में भरने को
गगन खोल कर बाँह विसुध वसुधा पर झुका हुआ है।

इसी प्रकार 'तृतीय अंक' के अन्त में कवि ने किसी नवीन पादप के जन्म का उल्लेख करके आगामी अंक में उर्वशी के शिशु होने का पूर्व-संकेत दे दिया है—

"हिम-स्नात सिक्त वल्लरी-पुजारिन को देखो
पति को फूलों का नया हार पहनाती है
कुंजों में जनमा है कम कोई नया कहीं
वन की प्रसन्न विहगावलि सोहर गाती है।'

९. कवि-समय का रूप

'कविगण कुछ प्राकृतिक पदार्थों का ऐसे रूप में भी वर्णन करते आए हैं जो वस्तुतः प्रकृति के क्षेत्र में नहीं दीख पड़ता जैसे—नदियों में कमल का खिलना चकोर का चिनगारियाँ चुगना चकवा-चकवी का रात्रि में वियुक्त होना आदि। इस रूप में केवल निश्चित पदार्थों का ही वर्णन किया जा सकता है, जिनके विषय में कवियों का समझौता सा हो गया है। इसीलिए इन्हें 'कवि-समय-सिद्ध कहा गया है। 'उर्वशी' में 'कवि-समय' के चित्र

उपलब्ध नहीं होते । अत यहां उनके सिद्धान्त पक्ष को स्पष्ट करना ही उद्देश्य था ।

निष्कर्ष

'उर्वशी' में दिनकर का यह प्रकृति-चित्रण देखने के पश्चात् चित्त में एक मूल तत्व का उद्भावन तो यह होता है कि राष्ट्रकवि गुप्त आदि की भांति दिनकर के मानस में बैठा हुआ कवि न तो अवरुद्ध हुआ है न उसकी गति धीमी पड़ी है तथा न ही समतल पृष्ठभूमि पर आई है अपितु वह तो निरन्तर विकासशील है। और, दूसरे इस काव्य के प्रणयन में कवि ने अपनी दिशा को ही बदल दिया। जहां कवि ने पूर्व रचनाओं में भूजल और भाव के भौतिक प्रतीकों का स्थापन किया था वहां उर्वशी में इन प्रतीकों से परे हटकर काम के जीवन्त प्रतीकों का उद्भावन किया। इससे सिद्ध होता है कि कवि की काव्य-मंजूषा नाना रंगावलियों से युक्त है। उसमें भावना के रत्न भरे हैं जिनको कवि ने कल्पना की तूलिका द्वारा नाना चित्रों में उपस्थित किया है।

उर्वशी में सौन्दर्य-तत्त्व

मनुष्य सौन्दर्योपासक प्राणी है। अनादिकाल से ही उसकी यह उपासना अनवरत गति से चली आ रही है। मानव-मन ने अब तक अनेक संस्कृतियों को बदलते अनेक शताब्दियों को करवटें लेते और अनेक विचार-धाराओं को विभिन्न प्रवाहों में बहते देखा है किन्तु उसकी इस उपासना में कोई अन्तर नहीं आया, सौन्दर्य के प्रति उसका अनुराग अक्षुण्ण बना रहा और भविष्य में भी बना रहेगा। यही कारण है कि वह अपने सभी कार्यों में चाहे वे बाह्य हों अथवा आन्तरिक, सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करने का यथाशक्ति प्रयास करता है। उसका यही प्रयास काव्य में भी परिलक्षित होता है।

सौन्दर्य का अर्थ

सौन्दर्य सुन्दर' शब्द की भाववाचक संज्ञा है। 'सुन्दर शब्द का अर्थ तीन प्रकार से हो सकता है—

१ 'सु' अर्थात् सुष्ठु या अच्छी प्रकार और उन्द् अर्थात् आर्द्र करना अर्थात् अच्छी प्रकार आर्द्र (गीला) या सरस करने वाला।

२ 'सु अच्छी प्रकार 'नन्दयति प्रसन्न करता है अर्थात् जो अच्छी प्रकार प्रसन्न करे।

३ 'सुन्दं राति इति सुन्दरम् अर्थात् जो सुन्द (कतनी) को लाए, वह सुन्दर कहलाता है। भाव यह है कि कैंची का सा तीक्ष्ण (गहरा) प्रभाव करने वाला तत्त्व सुन्दर है।

अतः कहा जा सकता है कि सौन्दर्य वह तत्त्व है जो सरसता प्रदान करने के साथ-साथ मन पर गहरा प्रभाव भी डालता हो।

काव्य और सौन्दय

काव्य का प्रयोजन भी सरसता के साथ-साथ मानव-मन पर गहरा प्रभाव डालना होता है। इसीलिए काव्य और सौन्दर्य का अटूट सम्बन्ध है। यह कहना अन्यथा न होगा कि काव्य का जन्म जिन अनुभूतियों से हुआ सौन्दर्य का उनमें प्रमुख स्थान है किन्तु काव्य का सौन्दर्य अत्यन्त विशद और व्यापक होता है। कवि आन्तरिक और बाह्य सौन्दर्य के इन दोनों पक्षों को ही अपनी कृति में संजोता है। काव्य के सौन्दर्य में वस्तु और अभिव्यंजना का समुचित संयोग होता है, अर्थात् काव्यकार अपने प्रतिपाद्य को तो सौन्दर्य-निधि बनाता ही है, प्रतिपादन के साधनों का भी सुरुप-यायन करता है। उसके काव्य में वे ही उपकरण ग्राह्य होते हैं जो स्वयं भी सुन्दर हों और कवि के प्रतिपाद्य को सौन्दर्यान्वित कर सकें। इसीलिए सत्य और शिव के साथ सौन्दर्य को भी काव्य का अपरिहार्य तत्त्व माना गया है।

सौन्दर्य के विविध रूप

सौन्दर्य का विस्तार अत्यन्त व्यापक है फिर भी स्थूलतः इसके चार भाग किये जा सकते हैं —

१ मानवीय सौन्दर्य
२ प्राकृतिक सौन्दर्य
३ वस्तुगत सौन्दर्य
४ कलागत सौन्दर्य

काव्य में न्यूनाधिक मात्रा में सौन्दर्य के ये चारों रूप उपलब्ध होते हैं क्योंकि काव्य सुन्दर उपकरणों के माध्यम से जीवन की अभिव्यक्ति है।

उर्वशी में सौन्दर्य-तत्त्व

दिनकर जितने ओज के कवि हैं उतने ही सौन्दय के भी हैं। इनकी दृष्टि में 'कला का सर्वोपरि धर्म सौन्दर्य है। यही कारण है कि इनकी अन्य कृतियों के समान उर्वशी में भी सौन्दर्य-तत्त्वों का पर्याप्त सन्निवेश हुआ है। इसमें सौन्दय के उपयुक्त चारों रूप आसानी से देखे जा सकते हैं।

१ मानवीय सौन्दर्य—मानवीय सौन्दर्य को दो वर्गों के अन्तर्गत विभाजित किया जा सकता है—पुरुष का सौन्दर्य और नारी का सौन्दर्य। इनके भी दो-दो उपभेद किये जा सकते हैं—आन्तरिक सौन्दर्य और बाह्य सौन्दर्य।

उर्वशी का नायक पुरूरवा है, जिसके माध्यम से विशाप रूप स पुरुष सौन्दर्य की अभिव्यक्ति हुई है। इस अभिव्यक्ति में उसके आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के सौन्दर्यों का निरूपण हुआ है।

आन्तरिक सौन्दर्य से तात्पर्य है भावों का सौन्दर्य। इसमें सन्देह नहीं कि पुरूरवा उदात्त भावों का व्यक्ति है। काव्यशास्त्र में नायक के माध्यम से पुरुष के इन आठ गुणों को सात्त्विक अथवा आन्तरिक माना गया है—

> 'शोभा विलासो माधुर्य गाम्भीर्यं स्थैर्यतेजसी।
> ललितौदार्यमित्यष्टौ सत्त्वजा पौरुषा गुणा ॥'

अर्थात् शोभा विलास माधुर्य गाम्भीर्य स्थिरता तेज ललित और उदारता पुरुष के ये आठ गुण सात्त्विक होते हैं। शोभा में नीच के प्रति घृणा और अधिक के प्रति स्पर्धा होती है तथा शौर्य और दक्षता में गुण भी होते हैं। विलास में चाल और दृष्टि धैर्यपूर्ण होती है और वचन सस्मित होते हैं। महान् सक्षोभ के कारण के उपस्थित होते हुए भी कोमल विकार का उत्पन्न होना माधुर्य कहलाता है। जिस गुण के प्रभाव से विकार दिखाई न पड़े उस गुण को गम्भीरता कहते हैं। विघ्नों के समूह के होते हुए भी अपने कार्य से अक्षम न होना स्थिरता गुण होता है। प्राणों की आपत्ति आने पर भी आक्षेप इत्यादि का न सहना तेज है। स्वाभाविक शृंगार और आकार की चेष्टा करने को ललित कहते हैं। वचनों के साथ जीवन-पर्यन्त सभी कुछ दे देना अथवा सज्जनों के अनुकूल रहना उदाहरण है। पुरूरवा में ये सभी आन्तरिक गुण मिलते हैं—

> ✓ 'पुकार हमारी सुनी एक राजा ने
> दौड़ पड़े वे सबल उर्वशी को अविलंब बचाने
> और उन्हीं नरवीर नृपति के पौरुष से भुजबल से
> मुक्त हुई उर्वशी हमारी उस दिन काल-कवल से।'

इन पंक्तियों में राजा का शोभा भाव वर्णित है। और भी —

> ✓ कार्तिकेय-सम शूर देवताओं के युद्ध-सम शाली
> रवि-सम तेजवन्त, सुरपति के सदृश प्रतापी मानी'

अमर-सदृश संग्रही ज्योतिमत् सुरत अभय-निज त्यागी
कुसुम-सदृश मधुमय मनोज्ञ, कुसुमायुध से अनुरागी।'

आन्तरिक सौन्दर्य की तरह पुरूरवा के बाह्य सौन्दर्य का वर्णन भी
ने किया है किन्तु वह अपेक्षाकृत बहुत कम है। यह वर्णन भी स्वयं पुरू
के शब्दों द्वारा ही व्यक्त हुआ है—

यह शिला-सा वक्ष ये चट्टान-सी मेरी भुजाएँ
सूर्य के आलोक से दीपित समुन्नत भाल
और प्राण का सागर अगम उत्ताल उच्छल है।

उर्वशी के सौन्दर्य निरूपण में कवि का मन खूब रमा है। यद्यपि
की आन्तरिक सौन्दर्य ही अधिक है पर बाह्य सौन्दर्य का भी पर्याप्त
हुआ है। यथा—

लाल लाल वे चरण कमल-से, कुंकुम-से जावक-से
तन की रक्तिम कांति शुद्ध ज्यों धुली हुई पावक से।
जग भर की माधुरी अरुण अधरों में धरी हुई-सी
आँखों में वारुणी रंग निद्रा कुछ भरी हुई-सी,
तन-प्रकांति मुकुलित अनन्त ऊषाओं की लाली-सी,
नूतनता सम्पूर्ण जगत की संचित हरियाली-सी।
पग पड़ते ही फूट पड़े विद्रुम प्रवाल धूलों से
जहाँ खड़ी हो वहीं व्योम भर जाय श्वेत फूलों से।

×　　　×　　　×

सुरपुर की कौमुदी कलित कामना इन्द्र के मन की
सिद्ध विरागी की समाधि में राग जगाने वाली
देवों के शोणित में मधुमय आग लगाने वाली
रति की मूर्ति, रमा की प्रतिमा तृषा विश्वमय नर की,
विधु की प्राणेश्वरी आरती-शिखा काम के कर की।

शील आदि गुण नारी के आन्तरिक सौन्दर्य के अन्तर्गत आते हैं। उर्व
म शील का अथाह सागर तरंगित है। वह प्रेयसी के रूप में प्रेम भाव से ओत
प्रोत है। वह अपने प्रेम के समक्ष अपना सर्वस्व बलिदान कर देती है—

'आ मेरे प्यारे तृषित ! श्रान्त ! अन्तःसर में मज्जित करके
हर लूँगी मन की तपन चाँदनी फूलों से सज्जित करके।
रसमयी मेघमाला बन कर मैं तुझे घेर छा जाऊँगी,
फूलों की छाँह-तले अपने अधरों की सुधा पिलाऊँगी'

नारी केवल कोमल कुसुम ही नहीं वरन् स्वाभिमानी कली भी होती है। उसमें जितनी प्रेम-भावना होती है उतना ही अपने सम्मान के प्रति विद्रोह भी होता है। उर्वशी में भी यही भावना दृष्टिगोचर होती है। उसका मत है कि यदि वह अपहृत की गई होती तो उसका अधिक सम्मान होता—

जो हो मैं आ गयी, किन्तु यह व्यथा ही जाता है,
अमरस्वर्ग से खींच मदन को कैसे निज बाहों में।
पर, इस आने में किंचित् भी स्वाद कहाँ उस सुख का,
जो सुख मिलता उन मनस्विनी वामलोचनाओं को
जिन्हें प्रेम से उद्वेलित विक्रमी पुरुष बलशाली
रण से लाते जीत या कि बल-सहित हरण करते हैं।

प्रेमिका के अतिरिक्त उर्वशी माँ भी है। उसका हृदय वात्सल्य भावों से परिप्लावित है। वह छिप छिप कर आयु को देखने के लिए वन में आती है और अंतिम दिन अपना सारा दुलार अपने प्रिय पुत्र पर उड़ेलकर भी अतृप्त ही बनी रहती है। वस्तुतः माँ के प्यार की कोई सीमा नहीं होती। आयु की भोली दृष्टि में उसे समस्त विश्व का वैभव दिखाई पड़ता है—

'अरी देखती नहीं लाल की नन्हीं-नन्हीं आँखों में
अब भी तो सुरपुर स्वप्न के सपने झलक रहे हैं ?
दुकुर-दुकुर सम्मुग्ध भाव से कैसे ताक रहा है ?
मानो हो अवतंस सब वर्णी समय देवों-सा।

'उर्वशी' में नारी का एक और रूप है जिसके माध्यम से कवि को नारी मन के सौन्दर्य को अंकित करने का अवकाश मिला है। वह है परिणीता का रूप। सुकन्या च्यवन-ऋषि की धर्मपत्नी है। पत्नी के लिए अपना पति ही सब कुछ होता है। उसे अपने पति पर गर्व होता है। यही परिणीता भावों की जन्मभूमि है। सुकन्या को भी अपने पति पर गर्व है—

पवन-सदृश संचारी, व्योमवत् मुक्त अलस निज रमायी
कुसुम-सदृश मधुमय, मनोज्ञ, कुसुमायुध से अनुरागी।

आन्तरिक सौन्दर्य की तरह पुरूरवा के बाह्य सौन्दर्य का वर्णन भी कवि ने किया है किन्तु वह अपेक्षाकृत बहुत कम है। यह वर्णन भी स्वयं पुरूरवा के शब्दों द्वारा ही व्यक्त हुआ है—

यह शिला-सा वक्ष ये चट्टान-सी मेरी भुजाएं
सूर्य के आलोक से दीपित समुन्नत भाल
और प्राण का सागर अगम उत्ताल उच्छल है।

उर्वशी के सौन्दर्य-निरूपण में कवि का मन खूब रमा है। यद्यपि इसका भी आन्तरिक सौन्दर्य ही अधिक है पर बाह्य सौन्दर्य का भी पर्याप्त अंकन हुआ है। यथा—

लाल लाल वे चरण कमल-से कुंकुम-से जावक-से
तन की रक्तिम कांति शुद्ध, ज्यों धुली हुई पावक से।
जगभर की माधुरी अरुण अधरों में धरी हुई-सी,
आँखों में वारुणी रंग निद्रा कुछ भरी हुई-सी,
तन-प्रकांति मुकुलित अनन्त ऊषाओं की लाली-सी,
नूतनता सम्पूर्ण जगत की संचित हरियाली सी।
पग पड़ते ही फूट पड़े विद्रुम प्रवाल धूलों से
जहाँ खड़ी हो वहीं व्योम भर जाय श्वेत फूलों से।

× × ×

सुरपुर की कौमुदी ललित कामना इन्द्र के मन की
सिद्ध विरागी की समाधि में राग जगाने वाली
देवों के शोणित में मधुमय आग लगाने वाली,
रति की मूर्ति रमा की प्रतिमा तृषा विश्वमय नर की,
विधु की प्राणेश्वरी आरती-शिखा काम के कर की।

शील आदि गुण नारी के आन्तरिक सौन्दर्य के अन्तर्गत आते हैं। उर्वशी में शील का अथाह सागर तरंगित है। वह प्रेयसी के रूप में प्रेम भाव से ओत प्रोत है। वह अपने प्रेम के समक्ष अपना सर्वस्व बलिदान कर देती है—

'आ मेरे प्यारे तृषित ! श्रान्त ! अन्तःसर में मज्जित करके
हर लूँगी मन की तपन चाँदनी फूलों से सज्जित करके।
रसमयी मेघमाला बन कर मैं तुझे घेर छा जाऊँगी,
फूलों की छाँह-तले अपने अधरों की सुधा पिलाऊँगी'

नारी केवल कोमल कुसुम ही नहीं वरन् दहकती कली भी होती है। उसमें जितनी प्रेम भावना होती है उतना ही अपने सम्मान के प्रति विद्रोह भी होता है। उर्वशी में भी यही भावना दृष्टिगोचर होती है। उसका मत है कि यदि वह अपहृत की गई होती तो उसका अधिक सम्मान होता—

सो तो मैं आ गयी, किन्तु यह वैसा ही आना है,
अयस्कान्त से खींच अयस को जैसे मिल बाँहों में।
पर, इस आने में किंचित् भी स्वाद कहाँ उस सुख का,
जो सुख मिलता उन मनस्विनी वामलोचनाओं को
जिन्हें प्रेम से उद्वेलित विक्रमी पुरुष बलशाली
रण से लाते जीत या कि बल-सहित हरण करते हैं।

प्रेमिका के अतिरिक्त उर्वशी माँ भी है। उसका हृदय वात्सल्य भावों से परिप्रोत है। वह छिप छिप कर आयु को देखने के लिए वन में आती है और अंतिम दिन अपना सारा दुलार अपने प्रिय पुत्र पर उड़ेलकर भी अतृप्त ही बनी रहती है। वस्तुतः माँ के प्यार की कोई सीमा नहीं होती। आयु की भोली दृष्टि में उसे समस्त विश्व का वैभव दिखाई पड़ता है—

'अरी देखती नहीं लाल की नन्हीं-नन्हीं आँखों में
अब भी तो सुरम्य स्वर्ग के सपने झलक रहे हैं ?
टुकुर-टुकुर तन्मय भाव से कैसे ताक रहा है ?
मानो हो सर्वज्ञ सर्वदर्शी समर्थ देवों-सा।

'उर्वशी' में नारी का एक और रूप है जिसके माध्यम से कवि को नारी मन के सौन्दर्य को अंकित करने का अवकाश मिला है। वह है परिणीता का रूप। सुकन्या च्यवन-ऋषि की धर्मपत्नी है। पत्नी के लिए अपना पति ही सब कुछ होता है। उसे अपने पति पर गर्व होता है। यही परिणी— भावों की जन्मभूमि है। सुकन्या को भी अपने पति पर गर्व है—

'किन्तु, जिजीविषे ! मुझको अपनी अमूर्त सत्ता पर
ग्लानि नहीं, निस्सीम गर्व है।'

२ प्राकृतिक सौन्दर्य—सौन्दर्य का दूसरा रूप है प्राकृतिक सौन्दर्य। इस रूप के अन्तर्गत प्रकृति के सौन्दर्य का वर्णन होता है। अनादिकाल से ही प्रकृति अपने सौन्दर्य का अमित भण्डार मानव के सामने खोलती आई है और मानव यथाशक्ति उसके सौन्दर्य को ग्रहण करके अपनी सौन्दर्य-तृषा को शमित करता आया है। दिनकर के काव्यों में प्राकृतिक सौन्दर्य को पर्याप्त स्थान मिला है और 'उर्वशी' में तो यह स्थान और भी विस्तृत हो गया है क्योंकि अन्य काव्यों की अपेक्षा कवि को इस काव्य में प्रकृति के रम्य रूपों को अंकित करने का अधिक अवसर मिला है।

'उर्वशी' का प्रारम्भ ही प्राकृतिक सौन्दर्य से हुआ है। बसन्त ऋतु में शुक्ल पक्ष की चाँदनी रात में प्रकृति अपनी शोभा की पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है। इसी पराकाष्ठा को देखकर 'उर्वशी' का कवि कह उठता है—

नीचे पृथ्वी पर वसन्त की कुसुम-विभा छाई है
ऊपर है चन्द्रमा द्वादशी का निर्मेघ गगन में।
खुली नीलिमा पर विकीर्ण तारे यों दीप रहे हैं,
चमक रहे हों नील चीर पर बूटे ज्यों चाँदी के;
या प्रशान्त, निस्सीम जलधि में जैसे चरण-चरण पर
नील वारि को फोड़ ज्योति के द्वीप निकल आये हों।

× × ×

'इन द्वीपों के बीच चन्द्रमा मन्द-मन्द चलता है,
मन्द-मन्द चलती है नीचे वायु गन्ध मधुवन की;
मन-विह्वल कामना प्रेम की, मानो अलसायी-सी
कुसुम-कुसुम पर विरल मन्द मधु-ध्वनि में घूम रही हो।'

प्रकृति की यह शोभा इतनी अपार और मादक है कि इसने जगत को ही मुग्ध नहीं किया वरन् वह स्वयं अपना आपापन भूल गई—

'स्वच्छ कौमुदी में प्रशान्त जगती यों चमक रही है
तमस रूप तज कर जैसे हो समा गई दर्पण में।

शान्त शान्ति सब ओर मंजु, मानो चन्द्रिका-मुकुर में
प्रकृति देख अपनी शोभा अपने को भूल गई हो।

कहने का अभिप्राय यह है कि 'उर्वशी' में प्रकृति के उस रम्य रूप को अपनाया गया है जिसमें प्रकृति का सौन्दर्य सहज छलकता हुआ दिखाई देता है।

३ वस्तुगत सौन्दर्य—सौन्दर्य का तीसरा रूप है वस्तुगत अथवा वर्ण्य विषय का सौन्दर्य। किसी भी उत्तम काव्य के लिए यह आवश्यक माना गया है कि उसकी कथावस्तु उदात्त हो। कथावस्तु की उदात्तता ही उसका सौन्दर्य है। इसी सौन्दर्य की सुरक्षा के लिए काव्याचार्यों ने एक मत से यह घोषणा की है कि उत्तम काव्य की कथावस्तु प्रख्यात हो और उसकी परिणति धर्म, अर्थ काम अथवा मोक्ष में हो।

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि 'उर्वशी' की कथावस्तु उदात्त है। यह इतनी प्रख्यात है कि वेद-काल से लेकर भारतीय कवियों के हृदय को छूती रही है। इसकी सुन्दरता या प्रभविष्णुता बनाये रखने के लिये कवि ने सर्वत्र सजग योजना की है। इसके नायक और नायिका भी उन सभी गुणों से समन्वित हैं जो एक उदात्त कथावस्तु के नायक और नायिका के लिए अपेक्षित हैं।

यह कथा केवल कल्पना के सुनहले पंखों पर वायुमण्डल आकाश में उड़कर ही मग्न नहीं कर देती वरन् मानव जीवन के निगूढ़ रहस्यों में पैठकर अपनी सुन्दरता में चार चांद लगा देती है। यह निगूढ़ रहस्य है काम का स्वरूप। मानव जीवन में काम की समस्या जितनी सहज और स्वाभाविक है, उतनी ही निगूढ़ और रहस्यमयी भी है। काम ही मनुष्य को गिराकर पशुता के स्तर तक पहुंचा देता है और यही उसे उठाकर देवत्व की श्रेणी में स्थित कर देता है। अतः काम का उदात्तीकरण मानव-जीवन की सर्वोत्तम सफलता है और यही उसके जीवन का ध्येय है।

यही है प्रस्तुत काव्य का वर्ण्य-विषय जो अपनी व्यापकता तथा अनिवार्यता के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका फल काम-प्राप्ति में दिखाया गया है

जो अपनी चरम कोटि पर पहुँच कर मानव को वैराग्य की भावनाओं की ओर उन्मुख कर सकता है।

इतनी महती भावनाओं से परिप्रोत वस्तु में कितना सौन्दर्य है इसकी कल्पना करना भी आसान नहीं है।

४ कलागत सौन्दर्य—कलागत सौन्दर्य से तात्पर्य अभिव्यंजना के सौन्दर्य से है। विषय अथवा प्रतिपाद्य चाहे कितना सौन्दर्य-युक्त हो यदि उसकी अभिव्यक्ति में सौन्दर्य नहीं है तो उसका प्रभाव निष्प्राण हो जाता है। इसीलिए सफल कवि जितना प्रतिपाद्य के सौन्दर्य का ध्यान रखते हैं, उतना ही प्रतिपादन अथवा अभिव्यंजना के प्रति जागरूक रहते हैं। अभिव्यंजना के सौन्दर्य के अन्तर्गत मुख्यतया शब्द-सौन्दर्य, नाद-सौन्दर्य संगीत-सौन्दर्य और अलंकार-सौन्दर्य का विवेचन अपेक्षित होता है।

शब्द-सौन्दर्य का आधार है भावानुकूल शब्दों का चयन। हिन्दी-साहित्य में पन्त जी अपनी इस प्रवृत्ति के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं। दिनकर में भी शब्द चयन की क्षमता कम नहीं है। यथा—

> कौन भामिनी है जो संयत पुत्र और प्रियतम में
> किसी एक को लेकर सुख से आयु बिता सकती है?
> कौन पुरन्ध्री तज सकती है पति के लिए तनय को?
> कौन सती सुत के निमित्त स्वामी को त्याग सकेगी?

इन पंक्तियों में भामिनी पुरन्ध्री और सती शब्दों का प्रयोग कवि की सूक्ष्म शब्दार्थ-विज्ञता का परिचायक है।

शब्दार्थ की सूक्ष्मता के साथ-साथ कवि को शब्द-नाद का ज्ञान होना भी आवश्यक है। शब्द-नाद से अर्थ-साम्य की जो ध्वनि गुंजरित होती है उससे प्रभाव कई गुना बढ़ जाता है। यथा—

> "शान्ति शान्ति सब ओर किन्तु यह कणन-कणन स्वन कैसा?
> अतल व्योम-उर में ये कैसे नूपुर झनक रहे हैं?"

यहाँ पर 'कणन-कणन' से नूपुरों के स्वर गुंजरित हो उठे हैं।

साहित्य में संगीत का विशेष महत्व है। भर्तृहरि ने तो संगीत से विहीन

मनुष्य को बिना सींग-पूंछ का पशु बताया ही है महाकवि शेक्सपीयर ने उसे राजद्रोह और षड्यन्त्र का पात्र माना है। संगीत दो प्रकार का होता है—शब्द-संगीत और स्वर-संगीत। शब्द-संगीत में लय के साथ स्वर-साम्य होता है। स्वर-संगीत में स्वर-साम्य अपेक्षित नहीं। उर्वशी में दोनों प्रकार के संगीत मिलते हैं। यथा—

> जब तक यह पावक शेष तभी तक सखा-मित्र त्रिभुवन तेरा,
> चलता है भूतल छोड़ बादलों के ऊपर स्यन्दन तेरा।
> जब तक यह पावक शेष तभी तक सिन्धु समादर करता है
> अपना समस्त मणि रत्न-कोष चरणों पर लाकर धरता है।
>
> —शब्द-संगीत

> 'अप्रतिम सुख दोनों विक्रम हैं हरण हो कि मिलाउन
> और हरण करता न किसका ? उस सौन्दर्य सुधा का
> जो देवों की शान्ति इन्द्र के दृग की शीतलता थी।'
>
> —स्वर-संगीत

अलंकार-सौन्दर्य का अभिप्राय है अलंकारों का सहज तथा स्वाभाविक प्रयोग। काव्य में अलंकारों का क्या स्थान है ? इस प्रश्न के उत्तर में दो मत हो सकते हैं, किन्तु काव्य में अलंकारों के सहज और स्वाभाविक प्रयोग से जो सौन्दर्य आता है उसे कोई भी अस्वीकृत नहीं कर सकता। अलंकारों के दो भेद हैं—शब्दालंकार और अर्थालंकार। सफल कवि दोनों प्रकार के अलंकारों से ही अपनी अभिव्यंजना का सौन्दर्य बढ़ाता है। 'उर्वशी' में ये दोनों प्रकार के अलंकार मिलते हैं। यथा—

> 'खुली नीलिमा पर विकीर्ण तारे यों दीप रहे हैं
> चमक रहे हों नील चीर पर बूटे ज्यों चांदी के।
>
> —अनुप्रास शब्दालंकार

> शान्ति-शान्ति सब ओर मंजु, मानो चन्द्रिका मुकुर में
> प्रकृति देख अपनी शोभा अपने को भूल गई हो।
>
> —उत्प्रेक्षा अर्थालंकार

सौन्दर्य की व्यापकता

सौन्दर्य की व्यापकता का वर्णन करना भारतीय कवियों की विशेषता रही है। गोस्वामी तुलसीदास ने सीता के सौन्दर्य को इतना व्यापक बताया कि समूचे संसार में उसी के सौन्दर्य का प्रतिबिम्ब दिखा दिया। सूफ़ी-कवि जायसी ने पद्मावती के सौन्दर्य से ही सूर्य और चन्द्रमा को दीपित बताया। यही परम्परा दिनकर के सौन्दर्य-विवेचन में परिलक्षित होती है। उर्वशी कहती है—

> कब था ऐसा समय कि जब मेरा अस्तित्व नहीं था ?
> कब आयेगा वह भविष्य जिस दिन मैं नहीं रहूँगी ?
> कौन पुरुष जिसकी समाधि में मेरी झलक नहीं है ?
> कौन त्रिया, मैं नहीं राजती हूँ जिसके यौवन में ?
> कौन लोक जो जाँचती नहीं मेरी लहरियाँ जहाँ पर ?
> कौन मेघ जिसको न तेज मैं अपनी बना चुकी हूँ ?

अपनी इसी व्यापकता के कारण सौन्दर्य जब धरातल से उठकर आत्मा के उस धरातल को छू पाता है जहाँ सीमा के बन्धन नहीं होते और जहाँ सौन्दर्य में इतना बल आ जाता है कि रूपसी नारी का स्वर्णांचल सातों अम्बरों तक उड़ने लगता है—

> 'सिन्धु की लहरों के समान सौन्दर्य-लहर में भी है बल
> सातों अम्बर तक उड़ता है रूपसी नारी का स्वर्णांचल ।

६

उर्वशी में सांस्कृतिक तत्त्व

सभ्यता और संस्कृति एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। इन दोनों में आन्तरिक अन्योन्याश्रय है। यदि सभ्यता शरीर है तो संस्कृति उसमें निवास करने वाली आत्मा का प्रतिरूप है। पाणिनी के अनुसार सभा में साधु आचरण करने वाले को सभ्य कहा जाता है। 'सभ्यता' सभ्य की भाववाचक संज्ञा है। संस्कृति का अर्थ है सम्यक् उन्नति अथवा क्रिया। इस प्रकार सभ्यता की अपेक्षा संस्कृति का क्षेत्र अधिक व्यापक है। समाज में ठीक ढंग से उठने, बैठने रहने तथा बात करने को सभ्यता कहते हैं। संस्कृति का क्षेत्र इससे बहुत अधिक व्यापक है। यदि एक ही वाक्य में इन दोनों की परिभाषा की जाय तो मनुष्य की भौतिक क्षेत्र की उन्नति सभ्यता एवं मानसिक क्षेत्र की प्रगति संस्कृति कहलाती है। दूसरे शब्दों में संस्कृति वह सूक्ष्म भावनात्मक तत्त्व है, जो हृदय की प्रेरणा से बाह्य आचारों में प्रस्फुटित होकर सूक्ष्मता के ही अधिक निकट रहता है और सभ्यता वह तत्त्व है, जो हृदय की अपेक्षा बुद्धि से अधिक सम्बन्ध रखता है। उसकी जड़ें सूक्ष्म की अपेक्षा स्थूल में अधिक गहरी उतरी हुई होती हैं, अर्थात्—वह भौतिकता की ओर अधिक झुकी होती है, इसलिए संस्कृति की अपेक्षा सभ्यता अधिक परिवर्तनशील है।

लोक-जीवन और संस्कृति—

संस्कृति के वास्तविक दर्शन हमें लोक-जीवन में ही होते हैं। आधुनिक सभ्यता के बीच में रंगे हुए लोग जिन्हें रूढ़ियाँ तथा अन्धविश्वास कहते हैं, असली अर्थ में वही सच्ची संस्कृति है। इन रूढ़ियों एवं परम्पराओं के पीछे जो एक महान् सत्य एवं वैज्ञानिकता छिपी हुई थी उसे तो आज का सभ्य कहलाने वाला पुरुष भूल गया है और बिना सोचे-समझे उसकी निन्दा करता है। उदाहरण के लिए हमारे देश में शव को चिता में जलाने से पूर्व जल में

तीन डुबकियाँ लगवाते हैं। लोग तो इसे अंधविश्वास कह देते हैं मगर असलियत यह है कि कभी-कभी ऐसा देखा गया है कि शव में प्राण-वायु शेष रहता है जो जल के स्पर्श से जागृत हो जाता है। इस प्रकार मनुष्य जीव-हत्या से बच जाता है। इसी प्रकार गाँवों में स्त्रियाँ विवाह-शादी के अवसर पर अनेक गीत गाती हैं तथा नवरात्रों के अवसरों पर सांझी आदि रखती हैं जिनसे देखा जाय तो साहित्य एवं चित्रकला आदि का काफी विकास होता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्राचीन यथार्थ संस्कृति का रूप ग्रामों में ही मिलता है।

साहित्य और संस्कृति—

कवि अथवा साहित्यकार बेतार के तार के ग्राहक-यन्त्र के समान है। जिस प्रकार ग्राहक-यन्त्र सम्पूर्ण वायुमण्डल में से अपने मतलब की सूचनाओं को ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार कवि भी अपने समय के वायुमण्डल को अपनी सूक्ष्म दृष्टि से देखता है और उसे अपने दृष्टिकोण से अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है। सच्चा कवि जीवन की वास्तविकताओं को जड़ से पकड़ता है और कल्पना का आधार देकर उसमें मौलिकता प्रदान करता है। वैसे संस्कृति का सच्चा स्वरूप तो लोक-कवि की रचना ही में मिलेगा लेकिन जीवन के गूढ़ मानसिक सत्यों को जानने वाला कवि भी अपने काव्य में वर्णित आख्यान के आधार पर उस देश की सामाजिक राजनीतिक आर्थिक एवं नैतिक परिस्थितियों का चित्रांकन करता है।

वेद-पुराण-कालीन संस्कृति—

चूँकि दिनकर जी की 'उर्वशी' कृति के आख्यान का मूलाधार वेद-पुराण कालीन संस्कृति है, अतः तत्कालीन संस्कृति की पृष्ठ-भूमि को जान लेना आवश्यक है जिससे काव्य में संस्कृति के मूल तत्वों को सरलता से घटाया जा सके।

१ सामाजिक परिस्थितियाँ—वैदिक युग में समाज का आधार परिवार था। दो वर्ण थे—आर्य और दास। ऋषियों में आश्रम-व्यवस्था थी। मनुष्य

के जीवन को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास इन चार आश्रमों में बांट रखा था। महाभारत के समय वर्णव्यवस्था तो थी किन्तु जात-पांत नहीं थी। ब्राह्मण,क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र कर्मानुसार माने जाते थे जन्मानुसार नहीं। उस समय समाज में आठ प्रकार के विवाह प्रचलित थे—ब्राह्म विवाह, प्राजापत्य विवाह आर्ष दैव आसुर गान्धर्व राक्षस और पैशाच। वैदिक युग में स्त्रियों का बड़ा मान तथा आदर था किन्तु पौराणिक युग में स्त्रियों की स्थिति समाज में गिर रही थी। वे पुरुषों की सम्पत्ति समझी जाने लगी थीं।

२ धार्मिक परिस्थितियाँ—वैदिक काल में वस्तु-शक्ति की पूजा यज्ञों में आहुति डालकर की जाती थी। एक ही ईश्वर का रूप प्रकृति की नाना शक्तियों में अग्नि सूर्य, वायु, जल, आकाश तथा पृथ्वी में विभिन्न रूपों में चमक रहा है। इन्द्र अग्नि वरुण तथा सूर्य की स्तुति होती थी। महाकाव्य युग में धर्म में बड़ा अन्तर आ गया देवी-देवताओं की पूजा शुरू हो गई थी। पंचयज्ञ (देवयज्ञ ऋषियज्ञ पितृयज्ञ नृयज्ञ तथा भूतयज्ञ) होते थे। राजा लोग राजसूय और अश्वमेध तथा पुत्रेष्टि यज्ञ करते थे। पुनर्जन्म पर पूर्ण विश्वास था। पौराणिक युग में गौ-ब्राह्मण तथा ऋषियों की प्रतिष्ठा वेद की प्रामाणिकता परलोक और पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर बहुत बल दिया गया था।

३ राजनीतिक परिस्थितियाँ—वैदिक युग में शासन-व्यवस्था बहुत उन्नत थी। आर्य-जाति कई समूहों में बटी हुई थी। इनका मुखिया राजा होता था। यह प्रायः वंश क्रमागत होता था किन्तु उस समय प्रत्येक राजा को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि वह प्रजा का भली भांति पालन करेगा। प्रजा तथा राजा के नियंत्रण के लिये एक समिति होती थी। राज्य के मुख्य अधिकारी पुरोहित सेनापति तथा ग्रामीण होते थे। महाकाव्य युग में भी राजतन्त्र शासन प्रणाली प्रचलित थी। राजा वंश-क्रमागत होता था। ब्राह्मण एवं ऋषियों का राजा आदर करता था। प्रत्येक राजा का यह कर्तव्य था कि वह निर्बलों पर अत्याचार न करे, सीमा का अतिक्रमण न करे और धन,

मन तथा वचन से प्रजा के हित की कामना करे। पौराणिक युग में राजतन्त्र का पूर्ण विकास हो गया था।

इसके अतिरिक्त तत्कालीन पौराणिक कथाओं, उत्सवों, विभिन्न संस्कारों (नामकरण, गोचारण यज्ञ, पितृपूजा याचकों को दान आदि), शृंगार तथा वेशभूषा आदि का भी संस्कृति में प्रमुख महत्त्व है।

उर्वशी और संस्कृति

अब देखना यह है कि कवि ने उर्वशी में वेद-पुराण-कालीन संस्कृति का कितना निर्वाह किया है।

सामाजिक परिस्थितियाँ—उर्वशी में 'सामाजिक परिस्थितियों' का पर्यवेक्षण करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकलता है कि समाज में आश्रम-व्यवस्था थी। आठ प्रकार के विवाहों में उस समय ब्राह्म विवाह (पुरूरवा का औशीनरी से विवाह) गान्धर्व तथा राक्षस विवाह प्रचलित थे। पुरूरवा का गन्धमादन पर्वत पर उर्वशी के साथ जाना और परस्पर प्रेम में आबद्ध होकर विवाह करना गान्धर्व विवाह है लेकिन उर्वशी के मुख से कवि ने इस बात का भी संकेत किया है कि उस समय राक्षस-विवाह भी होता था जिसके अनुसार जबरदस्ती कन्या का अपहरण कर लिया जाता था। यथा—

'जिन्हें प्रेम से चाहते जिनको पुरुष बलशाली
रथ में डाले जीत या कि बल-सहित हरण करते हैं।

× × ×

हरण किया क्यों नहीं जीत लाने में यदि संशय था।

औशीनरी के माध्यम से कवि ने तत्कालीन 'नारी-समाज' की दयनीय स्थिति का चित्र खींचा है—

"अवलम्ब है सबको मगर नारी बहुत असहाय है।
दुख दर्द जतलाओ नहीं
मन की व्यथा बाँचो नहीं
नारी उठे भी हूक मन में जीभ पर लाओ नहीं!"

× × ×

"स्वप्न छोड़ विधि ने सिरजा क्या और भाग्य नारी का?"

× × ×

नारी जिया नहीं यह केवल क्षमा शान्ति करुणा है।

× × ×

हम हो जाती हैं कृतार्थ अपने अधिकार गवाँ कर।

इसके अतिरिक्त तत्कालीन समाज में 'विभिन्न संस्कार' थे जिनका तत्कालीन समाज बड़ी श्रद्धा से पालन करता था यथा—

(i) शिशु का पोषारम्भ—

फिर कुछ दिन में और तनिक
बढ़ कर प्रति दिन आयेगा
होम धनुओं को लेकर
गोचर-अनुकूल विपिन में।

(ii) वेद-पाठ—

फिर पवित्र होकर महर्षि
के साथ यज्ञ-वेदी पर
बैठ हमारा लाल मंत्र—
पढ़-पढ़ कर हवन करेगा।

(iii) पितृ-पूजा तथा श्राद्ध—

"हतपुत्र मैं पुज्यपदों में नमस्कार करता हूँ।

(iv) याचकों को दान—

द्वार खोल दी कोष भवन का
बहु श्री और अन्नों से
जितना भी चाहें, सुजन—
पाकर ले जा सकते हैं।

(v) जादू-टोने के रूप में मंगल-कलश को शुभदायक मानना—

या कोई अपनी उन्मना बैठी जाग रही हूँ

× × ×

सिर की ओर कनकमय मंगल निराजन सजाकर।

धार्मिक परिस्थितियाँ—उर्वशी में राजा प्रजा तथा ऋषि-ब्राह्मणों की यज्ञों के प्रति श्रद्धा तथा प्रकृति को सम्पूर्ण शक्ति-सम्पन्न बताया गया है। पुरूरवा द्वारा पुत्रकामना के लिए नैमिषेय यज्ञ करना इस बात का प्रमाण है—

'एक वर्ष पर्यन्त गन्धमादन पर तुम विचरेंगे
प्रत्यागत हो नैमिषेय नामक शुभ याग करेंगे।'

प्रकृति में ईश्वर की अनन्य शक्ति का दर्शन करना हो तो तीसरे सर्ग को कहीं से पढ़ देखिये उसका ठोस प्रमाण मिल जायेगा। वैदिक काल में इन्द्र, अग्नि, वरुण तथा सूर्य की स्तुति होती थी। कवि ने भी इसका पूर्ण निर्वाह किया है—

कुसुम करें अर्चना नक्षत्रगण उतर व्योम-मंडल से
अभिषुत सोम ग्रहण करने को आते रहें भुवन में।
पवन रहें प्रज्वलित निरन्तर आहवनीय अनल को
रहे दृष्टि हम पर अभीष्ट-वर्षी अमोघ मघवा की।

अभीष्ट प्रसंग न आने के कारण कवि ने पंचयज्ञ तथा राजसूय यज्ञ आदि का उल्लेख नहीं किया है। हाँ स्थान-स्थान पर पुनर्जन्म की महत्ता, गो-ब्राह्मण की प्रतिष्ठा आदि का वर्णन है—

(i) परलोकवाद या पुनर्जन्मवाद—

तुम्हें खोजता फिरा तैरकर
बारम्बार मरण को
जन्मों के अनेक कुंजों
वीथियों प्रार्थनाओं में।

× × ×

मेरी ही थी तपन जिसे फूलों के कुंज-भवन में
जन्म जन्म से तुम आलिंगन से हरती आयी हो।

(ii) नीचे की चार पंक्तियों में गौओं के प्रति दया भाव तथा ब्राह्मणों एवं ऋषियों के प्रति सम्मान का व्यावहारिक भाव वर्णित है—

फिर कुछ दिन में और अधिक बढ़ कर प्रतिदिन आएगा
होम पशुओं को लेकर गोचर-अनुकूल विपिन में

और साँझ के समय चराकर उन्हें लौट आएगा
सिर पर ईंधन बोझ लिए, कुश, दर्भ और समिधा का।

राजनीतिक परिस्थितियाँ—वैदिक-युगीन शासन-व्यवस्था की भाँति पुरूरवा की शासन-व्यवस्था बड़ी उन्नत दिखलाई गई है। वेद-पुराण कालीन राजनैतिक स्थिति-विधि का उर्वशी में चित्रण देखिए—

(i) राजा वंश क्रमागत होता था। पुत्रहीन होने पर राजा की यह चिन्ता इस तरह पर पूर्णतः प्रकाश डालती है—

पुत्र ! पुत्र ! अपने गृह में क्या दीपक नहीं जलेगा ?
दैव ! दिव्य यह ऐल वंश क्या आगे नहीं चलेगा ?

(ii) राजा प्रजा के हित का अहर्निश आकांक्षी रहता था। वह न्याय-प्रिय तथा दूसरे देश की सीमाओं का अनतिक्रमण करने वाला होता था।

उर्वशी के मुख से आयु के विषय में कहलाई गई निम्न पंक्तियाँ देखिए—

जब होगा यह भूप प्रचुर धन-धान्यवती भू होगी
रोग, शोक परिताप पाप वसुधा के घट जाएँगे।

दूसरे देश की सीमाओं के अनतिक्रमण के सम्बन्ध में पुरूरवा के मुख से कही गई निम्न पंक्तियों को देखिये—

नहीं बढ़ाया कभी हाथ पर के स्वाधीन मुकुट पर
न तो किया संघर्ष कभी पर की वसुधा हरने को।

(iii) राज्य के मुख्य अधिकारी सेनापति पुरोहित तथा ग्रामीण होते थे। उर्वशी में इन तीनों की संगति पाँचवें सर्ग में दिखाई है। सभी सभासद के रूप में ग्रामणी, पुरोहित 'विश्वमना' तथा महामात्य का इस सर्ग में विस्तृत परिचय दिया गया है।

(iv) राजा ऋषि तथा ब्राह्मण का सम्मान करता था—

पुरोहित के दिव्य तप बल मिलते हैं राजा को
द्विजपुंगव ! पूज्य पदों में नमस्कार करता हूँ।

सामाजिक राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के अतिरिक्त कुछ अन्य तथ्य भी हैं जो तत्कालीन संस्कृति का बोध करवाते हैं। यथा—

क—पौराणिक कथायें

१०

उर्वशी में नारी का स्वरूप

साहित्य और समाज का अटूट सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरे को प्रभ
भी करते हैं और स्वयं भी प्रभावित होते हैं। यदि समाज साहित्य
सृजन-सामग्री देता है तो साहित्य उस सामग्री के संयोजन से समाज
चित्रण करके उसका मार्गप्रदर्शन भी करता है। इसीलिए कोई भी जाग
साहित्यकार, चाहे वह अपनी कृति में किसी भी युग का चित्रण कर रहा
अपने समाज से आँखें मूंद कर साहित्य की रचना नहीं कर सकता।

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि दिनकर जागरूक साहित्यकार हैं।
चाहे जिस युग को अपने काव्य का प्रतिपाद्य बनायें किन्तु इनकी दृ
सदैव अपने युग पर रहती है। उर्वशी में नारी के स्वरूप-चित्रण में भी इन
यह प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। आज का युग हिन्दी-साहि
के उन युगों से एकदम भिन्न है जब नारी को केवल काम की पुतलि
और बाह्य सौन्दर्य की निधि माना जाता था। जब कवियों की दृष्टि ना
के केवल शरीर तक ही पहुंच पाती थी उसकी आत्मा में पैठने की कवियों
शक्ति नहीं थी। आज का कवि नारी की आत्मा में पैठकर उसके वास्तवि
स्वरूप का विश्लेषण और विवेचन करता है आज के समाज में नारी क
महत्वपूर्ण स्थान निर्विवाद रूप से स्वीकृत किया जा चुका है तभी तो दिनक
ने कहा है—

"नारी के भीतर एक और नारी है जो अगोचर और इन्द्रियातीत है
इसी नारी का संधान पुरुष तब पाता है जब शरीर की धारा उछालते
उछालते, उसे मन के समुद्र में फेंक देते हैं जब दैहिक चेतना से परे, वह प्र
की दुर्गम समाधि में पहुँच कर निस्पन्द हो जाता है।

नारी का यह रूप विशेष है, जिसका संधान तभी हो सकता है जब मनुष्य उसके शरीर के सुन्दर आवरण को भेद कर उसकी आत्मा में प्रवेश करे। 'उर्वशी' में नारी-आत्मा में प्रवेश करके उसके वास्तविक रूप का सन्धान किया गया है।

'उर्वशी' में नारी-स्वरूप का निरूपण दो विधाओं से किया गया है—

१ नारी के विभिन्न रूपों के द्वारा।

२ नारी के विशिष्ट गुणों के द्वारा।

नारी के विभिन्न रूप

'उर्वशी' में जिन नारी-रूपों को लिया गया है, उन्हें चार वर्गों में रखा जा सकता है—

१ नारी का उच्छृंखल-रूप।

२ नारी का प्रेमिका-रूप।

३ नारी का पत्नी-रूप।

४ नारी का माता-रूप।

१ नारी का उच्छृंखल रूप—नारी के उच्छृंखल रूप के अन्तर्गत अप्सराओं की मनोवृत्ति का वर्णन आता है। ये अप्सरायें यद्यपि सौन्दर्य की अपार संपत्ति हैं, वे मनमोहिनी अभुक्त प्रेम की जीवित प्रतिमाएं, मदिर नयनों से देवों को मदन-कम्पित हृदय करने वाली स्वर्गलोक की अप्सरियां और काम के मन की कामना हैं तथापि इनका मन उच्छृंखल है, किसी प्रकार का बन्धन इन्हें स्वीकार नहीं। इनका जन्म ही सबके मन को मोद से भरने के लिए हुआ है—

> जनमी हम किसलिए? मोद सबके मन में भरने को।
> किसी एक को नहीं भाग जीवन अर्पित करने को।
> लक्ष्य हमारी नहीं संवलित किसी एक आनन में
> किसी एक के लिए सुरभि हम नहीं संजोती तन में।

यही कारण है कि इनका मन संयम से शून्य और उच्छृंखल है। इनमें कामनाओं का अमित सागर तरंगित होता रहता है और इन तरंगों में ये पुरुषों को डुबोकर पीड़ा के अपार सागर में बहका देती हैं—

रचना की वेदना जगाती पर, न स्वयं रचतीं हम
बंधकर कहीं विविध पीड़ाओं में न कभी पचतीं हम
हम सागर-आत्मजा सिन्धु-सी ही असीम चंचल हैं,
इच्छाओं की अमित तरंगों से मंडित चपल हैं।

अप्सराओं का काम अन्य पुरुषों को विविध पीड़ाओं से पीड़ित क
होता है। ये स्वयं प्रेम की पीड़ा से अनभिज्ञ होती हैं। यही कारण है
इनके प्रेम में समर्पण की भावना नहीं होती और इसीलिए इनका मन कि
एक सीमा में बन्दी बनकर नहीं रहता। ये तो न जाने कितनों की बाहें
समाई रहती हैं। अपने इस 'हरजाईपन' पर इन अप्सराओं को लज्जा न
वरन् गर्व है। इनके मन में रूप ही सब कुछ है भावना कुछ भी नहीं
इसीलिए इन्हें भूलोक की प्रेम-भावना से सख्त नफरत है। इसी नफरत
अभिव्यक्ति रंभा इन शब्दों में करती है—

जहाँ प्रेम तामसी धूम से जल-जल अकुलाता है
प्रथम ग्रास में ही यौवन की ज्योति निगल जाता है
भर देता है धूम रूप को कलुष आलिंगन से,
छवि को प्रभाहीन कर देता ताप-तप्त चुम्बन से
पतझर का अपमान बना देता वाटिका हरी को
और चूमता रहता फिर सुन्दरता की ठठरी को।

निष्कर्ष यह है कि अप्सराओं के माध्यम से कवि ने नारी के उस रूप
चित्रण किया है जो शरीर की सुन्दरता को ही सब-कुछ मानता है जिस
कारण मन अहंकार और उच्छृंखलता से भरा हुआ होता है। वस्तुतः ना
का यह रूप नारी-यौवन का खोखलापन है।

२ नारी का प्रेमिका-रूप—जब नारी किसी एक व्यक्ति के प्रति अपन
सर्वस्व समर्पण करके उसके मिलन से सुख और वियोग से दुःख का अनुभ
करती है तब नारी का यह रूप प्रेमिका का होता है। उर्वशी इसी रूप
प्रतीक है। यद्यपि वह अपनी सखियों में सबसे अधिक सुन्दर है तथापि अन्
सखियां उसके दीवानेपन को हेय समझती हैं। उन्हें इस बात से बहुत दु

है कि उनकी सर्वाधिक सुन्दरी सखी पुरूरवा के हाथों बिक कर अप्सराओं की मर्यादा को भंग कर रही है। रम्भा कहती है—

सहजन्ये ! पर हम परियों का इतना भी रोना क्या ?
किसी एक नर के निमित्त इतना धीरज खोना क्या ?
हम भी हैं मानवी कि ज्योंही प्रेम जगे रुक जायें
मिले जहाँ भी दान हृदय का वहीं मग्न झुक जाय ?
प्रेम मानवों की निधि है अपनी तो वह क्रीड़ा है
प्रेम हमारा स्वाद मानवों की आकुल पीड़ा है।

प्रेमिका का प्रेम अनन्य भाव का होता है। वह जब अपने प्रियतम से बिछुड़ जाती है तो उसे संसार का सारा वैभव स्वर्ग का अनूठा ऐश्वर्य नगण्य लगने लगता है। उसकी केवल एक साध होती है—अपने प्रियतम से सम्मिलन। इस सम्मिलन में एक-एक पल का व्यवधान उसे असह्य उठता है—

'सुधि नहीं अब मुझे साँस भर भर सौरभ पीने की,
ऊब गई हूँ बना कण्ठ नीरव रहकर जीने से।
× × ×
कहती हूँ इसलिये चित्रलेखे ! मत देर लगाओ
जैसे भी हो मुझे आज प्रिय के समीप पहुँचाओ।

और जब वह अपने प्रियतम से मिल जाती है तो उसकी अतृप्ति और भी अधिक भड़क उठती है। तब बिहारी की ये पंक्तियाँ चरितार्थ हो उठती हैं—

'इन दुखिया अँखियानु कौं सुखु सिरज्यौई नाँहि।
देखैं बनैं न देखतै अनदेखैं अकुलाँहि ॥

पुरूरवा से मिलकर उर्वशी की कामना में भी घी की आहुति पड़ जाती है। वह अपने प्रेमी में इतनी तन्मय हो जाती है कि समय चक्र का ध्यान ही नहीं रहता—

जब से हम-तुम मिले न जाने क्या हो गया समय को,
लय होता जा रहा मरुद्गति से अतीत-गह्वर में।

रचना की वेदना जगाती पर, न स्वयं रचती हम,
बंधकर कहीं विविध पीड़ाओं में न कभी पचती हम
हम सागर-आत्मजा सिन्धु-सी ही असीम उच्छल हैं,
इच्छाओं की अमित तरंगों से प्रकम्प, चंचल हैं।

अप्सराओं का काम अन्य पुरुषों को विविध पीड़ाओं से पीड़ित करना होता है। ये स्वयं प्रेम की पीड़ा से अनभिज्ञ होती हैं। यही कारण है कि इनके प्रेम में समर्पण की भावना नहीं होती और इसीलिए इनका मन किसी एक सीमा में बन्दी बनकर नहीं रहता। ये तो न जाने कितनों की बाहों में समाई रहती हैं। अपने इस 'हरजाईपन' पर इन अप्सराओं को लज्जा नहीं वरन् गर्व है। इनके मन में रूप ही सब कुछ है, भावना कुछ भी नहीं। इसीलिए इन्हें भूलोक की प्रेम-भावना से सख्त नफरत है। इसी नफरत की अभिव्यक्ति रंभा इन शब्दों में करती है—

जहाँ प्रेम रखती भूख से खण-खण अकुलाता है
प्रथम ग्रास में ही यौवन की ज्योति निगल जाता है
भर देता है धूल रूप की दाहक आलिंगन से
छवि को प्रभाहीन कर देता ताप-तप्त चुम्बन से
मसलकर का कमसान बना देता वाटिका हरी को
और घूमता रहता फिर सुन्दरता की नगरी को।

निष्कर्ष यह है कि अप्सराओं के माध्यम से कवि ने नारी के उस रूप का चित्रण किया है जो शरीर की सुन्दरता को ही सब-कुछ मानता है जिसके कारण मन अहंकार और उच्छृंखलता से भरा हुआ होता है। वस्तुतः नारी का यह रूप नारी-जीवन का खोखलापन है।

२ नारी का प्रेमिका-रूप—जब नारी किसी एक व्यक्ति के प्रति अपना सर्वस्व समर्पण करके उसके मिलन से सुख और वियोग से दुःख का अनुभव करती है, तब नारी का यह रूप प्रेमिका का होता है। उर्वशी इसी रूप की प्रतीक है। यद्यपि वह अपनी सखियों में सबसे अधिक सुन्दर है, तथापि अन्य सखियाँ उसके दीवानेपन को हेय समझती हैं। उन्हें इस बात से बहुत दुःख

और जब महाराज पुरूरवा अनासक्ति की बातें करते हैं तो उर्वशी के कोमल हृदय को बड़ी ठेस लगती है। उसे अनुभव होता है कि जिस अनासक्ति को वह सुरपुर में छोड़कर आई थी वही उसे भूलोक में मिली। साथ ही वह इस सत्य को भली-भांति जानती है कि जब तक पुरूरवा के मन में काम का निवास है तभी तक वह उस पर राज्य कर सकती है। अपनी इस आशंका से वह कांप उठती है—

> अनासक्ति तुम कहो किन्तु इस द्विधा-ग्रस्त मानव की
> भंगिमा तुममें देख मुझे, जाने क्यों भय लगता है?

अपने भय को दूर करने के लिए वह अपने प्रमी के समक्ष अपना सर्वस्व समर्पित करके अधरों की सुधा का उसे प्रलोभन देती है—

> 'आ मेरे प्यारे तृषित! श्रान्त! अन्तःसर में मज्जित करके
> हर लूंगी मन की तपन चांदनी फूलों से सज्जित करके।
> रसमयी मेघमाला बनकर मैं तुम्हें घेर लूंगी बाहुओं
> फूलों की छांह-तले अपने अधरों की सुधा पिलाऊंगी।

यह है उर्वशी का वह प्रमिका-रूप जिसमें नारी का मन स्वयं में ही केन्द्रित हो जाता है। उसे अपने और अपने प्रमी के बाहु-पाश के अतिरिक्त कुछ दिखाई ही नहीं देता। वह दीवानी बन कर अपने प्रमी की बाहुओं में भूलती रहती है। उसकी आंखों में सर्वत्र कामना की लाली छाई रहती है और मन नित-नवीन स्पन्दन लेकर स्पन्दित होता रहता है।

उर्वशी में एक सच्ची और स्वयं-समर्पिता प्रमिका की ये सब प्रवृत्तियां मिलती हैं, किन्तु उसके व्यक्तित्व की सीमा यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती। वह विवेक के बल पर तर्क भी कर सकती है अर्थात् भावना के अथाह सागर में उसका चिन्तन डूब नहीं गया है जैसा कि प्रायः होता है। वह कामना और बुद्धि का पार्थक्य इन शब्दों में विवेचित करती है—

> 'रक्त बुद्धि से अधिक बली है और अधिक ज्ञानी भी
> क्योंकि बुद्धि सोचती और शोणित अनुभव करता है।
> मेरी बुद्धि की निर्मितियां निष्प्राण हुआ करती हैं
> चित्र और प्रतिमा इनमें जो जीवन लहराता है

वह सुखों से नहीं, घन-घावों में आया है
बलात्कार के प्रखर के छिटकाते हुए रुधिर से।

यहाँ पर यह बता देना भी आवश्यक है कि उर्वशी ने यहाँ पर काम का उदात्तीकरण कर दिया है।

उर्वशी की दृष्टि में नर का—प्रेमी का—सम्पूर्ण परिणय परम सत्ता की ज्ञान प्राप्ति का सोपान है। प्रेम से नारी ही नहीं नर का भी उत्थान होता है—

किसने कहा तुम्हें, जो नारी नर को प्राण चुकी है,
उसके लिए अगम्य ज्ञान हो गया परम सत्ता का
और पुरुष जो आलिंगन में बाँध चुका रमणी को
देश-काल को भेद गगन में उठने योग्य नहीं है?

उर्वशी यह मानती है कि प्रेम चिन्तन का नहीं हृदय का विषय है। वास्तविक प्रेम-सुख विधि नियमों से बन्धनों से और मन्त्रों से नहीं मिला करता वह तो अनायास ही इस प्रकार फूटा करता है जैसे डाली से पत्ते और कलियाँ स्वतः फूटा करती हैं। वह यह भी मानती है कि वह काम भावना दूषित है जो स्वतः स्फूर्त नहीं जो अप्रयास मानसिक क्षुधा का शमन करती है। वह कहती है—

फलासक्ति दूषित कर देती ज्यों समस्त कर्मों को
उसी भाँति यह काम-कृत्य भी दूषित और मलिन है
स्वतः स्फूर्त जो नहीं, ध्येय जिसका मानसिक क्षुधा का,
शमनमात्र है केवल; जहाँ पर सुख खोजा जाता है
तन की प्रकृति नहीं मन की माया से प्रेरित होकर।

अतः कहते हैं कि प्रेमिका-रूप में उर्वशी का जो चित्रण किया गया है, वह चित्रण नारी के उस रूप की अभिव्यक्ति है जो एक ओर तो सर्वस्व समर्पण करके शारीरिक सुख में डूबने को लालायित है और दूसरी ओर इस शारीरिक सुख से ऊपर उठकर काम-भावना का उदात्तीकरण करता है। वस्तुतः ये दोनों रूप यथार्थ और आदर्श का हृदय और मस्तिष्क का साथ

और तर्क का समुचित समन्वय है। जो नारी केवल यथार्थ अथवा आदर्श को लेकर प्रेम-पथ पर अग्रसर होती है, वह अपने रूप में एकांगी है उसका रूप सम्पूर्ण नहीं है।

१ नारी का पत्नी-रूप—जब नारी अपना सर्वस्व किसी एक व्यक्ति के प्रति समर्पण करके आजीवन उसी के साथ बंध जाती है तो उसका वह रूप पत्नी का होता है। पत्नी-रूप और प्रेमिका-रूप इन दोनों में मूलभूत अन्तर यह है कि प्रेमिका की भावनाओं में काम की प्रबलता होती है और पत्नी की काम भावना पर संयम का अंकुश होता है। प्रेमिका अपने प्रेमी का परित्याग भी कर सकती है, किन्तु पत्नी के लिए यह सम्भव नहीं। पत्नी के लिए तो उसका पति ही सर्वाधार बन जाता है और उसकी समस्त आशाएं-आकांक्षाएं उसी के इर्द-गिर्द सिमट जाती हैं। 'उर्वशी' में सुकन्या पत्नी-रूप का प्रतिबिम्बित करती है।

सच्ची पत्नी को अपने पति पर गर्व होता है, चाहे उसके पति का कैसा ही रूप रंग और स्वभाव हो। सुकन्या को भी अपने पति पर निस्सीम गर्व है—

> 'किन्तु चित्रलेखे! मुझको अपने महर्षि भर्ता पर
> ग्लानि नहीं निस्सीम गर्व है।

सुकन्या अपने पति के इर्द-गिर्द इतनी सिमट गई है कि उसे अप्सराओं-जैसा विविध भोगों का भान नहीं है। उसका ध्यानस्थान तो उसका केवल पति है और पति ही गृहिणी के लिए परम आराध्य देव होता है—

> एकचारिणी मैं क्या जानूं स्वाद विविध भोगों का?
> मेरे तो आनन्द धाम केवल महर्षि भर्ता हैं।
> यौन-भोग का भव अप्सरा की अवश भोग है,
> गृहिणी के तो परम देव आराध्य एक होते हैं,
> जिससे मिलता भोग योग भी वही हमें देता है।
> क्या कुछ मिला नहीं मुझको वनिता महर्षि की होकर?

सुकन्या के मत से नारी-सौन्दर्य की महत्ता इसी में है कि वह किसी पुरुष की परिणीता बन जाय। यही उसके लिए वह शुभ अवसर होता है

जब वह अपने प्रियतम के साथ निखिल जीवन का तार बाँधने में समर्थ और सक्षम होती है। सौन्दर्य के विगलित हो जाने पर फिर नारी का कोई महत्त्व नहीं रहता—

इसीलिए कहती हूँ जब तक हरा-भरा उपवन है
किसी एक के संग बाँध लो तार निखिल जीवन का
न तो एक दिन वह होगा जब पलित म्लान अंगों पर,
क्षण भर को भी किसी पुरुष की दृष्टि नहीं बिरमेगी
बाहर होगा विजन निकेतन, भीतर प्राण तड़पते
अन्तर के देवता तृषित भीषण हाहाकारों में।

वस्तुतः सुकन्या का पत्नी-रूप भारतीय परम्परा के अनुकूल मर्यादायुक्त गौरवपूर्ण और आदर्शों से भरा हुआ है। औशीनरी, उर्वशी

४ नारी का माता-रूप—नारी का माता-रूप निस्सन्देह नारी के सब रूपों से श्रेष्ठ है। इसकी श्रेष्ठता केवल रूप को नारी का सर्वस्व समझने वाली अप्सराएँ भी स्वीकार करती हैं। मेनका कहती है—

पर रंभे! क्या कभी बात यह भी मन में आती है,
माँ बनते ही त्रिया कहाँ से कहाँ पहुँच जाती है?
गलती है हिमशिला, सत्य है गठन देह की खोकर,
पर हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर?
युवा जननि को देख शांति कैसी मन में जगती है!
रूपमती भी सखी! मुझे तो वही त्रिया लगती है
जो गोदी में लिए क्षीर-मुख शिशु को सुला रही हो
अथवा खड़ी प्रसन्न पुत्र का पलना झुला रही हो।

'उर्वशी' में आयु नवजात शिशु है जिस पर तीन-तीन नारियों की—उर्वशी सुकन्या और औशीनरी की—वत्सलता फूट पड़ती है। उर्वशी उसकी जननी है और उसे अपने मातृत्व पर गर्व है—

बड़ी नहीं हुई तो क्या? अब माँ तो हूँ मानव की?
नहीं देखती रत्नमयी को कैसा लाल दिया है।

वह जब भी आयु का चुम्बन करती है, उसका सारा मातृत्व सिमट कर अलौकिक सुखों की विविध धाराओं में बहने लगता है—

कितनी मृदुता ऊर्मि प्राणों में प्रकम्प, अपार सुखों की ।
दुग्ध धवल यह सुधि मनोरम कितनी अमृत-सरस है !
और स्पर्श में यह तरंग-सी क्या है सोम-सुधा की,
गले लगाते ही आँखों की पलकें झुक जाती हैं ।

सुकन्या जब आयु को अपने पास रखकर उसके भविष्य की स्वर्णिम कथा का निर्माण करती है—आयु जब बड़ा हो जायेगा तो वह धेनुओं को चराने जाया करेगा, महर्षि के साथ यज्ञ की वेदी पर बैठा करेगा धर्म-शास्त्र में निष्णात हो जायेगा आदि—तो निस्संदेह उसके मन में मातृत्व की अनेक सुनहली कल्पनाएं जागृत हो जाती हैं और इन पंक्तियों में तो—

हवन-धूम से आँखों में जब आंसू उमड़ आयेंगे
तब मैं दोनों नयन पोंछ दूंगी अपने अंचल से ।

उसका मातृत्व साकार हो उठा है ।

औशीनरी भी आयु को देखकर मातृत्व के भावों से भर जाती है । उसे अपार आनंद का अनुभव होता है । इस अनुभव में उसे केवल एक बात चुभती है और वह यह कि यदि आयु उसे बचपन में ही मिला होता तो वह अनेक उमंग और आशाओं से उसका पालन करती । वह आयु को हृदय से लगाकर कहती है—

कितना भव्य स्वरूप ! नयन नासिका ललाट चिबुक में ।
महाराज की आकृतियों का पूरा बिम्ब पड़ा है ।

हाय पालती कितने सुख, कितनी उमंग आशा से
मिला मुझे होता यदि मेरा तनय कहीं बचपन में ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि उर्वशी में नारी के इन चारों रूपों का चित्रण बहुत सफलता तथा मनोवैज्ञानिकता के साथ हुआ है ।

नारी के विशिष्ट गुण

'उर्वशी' में नारी-स्वरूप के चित्रण की दूसरी दिशा है नारी के विशिष्ट

गुणों का वर्णन। इस विधा में बताया गया है कि नारी ही वह शक्ति है जिससे मनुष्य को परम रूप मिलता है—

> नारी ही वह महासत्त्व जिस पर मनुष्य न चलकर
> नये मनुज नव प्राण हृदय जग में आते रहते हैं।
> नारी ही वह कोष्ठ, देव, दानव मनुष्य से छिपकर
> महाशून्य, चुपचाप जहाँ आकर ग्रहण करता है।

और सच पूछिये तो नारी ही इस सृष्टि की रचना और इसका नियमन करती है—

> सच पूछो तो प्रजा-सृष्टि में क्या है भाग पुरुष का?
> यह तो नारी ही है जो सब भार पूर्ण करती है।
> सत्व-भार सहती अनंत, सन्तति असमय जनती है
> और वही शिशु को ले जाती मन के उच्च शिखर में
> जहाँ निरापद गुंजन करता है यौवन के झूले का।

जब मनुष्य की तरी किसी अवघट घाट पर अटक जाती है तो नारी ही वह शक्ति है जो अपनी छिगुनी की शक्ति लगाकर उसे पुनः गति प्रदान करने में समर्थ होती है। इस पर भी उसे न तो किसी प्रतिष्ठा का लोभ होता है और न प्रशंसा का—

> "यह भी है कर्म त्रिया का
> अटक गई हो तरी मनुज की किसी घाट-अवघट में
> तो छिगुनी की शक्ति लगा नारी फिर उसे चला दे
> और लुप्त हो जाय पुनः आतप प्रकाश हलचल से।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि 'उर्वशी' में नारी के दोनों—बाह्य और आन्तरिक—रूपों का सफलतापूर्वक चित्रण हुआ है। वह अपने बाह्य रूप में जितनी सुन्दर है आन्तरिक रूप में उतनी ही उदात्त है। एक बात और दिनकर का नारी-स्वरूप-विवेचन परम्पराओं की शृंखलाओं से मुक्त है।

वह जब भी आयु का चुम्बन करती है, उसका सारा मातृत्व सिमट कर अलौकिक सुखों की विविध धाराओं में बहने लगता है—

कितनी मृदुता अमित प्राणों में अकथ, अपार सुखों की।
दुग्ध धवल यह तृप्ति मनोरम कितनी अमृत-सरस है!
और स्पर्श में यह तरंग-सी क्या है सोम-सुधा की,
अंक लगाते ही प्राणों की पलकें झुक जाती हैं।

सुकन्या जब आयु को अपने पास रखकर उसके भविष्य की स्वर्णिम कथा का निर्माण करती है—आयु जब बड़ा हो जायेगा तो वह धेनुओं को चराने जाया करेगा, महर्षि के साथ यज्ञ की वेदी पर बैठा करेगा शस्त्र-शास्त्र में निष्णात हो जायेगा आदि—तो निस्संदेह उसके मन में मातृत्व की अनेक सुनहली कल्पनाएं जागृत हो जाती हैं और इन पंक्तियों में तो—

हवन-धूम से आँखों में जब वाष्प उमड़ आयेंगे,
तब मैं दोनों नयन पोंछ दूंगी अपने अंचल से।

उसका मातृत्व साकार हो उठा है।

औशीनरी भी आयु को देखकर मातृत्व के भावों से भर जाती है। उसे अपार आनंद का अनुभव होता है। इस अनुभव में उसे केवल एक बात चुभती है और वह यह कि यदि आयु उसे बचपन में ही मिला होता तो वह अनेक उमंग और आशाओं से उसका पालन करती। वह आयु को हृदय से लगाकर कहती है—

कितना भव्य स्वरूप! नयन नासिका ललाट चिबुक में।
महाराज की आकृतियों का पूरा बिम्ब पड़ा है।

हाय पालती कितने सुख कितनी उमंग आशा से
मिला मुझे होता यदि मेरा तनय कहीं बचपन में।

कहने की आवश्यकता नहीं कि उर्वशी में नारी के इन चारों रूपों का चित्रण बहुत सफलता तथा मनोवैज्ञानिकता के साथ हुआ है।

नारी के विशिष्ट गुण

'उर्वशी' में नारी-स्वरूप के चित्रण की दूसरी दिशा है नारी के विशिष्ट

पुरुषों का वर्णन। इस क्रिया में बताया गया है कि नारी ही वह शक्ति है जिससे मनुष्य को परम रूप मिलता है—

> नारी ही वह महासत्व जिस पर अदृश्य से चलकर
> नये मनुज नव प्राण दृश्य जग में आते रहते हैं।
> नारी ही वह कोष्ठ देव, दानव मनुष्य से छिपकर
> महाशून्य, चुपचाप जहाँ आकर आकार ग्रहण करता है।

और सच पूछिये तो नारी ही इस सृष्टि की रचना और इसका नियमन करती है—

> सच पूछो तो प्रजा-सृष्टि में क्या है भाग पुरुष का ?
> यह तो नारी ही है जो सब यज्ञ पूर्ण करती है।
> सत्व-भार सहती असह्य सन्तति असय जनती है
> और वही शिशु को ले जाती मन के उच्च शिखर में
> जहाँ निराशा युवक बना है वैभव के भूले का।

जब मनुष्य की तरी किसी अवघट घाट पर अटक जाती है तो नारी ही वह शक्ति है जो अपनी छिगुनी की शक्ति लगाकर उसे पुनः गति प्रदान करने में समर्थ होती है। इस पर भी उसे न तो किसी प्रतिष्ठा का लोभ होता है और न प्रशंसा का—

> यह भी है क्रम त्रिया का
> अटक गई हो तरी मनुज की किसी घाट अवघट में
> तो छिगुनी की शक्ति लगा नारी फिर उसे चला दे,
> और लुप्त हो जाय पुनः आतप प्रकाश हलचल से।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि 'उर्वशी' में नारी के दोनों—बाह्य और आन्तरिक—रूपों का सफलतापूर्वक चित्रण हुआ है। वह अपने बाह्य रूप में जितनी सुन्दर है आन्तरिक रूप में उतनी ही उदात्त है। एक बात और दिनकर का नारी-स्वरूप-विवेचन परम्पराओं की शृंखलाओं से मुक्त है।

———

११

उर्वशी में प्रेमाभिव्यजना

मानव-मन विविध भावों का कोष है। प्रेम का भाव इनमें प्रमुख है प्रेम 'प्रिय' शब्द का भाववाचक रूप है। 'प्रिय' शब्द का अर्थ है तृप्तिकारक—प्रीणातीति प्रियः। अतः प्रेम शब्द से हृदय के तृप्तिजन्य आनन्द का बोध होता है।

व्याकरण के अनुसार भी इस शब्द की व्युत्पत्ति इसी अर्थ की द्योतिका है। 'प्रीञ् प्रीणने' धातु से पृथ्वादि-सूत्र सर्वधातुभ्यः से मनिन् प्रत्यय लगाकर प्रेम शब्द बनता है जिसका अर्थ होता है प्रीति देने वाला अनन्त तृप्ति प्रदान करने वाला। यही कारण है कि आदिकाल से ही मानव इस भाव की अभिव्यक्ति करता आया है।

प्रेमाभिव्यक्ति की परम्परा

संस्कृत-साहित्य में प्रेम की सर्वप्रथम अभिव्यक्ति पुरूरवा-उर्वशी आख्यान के रूप में ऋग्वेद में मिलती है। अथर्ववेद में भी प्रेम विषयक उल्लेख मिलते हैं किन्तु प्रेम का व्यापक चित्रण आदिकवि वाल्मीकि के काव्य में ही प्राप्त होता है। आदिकवि के पश्चात् कविकुलगुरु कालिदास के काव्य में सभी प्रकार की प्रेम-विषयक भावनाओं के आभ्यन्तरिक-बाह्य दोनों प्रकार के सौन्दर्य के मार्मिक वर्णन उपलब्ध होते हैं। कालिदास की प्रेम-दृष्टि पूर्ण सांस्कृतिक और आध्यात्मिक है। भवभूति का प्रेम-चित्रण भी सहृदय-संवेद्य उदात्त और उत्कृष्ट है। अश्वघोष का प्रेम-चित्रण भी कालिदास और भवभूति के प्रेम चित्रण की भाँति उदात्त परिष्कृत और संयत है। संस्कृत साहित्य की यह परम्परा जब जयदेव के हाथों में आई तो यह एकदम बदल गई। जयदेव के प्रेम-वर्णन से यदि आध्यात्मिकता का झीना आवरण हटा दिया जाये तो यह एकदम लौकिक और अश्लील बन जाता है।

इस प्रकार संस्कृत-साहित्य में प्रेमाभिव्यक्ति की परम्परा के दो रूप स्पष्टतः परिलक्षित होते हैं। पहला रूप है प्रेम का उदात्त रूप जो आदिकवि से प्रारम्भ होकर भवभूति तक मिलता है। दूसरा है प्रेम का आध्यात्मिक या लौकिक रूप जो जयदेव से प्रारम्भ होता है।

संस्कृत-साहित्य की प्रेमाभिव्यक्ति के इन दोनों रूपों का प्रभाव हिन्दी-साहित्य में भी दृष्टिगोचर होता है। वीरगाथाकाल के काव्यों में प्रेम का लौकिक रूप वीरता के आवरण में निहित है भक्तिकाल के प्रेम पर आध्यात्मिकता का गहरा आवरण पड़ा हुआ है। रीतिकाल का प्रेम शुद्ध रूप से लौकिक है। आधुनिक काल में प्रेम की लौकिकता पर अलौकिक, अध्यात्म और सौन्दर्य के गहरे रंग लगे हुए हैं।

प्रेम का स्वरूप

प्रेम की परिभाषा और उसके स्वरूप का विवेचन भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न भिन्न शब्दावलियों में किया है। नारद भक्तिसूत्र में प्रेम को अनुभवैकगम्य माना गया है और बताया गया है कि प्रेम वाणी का विषय नहीं है वह तो मूकस्वादनवत् अनिर्वचनीय है। यह पहले तो विषयजन्य होता है गुणों के कारण उत्पन्न होता है, किन्तु बाद में भावात्मक और विषय निरपेक्ष बन जाता है—

'अनिर्वचनीयं प्रेम-स्वरूपम् मूकास्वादनवत्। प्रकाशते क्वापि पात्रे। गुण-रहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवस्वरूपम्।'

रूपगोस्वामी ने प्रेम को एक ऐसा सान्द्र भाव माना है जो हृदय को स्निग्ध करे तथा ममत्व के अतिशय से युक्त हो—

'सम्यङ् मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयांकितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते।'

पाश्चात्य विद्वानों ने भी प्रेम की भिन्न भिन्न परिभाषाएं प्रस्तुत की हैं। प्लेटो के अनुसार प्रेमानुभव से रहित व्यक्ति सदा अन्धकार में भटकता रहता है। गेटे का मत है कि प्रेम से ही हमारे मनश्चक्षु खुलते हैं। हेगेल की मान्यता है कि प्रेम के द्वारा ही अभेद की स्थिति प्राप्त होती है। हैवलोक वासना और प्रेम में अन्तर मानते हुए कहते हैं कि तुच्छ वासना के रहते हुए

प्रेम का कमल नहीं खिल सकता। विसेडीमीर सोलोव्येम के अनुसार प्रेम का अर्थ है अहंकार के त्याग द्वारा अपनी मुक्ति।

इन परिभाषाओं से अनायास ही यह निष्कर्ष निकल आता है कि प्रेम वासना का नाम नहीं है और न स्वयं को आबद्ध करने का ही बंधन है, वरन् प्रेम हृदय की वह परिष्कृत उदात्त और अनिर्वचनीय भावना है जो मन की शुद्धि करती है और व्यक्ति को अहं के बंधन से छुड़ाकर उसे सार्वजनीन बना देती है। यही भाव दिनकर के इन शब्दों में भी है—

इन्द्रियों के मार्ग से अतीन्द्रिय धरातल का स्पर्श यही प्रेम की आध्यात्मिक महिमा है।

प्रेम के गुण

प्रेम से प्रेमी के चित्त का संस्कार होता है अतः इस दृष्टि से इसके आठ भेद माने गये हैं—उल्लास, ममता विश्रम्भ प्रिय के गुणों का अभिमान चित्त का द्रवीभाव अतिशय अभिलाषा प्रिय के विषय में प्रतिक्षण नव-नवत्व की अनुभूति और प्रिय-सम्बन्धी किसी विलक्षण गुण के कारण उन्माद।

१ उल्लास—इसके उत्पन्न होने से केवल प्रिय के प्रति ही प्रेम रह जाता है। प्रियतर अन्य प्राणियों अथवा वस्तुओं के प्रति तुच्छ बुद्धि हो जाती है।

२ ममता—इसके उत्पन्न होने पर प्रेम के बाधक तत्त्वों का प्रेमी के हृदय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता अर्थात् वह बन्धनों की चिन्ता छोड़ देता है।

३ विश्रम्भ—विश्रम्भ अथवा विश्रंभ का अर्थ है विश्वास। इसके उत्पन्न होने पर प्रेमी के हृदय में अपने प्रेमी के प्रति किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहता वह पूर्ण विश्वासयुक्त हो जाता है।

४ अभिमान—अपने प्रिय को ही अलौकिक श्रेष्ठ समझना अभिमान या मान कहलाता है।

५ द्रवीभाव—प्रेम में चित्त द्रवीभूत होता है। इस गुण के उत्पन्न होने पर प्रिय के सम्बन्ध के आभास से ही मन में सत्कोद्रक हो जाता है। प्रिय के दर्शन आदि से तृप्ति नहीं होती और प्रिय के अनिष्ट की चाहे वह कितना ही असम्भव क्यों न हो निरन्तर शंका बनी रहती है।

६. अतिशय अभिलाष—इसके गुण के उत्पन्न होने पर प्रिय के प्रति इतना अनुराग बढ़ जाता है कि उसका एक पल का वियोग भी असह्य हो उठता है; संयोग में भी वियोग की कल्पना असह्य रहती है।

७. नव-नवत्व की भावना—इस गुण के उत्पन्न होने पर प्रेमी के मन में उसके सौन्दर्य की—आन्तरिक और बाह्य दोनों की इतनी गहरी छाप बैठ जाती है कि वह प्रिय के विषय में नित नवीन भावनाओं में डूबा रहता है।

८. उन्माद—इस गुण को प्राप्त करके प्रेमी का अनुराग अपने प्रेमी के लिए इतना अधिक हो जाता है कि संयोग के कल्प भी निमेष के समान बीत जाते हैं और वियोग के निमेष भी कल्प के समान प्रतीत होते हैं। इसी गुण से महाभाव दशा का आविर्भाव होता है।

प्रेम के भेद

प्रेम के दो भेद होते हैं—अपार्थिव अथवा अलौकिक प्रेम और पार्थिव अथवा लौकिक प्रेम। अलौकिक आलम्बन के प्रति जो अनुराग होता है उसे अलौकिक प्रेम कहते हैं। यह प्रेम भक्ति के अधिक निकट है। लौकिक आलम्बन के प्रति जो अनुराग होता है उसे लौकिक प्रेम कहते हैं। लौकिक प्रेम दो प्रकार का होता है—सहज प्रेम (Natural love) और सात्विक प्रेम (Platonic love)। मानव का सहज अनुराग सहज प्रेम कहलाता है। पार्थिव आलम्बन के प्रति पार्थिव मानव की सहज वासनात्मक प्रणयाभिव्यक्तियाँ इसी प्रेम के अन्तर्गत आती हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि नर-नारी की सहज प्रीति ही सहज प्रेम है। ऐसे प्रेम का आधार पार्थिव होता है अतः शरीर-सुख की उत्कट इच्छा से प्रेरित होकर जिस प्रेम का निवेदन किया जाता है वह स्वभावतः ही भावनात्मक होता है। रीतिकालीन काव्य में इसी प्रेम की अभिव्यंजना हुई है।

सात्विक प्रेम के सर्वप्रथम और प्रमुखतम व्याख्याता प्लेटो हैं। प्लेटो ने आत्मा की प्रीति का वर्णन किया है। इन्होंने पार्थिव आलम्बन के प्रति अश-रीरी आकांक्षा अथवा वासनामुक्त शुद्ध प्रीति और शुद्ध राग को ही सात्विक प्रेम की संज्ञा दी है। ऐसे प्रेम में वासना का परिष्कार एवं उन्नयन हो जाता

है। छायावादी काव्य से पूर्व द्विवेदी-युग का प्रेम-निरूपण इसी कोटि का है श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी इत्यादि कवियों की रचनाओं में ऊपरी आकर्षण का ही चित्रण मिलता है। रीतिकाव्य में घनानन्द का प्रेम-स्वर स्थान-स्थान पर इसी कोटि का पहुँच गया है।

यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाये तो प्रकृत और सात्विक प्रेम के भेद नहीं वरन् उसके सोपान प्रतीत होते हैं।

उर्वशी में प्रेमाभिव्यंजना

उर्वशी में स्पष्टतः लौकिक प्रेम का प्रतिपादन हुआ है, क्योंकि आलम्बन और आश्रय दोनों लौकिक हैं। इस प्रेम का प्रतिपादन सामान्य धरातल से हुआ है जिसमें किसी प्रकार की उदात्त भावना नहीं केवल वासना की बात है। यही वह अवस्था होती है जब पुरुष अपने पौरुष को छोड़कर नारी के आगे घुटने टेक देता है। इसी रहस्य का उद्घाटन मेनका इन शब्दों में करती है—

> इसमें क्या आश्चर्य ? प्रीति जब प्रथम प्रथम जगती है,
> दुर्लभ स्वप्न-समान रम्य नारी नर को लगती है।

नारी की यही रम्यता उसके जीवन की सबसे अधिक गौरव की घड़ी होती है। अपनी इसी रम्यता के बल पर—अंग-रूप की शक्ति से—वह पुरुष पर विजय प्राप्त करती है और पुरुष उसके पदों पर पड़ा हुआ उसके मुँह को देखता रहता है—

> कितनी गौरवमयी घड़ी वह भी नारी-जीवन की
> जब अजेय केसरी भूल सुध-बुध समस्त तन-मन की।
> पद पर रहता पड़ा, देखता अनिमिष नारी मुख को,
> क्षण-क्षण रोमांचित, भोगता गूढ़ अनिर्वच सुख को।

यही वह समय होता है जब नारी अपनी समस्त इच्छाओं और आकांक्षाओं को पूर्ण कर लेती है अथवा कर सकती है। इस समय वह बड़े से बड़े तपोनिष्ठ का तप, ज्ञानी का ज्ञान, मानधीश का मान और अभिमानी का अभिमान गर्व करने में सफल होती है—

तपोनिष्ठ नर का संचित तप और ज्ञान ज्ञानी का
मानशील का मान गर्व गर्वीले अभिमानी का
सब चढ़ जाते भेंट सहज ही प्रमदा के चरणों पर,
कुछ भी बचा नहीं पाता नारी से उद्वेलित नर।

यह उस प्रेम का चित्रण है जो एकांत शारीरिक होता है जिसमें केवल शारीरिक सुख का स्पन्दन होता है। यह प्रेम की प्रथम अवस्था है। यदि प्रेम इसी अवस्था पर आकर टिक जाता है तो वह निकृष्ट कोटि का होता है। दिनकर प्रेम की इस अवस्था को स्वीकार तो करते हैं किन्तु इसे प्रेम की इति नहीं मानते। अपनी प्रेम-विषयक मान्यताओं को इन्होंने स्पष्ट रूप से उर्वशी की भूमिका में इन शब्दों में व्यक्त कर दिया है—

'नारी नर को छूकर तृप्त नहीं होती न नर नारी के आलिंगन में संतोष मानता है। कोई शक्ति है जो नारी को नर तथा नर को नारी से अलग नहीं रहने देती और जब वे मिल जाते हैं तब भी उनके भीतर किसी ऐसी तृषा का संचार करती है जिसकी तृप्ति शरीर के धरातल पर अनुपलब्ध है।

नारी के भीतर एक और नारी है, जो अगोचर और इन्द्रियातीत है। इस नारी का संधान पुरुष तब पाता है जब शरीर की धारा उछालते-उछालते उसे मन के समुद्र में फेंक देती है जब दैहिक चेतना से परे, वह प्रेम की दुर्गम समाधि में पहुंच कर निस्पन्द हो जाता है।

और पुरुष के भीतर भी एक और पुरुष है जो शरीर के धरातल पर नहीं रहता जिससे मिलने की आकुलता में नारी अंग-संज्ञा के पार पहुंचना चाहती है।

परिरंभ-पाश में बंधे हुए प्रेमी परस्पर एक दूसरे का अतिक्रमण करके किसी ऐसे लोक में पहुंचना चाहते हैं जो किरणोज्ज्वल और वायवीय है।

इन्द्रियों के मार्ग से अतीन्द्रिय धरातल का स्पर्श यही प्रेम की आध्यात्मिक महिमा है।

उर्वशी की प्रेमाभिव्यंजना के स्वरूप को समझने के लिये कवि के उपर्युक्त कथन अत्यन्त सहायक हैं, बल्कि कहना चाहिए कि ये ही शब्द उर्वशी की

प्रेमाभिव्यंजना के स्वरूप का प्रतिपादन कर देते हैं। प्रेम की प्रेमावस्था
जिसका विवेचन अभी किया जा चुका है, प्रेम की सीमा शरीर-सीमा तक
रहती है किन्तु वास्तविक प्रेम इस सीमा को तोड़कर बाहर निकलने में है
पुरूरवा कहते हैं—

दाह मात्र ही नहीं प्रेम होता है अमृत-शिखा भी
नारी जब देखती पुरुष को इच्छा भरे नयन से
नहीं जगाती है केवल वह तप्त अनल रुधिर में,
मन में किसी कान्त कवि को भी जन्म दिया करती है।

सीमा की अनल ही बढ़ते-बढ़ते सात्त्विकी—उदात्त—बन जाती है—

पहले प्रेम स्पर्श होता है, तदनन्तर चिन्तन भी
प्रणय प्रथम मिट्टी कठोर है तब वायव्य गगन भी।

अतीन्द्रिय प्रेम ही मनुष्य को भावना के बल पर उस परम लोक तक
पहुँचाने में समर्थ होता है जिसमें तार्किक अपनी बुद्धि से पहुँचने का प्रयास
करते हैं—

जिस मधुर भूमिका में जन को दर्शन-तरंग पहुँचाती है
उस दिव्य लोक तक हमें प्रेम की नाव सहज ले जाती है।

और तब नारी का अस्तित्व सीमित न रहकर असीमित हो जाता है—

ओ शून्य पवन में मुझे देख चुम्बन अर्पित करने वालो!
सम्पूर्ण निशा में मेरी छवि का उन्निद्र ध्यान धरने वालो!
मैं देश-काल से परे चिरन्तन नारी हूँ।
मैं आरम्भतरुण यौवन की नित्य नवीन प्रभा
रूपसी अमर मैं चिर-युवती सुकुमारी हूँ।
तुम त्रिभुवन में अथवा त्रिकाल में जहाँ कहीं भी हो
अन्तर में जब धरो।
सरिता समुद्र गिरि वन मेरे व्यवधान नहीं।
न भूत भविष्यत् वर्तमान की कठिन बाधा से विमुक्त
मैं विश्वप्रिया।

उर्वशी में वर्णित प्रेम के स्वरूप का विवेचन करने के पश्चात् अब यह देखना आवश्यक प्रतीत होता है कि काव्याचार्यों ने प्रेम के जो आठ गुण बताए हैं उर्वशी में उनका निर्वाह हुआ है अथवा नहीं।

प्रेम के उल्लास आदि आठ गुण बताये गये हैं जिनका परिचय पहले दिया जा चुका है। अतः यहां पर गुणों का नामोल्लेख करके उर्वशी से उनके उदाहरण देना ही पर्याप्त होगा।

१ उल्लास—

स्वर्ग-स्वर्ग मत कहो स्वर्ग में सब सौभाग्य भरा है,
पर, इस महास्वर्ग में मेरे हित क्या आज धरा है ?

२ ममता—

मिले प्राण में तब अब लज्जा की मर्याद गंवाकर
स्वर्ग लोक को छोड़ भूमि पर स्वयं चली न आयी।

३ विश्रम—

इसीलिए, असहाय तड़पता बैठ रहा महल में
लेकर यह विश्वास प्रीति यदि मेरी मृषा नहीं है
मेरे मन का दाह व्योम के नीचे नहीं रुकेगा
अजर-वृक्ष को भव पहुंचकर पारिजात के वन में,
वह अवश्य ही कर देगा सन्तप्त तुम्हारे मन को।
और प्रीति जगने पर तुम बैकुण्ठ-लोक को तजकर,
किसी रात निश्चय भूतल पर स्वयं चली आओगी।

४ अभिमान—

तुम अनन्त सौन्दर्य एक तन में बस जाने पर भी
निखिल सृष्टि में फल चतुर्दिक कैसे व्याप रही हो।

५ प्रीभाव—

खड़ा सिहरता रहता में आनन्द-विकल उस तरु-सा
जिसकी डालों पर प्रसन्न गिलहरियां किलक रही हों
या पत्तों में छिपी हुई कोयल कूजन करती हो।

६ अतिशय अभिलाषा—

ध्यानस्थित तुम रहो, किन्तु इस द्विधा-ग्रस्त मानव की,
झाँकी तुम न देख पाओ क्यों, भय लगता है।

७ नवनवत्व की भावना—

नक्षत्रों के बीच प्राण के नभ में खोने वाली।
ओ रसमयी वेदनाओं में मुझे डुबोने वाली।

८ उन्माद—

जब से हम तुम मिले न जाने क्या हो गया समय को,
लय होता जा रहा मरुद्गति से अतीत गह्वर में।
किन्तु, हाय, जब तुम्हें देख मैं सुरपुर को लौटी थी
यही काल अजगर-समान प्राणों पर बैठ गया था।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि उर्वशी में व्यक्त प्रेम शरीर के उस धरातल से प्रारम्भ होता है जिसमें वासना का प्रबल अहर्निश उपस्थित रहता है। किन्तु इसकी यहीं पर इति नहीं हो जाती। यह तन का अतिक्रमण करके अत्यन्त व्यापक और उदात्त रूप ग्रहण कर लेता है। ऐसा होना स्वाभाविक भी था, क्योंकि कवि तन की सुन्दरता के माध्यम से अदृश्य सत्ता तक पहुँचा करता है—

कवि प्रेमी एक ही तत्त्व हैं तन की सुन्दरता से
दोनों मुग्ध, देह से दोनों बहुत दूर जाते हैं
उस अनन्त में जो अमूर्त भावों को बाँध रहा है
सभी सूक्ष्म सुषमाओं की अभिमत अदृश्य सत्ता से।

१२

उर्वशी का दर्शन-पक्ष

मानव-मन की समस्त प्रधान क्रियाओं का लक्ष्य एक सदा होता है—सुख का वरण और दुःख से निवृत्ति। उसके समस्त क्रिया-कलाप इसी लक्ष्य के इर्द गिर्द घूमते हैं। मानव-मन की यही प्रवृत्ति दर्शन-शास्त्र और काव्य शास्त्र में भी परिलक्षित होती है। यद्यपि ये दोनों शास्त्र एक दूसरे के विरोधी प्रतीत हुए हैं, क्योंकि दर्शन-शास्त्र में मस्तिष्क के गहन चिन्तन का प्राधान्य होता है और काव्य-शास्त्र में हृदय की गहरी भावुकता की प्रधानता तथापि ये विरोधी नहीं वरन् एक दूसरे के पूरक हैं। दर्शन और काव्य का परस्पर अटूट सम्बन्ध स्थापित करते हुए डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय लिखते हैं—

> कवि दार्शनिक को अपना पथ-प्रदर्शक समझने में ही गौरव मानता है आज तक का इतिहास कम से कम यही है। (जो) कवि स्वयं दार्शनिक धारणाओं के लिए उनके प्रवर्तक या प्रचारक किसी बड़े दार्शनिक पर निर्भर रहे हैं—यथा श्री शंकराचार्य पर। अतः कविता और दर्शन का अटूट सम्बन्ध चला आ रहा है।

इसीलिए यह बड़े शब्दों में कहा जा सकता है कि दर्शन को काव्य से पृथक नहीं किया जा सकता। विचारक कवियों की कृतियां तो स्वतः काव्यमय दर्शन बन जाती हैं।

उर्वशी का दर्शन-पक्ष

उर्वशी में दर्शन-पक्ष का पर्याप्त और स्पष्ट विवेचन हुआ है। इसका सम्यक् अध्ययन करने के लिए इसे निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है—

१ ईश्वर
२ काम

३ देह
४ जीवन
५. प्रकृति और पुरुष

१ ईश्वर—'उर्वशी' में ईश्वर को सर्वशक्तिमान और सृष्टि का स्रष्टा माना गया है। ईश्वर ही मनुष्य के जीवन और कार्यों का नियन्त्रण करता है। मनुष्य कर्त्ता नहीं वरन् उस परम सत्ता के इंगित पर कार्य करने वाला है। इसी भाव को 'उर्वशी' में इन शब्दों में व्यक्त किया गया है—

'यह सब उनकी कृपा सृष्टि जिनकी निगूढ़ रचना है।
झुके हुए हम धनुषमात्र हैं तनी हुई ज्या पर से
किसी और की इच्छाओं के बाण चला करते हैं।

सृष्टि का जितना भी प्रसार है सब इसी परम सत्ता का रूप है। इस संसार में न कोई पुरुष है और न कोई नारी बल्कि एक ही सत्ता के प्रतिमान हैं—

'यह निरभ्र आकाश जहाँ की निर्विकल्प सुषमा में
न तो पुरुष मैं पुरुष न तुम नारी केवल नारी हो
दोनों हैं प्रतिमान किसी एक ही मूलसत्ता के
देह-बुद्धि से परे, नहीं जो नर अथवा नारी है।

ईश्वर सर्वव्यापक है। वह प्रकृति के कण-कण में रमा हुआ है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि यह संसार उसी का एक रूप है—

'ईश्वरीय जग भिन्न है इस गोचर जगती से
इसी अपावन में अदृश्य वह पावन सना है।

ईश्वर और प्रकृति दो विरोधी सत्ताएँ नहीं हैं। प्रकृति ईश्वर-प्राप्ति में विरोध उत्पन्न नहीं करती, बल्कि उसमें सहायक होती है—

'भ्रान्ति नहीं अनुभूति जिसे ईश्वर हम सब कहते हैं
शत्रु प्रकृति का नहीं न उसका प्रतियोगी प्रतिबल है।
किसने कहा तुम्हें परमेश्वर और प्रकृति ये दोनों
साथ नहीं रहते जिसको भी ईश्वर तक जाना है
उसे तोड़ लेने होंगे सारे सम्बन्ध प्रकृति से

और प्रकृति के रस में जिसका अन्तर रमा हुआ है
उसे और को मिले किन्तु, परमेश्वर नहीं मिलता ?

२ काल—काल की गति निरन्तर प्रगतिशील है। वह बिना किसी की प्रतीक्षा किये हुए और बिना किसी रुकावट के अबाध गति से चलता रहता है। यह काल अनन्त है इसकी कोई सीमा नहीं है। समस्त सृष्टि इस काल के नियन्त्रण में चक्कर काट रही है—

'सिन्धु विन्ध्य हिमवान् खड़े हैं विरामयाम में जैसे
एक साथ त्यों काल-देवता के महान् प्रांगण में
भूत भविष्यत् वर्तमान सब साथ-साथ ठहरे हैं
बातें करते हुए परस्पर गिरा-मुक्त भाषा में।

३ देह—भारतीय दर्शन में देह को मृत्ति माना गया है अर्थात् यह नित्य नहीं है। उर्वशीकार ने भी देह को मृत्ति मानकर इसी मत को मान्यता दी है—

'देह मृत्ति दैहिक प्रकाश की किरणें मृत्ति नहीं हैं
अधर नष्ट होते मिटती झनकार नहीं चुम्बन की
यह अरूप माया-तरंग अर्पित उसके चरणों पर,
निराकार जो जाग रहा है सारे आकारों में।'

४ जीवन—उर्वशीकार ने जीवन को कार्य-कारण की कड़ी माना है जिसके निरन्तर संघर्ष चलते रहते हैं—

'अर्थ खोजते हो जीवन का ? कड़ी कार्य-कारण की
बहुत दूर तक बिछी हुई है पीछे धुँधियाले में।
चलो जहाँ तक भी अतीत गह्वर में चरण-चरण पर,
मात्र प्रतीक्षा-निरत प्रश्न क्षण में मिलते जायेंगे।

५. प्रकृति और पुरुष—उर्वशी में प्रकृति और पुरुष का विवेचन करने से पूर्व यह आवश्यक है कि इनके स्वरूप को समझ लिया जाये।

प्रकृति और पुरुष की विशद व्याख्या सांख्यदर्शन में मिलती है। सांख्य-दर्शन में तीन तत्त्वों पर विचार किया गया है—व्यक्त अव्यक्त और ज्ञ। व्यक्त के तेईस भेद हैं और ये कार्य-कारण की परम्परा में मूलप्रकृति के

परिणाम है। अव्यक्त को मूलप्रकृति कहते हैं। ज्ञ को पुरुष कहते हैं। सां
के अनुसार मूलप्रकृति जड़ और पुरुष चेतन है। पुरुष निष्क्रिय निर्गुण औ
निर्लिप्त है।

मूलप्रकृति में तीनों गुणों की अवस्थिति होती है इसीलिए इसे ती
गुणों की 'साम्यावस्था' माना गया है अर्थात् अव्यक्तावस्था में सत्त्व' सत
रूप में 'रजस्' रजोरूप में तथा तमस् तमोरूप में परिणत होते ही रह
हैं। इसमें कोई वैषम्य उत्पन्न नहीं होता।

प्रकृति के सात्त्विक अंश से 'महत् तत्त्व' की अभिव्यक्ति होती है जि
'बुद्धितत्त्व' भी कहते हैं। महत् में भी सत्त्व रजस् और तमस् गुण अन्त
निहित होते हैं किन्तु प्रधानता सत्त्व गुण की होती है। बुद्धितत्त्व का धम
किसी कार्य के करने का निश्चय करना। इसके दो प्रकार के रूप होते हैं—
सात्त्विक जैसे धर्म ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य आदि और तामसिक जैस
अधर्म अज्ञान अवैराग्य तथा अनैश्वर्य आदि। जीवात्मा के भोग का प्रधान
साधन बुद्धि है और यही बुद्धि पुनः प्रकृति और पुरुष के सूक्ष्म भेद को अभि
व्यक्त करती है अर्थात् बुद्धि ही के द्वारा भोग तथा मुक्ति भी होती है
प्रतिक्षण परिणाम होने के कारण बुद्धितत्त्व से परिणाम के द्वारा अहंकार
तत्त्व बन जाता है।

अहंकार से ग्यारह इन्द्रियों की अभिव्यक्ति होती है। चक्षु श्रोत्र घ्राण
रसना तथा त्वक ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और इनके विषय हैं—रूप शब्द गन्ध
रस तथा स्पर्श।

सांख्य के अनुसार ज्ञ अर्थात् पुरुष त्रिगुणातीत और निर्लिप्त है। वह
एक है किन्तु जब ज्ञ पर अविद्या आदि का प्रभाव पड़ जाता है तो वह बद्ध
पुरुष कहलाता है। बद्धपुरुष सुख दुःख एवं मोह रूप भोग्य वस्तुओं का भोग
करने वाला होता है और अपनी मुक्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता
है। इस प्रकार सांख्य में तीन प्रकार के पुरुषों पर विचार किया गया है—

निर्लिप्त पुरुष

२ बद्ध पुरुष

३ मुक्त पुरुष

यदि इस विवेचन की छाया में देखा जाय तो उर्वशी प्रकृति का स्वरूप है और पुरूरवा पुरुष का। उर्वशीकार ने इस मत को इन शब्दों में स्वीकार किया है—

'उर्वशी चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक तथा श्रोत्र की कामनाओं का प्रतीक है; पुरूरवा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द से मिलने वाले सुखों से उद्वेलित मनुष्य।

उर्वशीकार का विश्वास है कि प्रकृति और पुरुष दोनों के संयोग से ही परम तत्त्व की प्राप्ति होती है। जो लोग इन्हें पृथक-पृथक मानते हैं वे कभी भी परम सत्ता को प्राप्त नहीं कर सकते—

> 'किसने कहा तुम्हें परमेश्वर और प्रकृति ये दोनों
> साथ नहीं रहते' जिसको भी ईश्वर तक जाना है
> उसे तोड़ लेने होंगे सारे सम्बन्ध प्रकृति से
> और प्रकृति के रस में जिसका अन्तर रमा हुआ है
> उसे और जो मिले किन्तु परमेश्वर नहीं मिलेगा ?

अतः कहा जा सकता है कि अपने काव्य-सौन्दर्य की गरिमा की भाँति ही उर्वशी का दार्शनिक पक्ष अत्यन्त सूक्ष्म और काव्यमय है। काव्यमयी शैली के द्वारा कवि ने दर्शन की गूढ़ सूक्ष्मताओं को बहुत ही सरस बना दिया है। कवि और दार्शनिक में यही तो मूल भेद है।

———

१५
उर्वशी का प्रतीक विधान

प्रतीक' का शाब्दिक अर्थ 'चिह्न' 'परिणाम' 'लक्षण' इत्यादि है। हिन्दी का यह शब्द अंग्रेजी (Symbol) का समानार्थी है। 'हिन्दी साहित्य कोश' के अनुसार "प्रतीक शब्द का प्रयोग उस दृश्य (अथवा गोचर) वस्तु के लिए जो किसी अदृश्य (अगोचर या अप्रस्तुत) विषय का प्रतिविधान उसके साथ अपने साहचर्य के कारण करती है।"

सामान्यतया प्रतीक वाणी की वह शक्ति है जिसके द्वारा हम वस्तुगत स्थूलता का निराकरण करके भावगत अमूर्तता की साधना करते हैं। (Matter) पदार्थ की (Materiality) पदार्थत्व से ऊपर उठा कर जो शब्द अथवा चिह्न हमें भाव की कोमलता तक पहुँचाता है, वही प्रतीक है। मानव चिन्तन की सूक्ष्मता और मानव भाषा का विकास प्रतीकों के माध्यम से ही हुआ है। विस्तार, गहराई, ऊंचाई तारल्य, कठोरता सबके निश्चित प्रतीक हैं जो हमारी भाषा में स्थिर हो गये हैं। धर्म अध्यात्म, सांस्कृतिक परम्पराओं एवं उत्सवों में भी अनेक प्रकार की प्रतीकात्मता देखी जा सकती है। इस प्रकार प्रतीक मानव भाषा एवं विचारों का अभिन्न अंग हैं। प्रतीकों से हम किसी विषय के महत्व को स्वीकृति देते हैं अथवा उसकी व्याख्या करते हैं और इसके अतिरिक्त अपनी सौन्दर्य वृत्ति को विभिन्न रूपों में प्रस्तुत करते हैं।

साहित्य क्षेत्र में प्रतीकात्मकता कई रूपों में परिलक्षित होती है। सारा अलंकार-विधान प्रतीक-पद्धति पर ही आश्रित है। आलंकारिकता का उद्देश्य है कथ्य को सुन्दर कथन में बांधना और प्रतीकात्मकता का उद्देश्य है कथ्य को सार्वभौम सौन्दर्य एवं स्वीकृत तथा काम्य रूप देना। सार्वभौम' शब्द इस प्रसंग में विशेष रूप से उल्लेख्य एवं महत्वपूर्ण है। प्रतीक जितना विराट् एवं सार्वभौम होगा उतना ही कवि विषय की विराट् काम्य-सामर्थ्य एवं कल्पना

गरिमा का परिचायक होगा। प्रांजलधीम, उदात्त भारतीय संस्कृति के प्रतीक के रूप में रामचरितमानस का तथा विश्व-मानवता के विकास के प्रतीक रूप में कामायनी का उदाहरण लिया जा सकता है। ये दोनों काव्य-ग्रंथ अपने रचयिताओं की विराट् कल्पनाशक्ति के अमर कीर्ति-चिन्ह हैं।

प्रतीकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन कवि के व्यक्तित्व और चिंतन को समझने में विशेष रूप से सहायक हो सकता है। छायावादी काव्य के वे प्रतीक जो प्रकृति के शृंगार से गृहीत हैं, ललित और कोमल हैं। छायावादी कवियों की सौन्दर्य-लालसा दमित वासना का कितना सच्चा प्रतिनिधित्व करते हैं। इसके विपरीत प्रयोगवाद और नई कविता के भद्दे अशिष्ट प्रतीक अपने विषय एवं संस्मों के कारण प्रयोगवादी कवियों की नैतिक स्वच्छन्दता, संस्कार-विहीनता का कच्चा चिट्ठा प्रस्तुत करते हैं।

'विधान' शब्द से अभिप्राय किसी प्रकार की योजना-बद्ध प्रतीक-विधि से नहीं वरन् सामान्यतया काव्य में प्रयुक्त अथवा उपलब्ध प्रतीकों से ही है। वैसे विधान की शाब्दिक व्यंजना का पूर्णतया निषेध भी नहीं किया जा सकता कारण कि एक ही भाव के विभिन्न प्रतीक देते समय कवि निश्चय ही उन प्रतीकों की अखण्ड एवं मूल एकात्मता के प्रति सजग रहता है।

अब हम उर्वशी के प्रतीक विधान को लेते हैं। उर्वशी में जहां एक ओर प्रकृति चित्रों में अथवा उर्वशी-पुरूरवा के सम्भाषण-वर्णन में अनेक सुन्दर प्रतीकों की योजना है, वहां दूसरी ओर सारा काव्य अपने सहज स्वाभाविक रूपविधान के कारण, प्रतीक-काव्य सा बन गया है। दोनों प्रमुख पात्र अपनी पृष्ठभूमि का प्रतिनिधित्व करते हुए स्थूलता का निरोध करके सूक्ष्म प्रतीकात्मक व्यक्तित्व से संयुक्त हो जाते हैं।

उर्वशी

'उर्वशी' का शाब्दिक अर्थ है "हृदय-निवासिनी"। अर्थ के अनुरूप ही कवि ने उर्वशी को विश्व-मानव (Universal Man) के अन्तर में निवास करने वाली काम-प्रेरणा का रूप दिया है और ज्वाला, अग्नि, तृष्णा, रुचि इत्यादि प्रतीकों से उसके इस गुण का स्पष्टीकरण एवं समूर्तन किया है—

१ 'जन जन के मन की मधुर वह्नि, प्रत्येक हृदय की उजियाली,
नारी की मैं कल्पना चरम नर के मन में बसने वाली,
२ 'कामना वह्नि की शिखा मुक्त मैं अनवरुद्ध'

'कामना वह्नि की शिखा' इत्यादि शब्द अपनी सांकेतिकता में बेजोड़ हैं, काम प्रेरणा जीवनेच्छा रक्तोष्णता इत्यादि के इससे अधिक अभिव्यंजक प्रतीक कदाचित् ही दिये जा सकें। मानव के सकल कर्मों को प्रेरित करने वाली कामेच्छा के अपरिमित अस्तित्व की स्वीकृति इन प्रतीकों में सर्वथा स्पष्ट रूप से हो जाती है। इसी भाव के अन्य पक्षों पर दृष्टिपात करते हुए कवि के कथन हैं —

१ यह नभ के सब संगीत नाद मेरे निस्सीम प्रणय का है
सारी कविता जयगान एक मेरी त्रयलोक विजय का है।
प्रिय मुझे प्रखर कामना-ज्वलित संतप्त व्यग्र चंचल चुम्बन
प्रिय मुझे रक्तोदधि में निमग्न उच्छल हिल्लोल निरत जीवन।
२ मैं रूप रस गन्ध पूर्ण साकार कमल।

ये अभिव्यक्तियां उसी प्रतीक का साहित्यिक स्पष्टीकरण हैं। आध्यात्मिक स्तर पर यह कामना-शिखा ईश्वर से उद्भूत जीवेच्छा है जैसा कि निम्नलिखित संकेत में स्पष्ट है —

" तभी नारी बन निकल पड़ी तुम
नारायण की महा कल्पना सी एकायन मन से।'

काम तृषा की यही सार्वभौमिकता है।

उर्वशी के रूप में कवि ने चिरन्तन नारीत्व को भी प्रतीक रूप में अभिव्यक्त करना चाहा है। इस विषय में पाठक सामान्यतया प्रश्न कर सकता है कि उर्वशी एक साथ काम-तृषा एवं नारीत्व का प्रतीक क्योंकर हो सकती है। इसका सीधा समाधान यह है कि काम-तृषा अथवा कामेच्छा का मूर्त रूप नारी है 'रूप रसगन्ध पूर्ण साकार कमल' वाली उक्ति नारी के अनेक विध आकर्षण की ओर इंगित करती है। कवि ने उर्वशी के इस प्रतीकात्मक रूप पर अनेक स्थलों पर प्रकाश डाला है —

"मैं देश काल से परे चिरन्तन नारी हूँ
मैं भूत भविष्यत् वर्तमान की कृत्रिम बाधा से विमुक्त
मैं विश्व प्रिया।
तुम पंथ जोहते रहो
अचानक किसी रात मैं आऊँगी।
अधरों में अपने अधरों की मदिरा उड़ेल
मैं तुम्हें वक्ष से लगा
युगों की संचित तपन मिटाऊँगी।

पुरूरवा ने भी उर्वशी के चिरन्तन नारीत्व वाले रूप पर प्रकाश डाला है—

एक पुष्प में सभी पुष्प सब किरणें एक किरण में
तुम सहित एकत्र एक नारी में सब नारी हो।

इस प्रकार कामेच्छा एवं नारीत्व को प्रतीक रूप में प्रतिध्वनित करने वाली उर्वशी कामात्मजा श्रद्धा से कितनी समान है, जो चिरन्तन नारीत्व का रूप भी है—'नारी तुम केवल श्रद्धा हो'। मनोवैज्ञानिक रूप से उर्वशी मानव-मन की कामप्रेरणा (Libido) का प्रतीक है और सांस्कृतिक दृष्टि से चिरन्तन नारीत्व का। काव्य में उसके स्थूल व्यक्तित्व से भिन्न ये दोनों रूप सर्वथा स्पष्ट मुखर हैं।

पुरूरवा

उर्वशी के उत्तरपक्ष में पुरूरवा विश्व-पौरुष (Universal Manhood) का प्रतीक होकर आया है। उर्वशी का प्रश्न है —

"कौन पुरुष तुम?

पुरूरवा का उत्तर है—

जो अनेक कल्पों के संधिस्थलों में
तुम्हें खोजता फिरा तैर कर बारम्बार मरण को
जन्मों के अनेक कुंजों वीथियों प्रार्थनाओं में
पर तुम मिलीं एक दिन सहसा जिसे कुसुम मेघों पर
एक पुष्प में अमित युगों के स्वप्नों की आभा सी।

स्पष्ट संख्या एवं सौन्दर्य दोनों दृष्टियों से प्रचुर हैं। काम का इतना यथा-तथ्य सुन्दर प्रतीकात्मक चित्रण हिन्दी साहित्य में बहुत कम स्थलों पर मिलेगा।

१ उदात्त काम को अमृतशिखा गगन अव्यक्त कमल शून्य इत्यादि शब्दों की सहायता से प्रतीकात्मक रूप देने का प्रयास किया गया है। ये शब्द भारतीय अध्यात्म के प्रायः रूढ़ से प्रतीक हैं तथा इनका प्रतीकात्मक अस्तित्व असंदिग्ध एवं सर्वस्वीकृत है—

(क) दाह मात्र ही नहीं, प्रेम होता है अमृत शिखा भी।

(ख) ये किरणें ये फूल किन्तु, अंतिम सोपान नहीं हैं
उठना होगा बहुत दूर अम्बर इनके तारों पर
स्यात् ऊर्ध्व उस अम्बर तक जिसकी ऊंचाई पर से
यह मृत्तिका-विहार किरणों का हीन लगेगा।

(ग) देह प्रेम की जन्मभूमि है पर उसके विचरण की,
सारी लीलाभूमि नहीं सीमित है रुधिर-त्वचा तक।
यह सीमा प्रसरित है मन के गहन गुह्य लोकों में
जहाँ रूप की लिपि अरूप की छवि आंका करती है
और पुरुष प्रत्यक्ष विभासित नारी-मुखमंडल में
किसी दिव्य अव्यक्त कमल को नमस्कार करता है।

× × ×

प्रणय प्रथम मिट्टी कठोर है तब वायव्य गगन भी।

अतिशय भौतिक एवं अन्वेषित प्रकृति का पाठक साधारणतया कामवृत्ति के इस उदात्त रूप को तर्काधार पर अस्वीकृत कर सकता है किन्तु यह सर्वथा वैज्ञानिक तथ्य है कि कामतृप्ति का प्रत्यक्ष प्रभाव शारीरिक ही नहीं मानसिक स्तर पर भी हुआ करता है' मनोविज्ञान उसी को कामवृत्ति की पूर्ति से उत्पन्न संतोष कहता है। उर्वशी के कवि ने काव्यात्मक शब्दों और शैली में इसी तथ्य को स्पष्ट किया है। कवि ने लिखा भी है—

"मानवीय प्रेम की सारी लीला शरीर पर समाप्त नहीं होती उसके बहुत से मंच वायवीय और निराकार हैं।"

और भी
'पुरूरवा और उर्वशी का प्रेम सनातन नर-नारी का प्रेम है। किन्तु इस प्रेम की लीलाभूमि शरीर तक ही सीमित नहीं है यह मन के गहन गुह्य लोकों तक चली गई है।'

नारी सौन्दर्य के अधिकतर उपमान जो प्रतीकात्मक अस्तित्व ग्रहण कर गये हैं अधिकतर प्रकृति के क्षेत्र से ग्रहण किये गये हैं। मथा किरण पुष्प कुसुम मणि इत्यादि के द्वारा उर्वशी के रूप-सौन्दर्य को चित्रित प्रतीकांकित किया गया है। कलात्मक क्षेत्र से भी प्रतिमा कविता, नृत्य मुद्रा इत्यादि शब्द चुने गये हैं। ये सब मिलकर कवि-मन का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। ऐसे प्रतीकों से यह स्पष्ट होता है कि उर्वशी का कवि सौन्दर्य की स्वस्थ चेतना से सपन्न है उसकी सौन्दर्य-कल्पना में कहीं भी भावावरोध को स्थान नहीं है। ऐसे चित्रों में पृ० १० पर निपुणिका द्वारा किया गया उर्वशी के रूप का वर्णन विशेष रूप से द्रष्टव्य है। तीसरे सर्ग में भी अनेक स्थलों पर उर्वशी के रूप-चित्रण में अनेक सौन्दर्य प्रतीकों का समावेश है—

ये लोचन जो किसी अन्य जग के मन के दर्पण हैं।
× × ×
ये किसलय से अधर गन्धित जिन पर स्वयं मदन हैं।
× × ×
ये बाहें विधु के प्रकाश की दो नवीन किरणों सी
और वक्ष के कुसुम-कुञ्ज सुरभित विश्राम भवन ये।

सौन्दर्य की प्रतिमा उर्वशी का सर्वाधिक प्रभावशाली वर्णन जो अप्सरा सौन्दर्य का सहज प्रतीक है कदाचित् यह है —

पावकों के अनघड़ प्राणों को काट छाँट
मैं ही निर्विकृतस्तना मुष्टिमध्यमा
मदिरलोचना कामललिता नारी
प्रस्तरावरण कर भग्न
तोड़ तम को उन्मत्त उभरती हूँ।

उर्वशी में स्थल-स्थल पर आये हुए अन्य कई प्रतीकों की ओर इंगित किया जा सकता है। चित्रलेखा सखी और योगी की प्रेम-कृपा की तुलना करते

हुए दो अत्यधिक अभिव्यंजक प्रतीकों का प्रयोग करती है—

'सदा पंक में खिला प्रेम यह भोग निरत प्रेमी का,
पर योगी का प्रेम धूप से छाया में आता है।

कुछ अर्थों में गंधमादन पर्वत सुकन्या आयु भी प्रतीक माने जा सकते हैं। यदि इनके प्रतीकात्मक स्वरूप की पूर्ण व्याख्या हो जावे एवं औशीनरी के व्यक्तित्व के लौकिक पक्ष का निषेध करके उस पात्र की कोई अलौकिक व्याख्या प्रदान की जा सके तो उर्वशी को निश्चय ही रूपक काव्य (Allegory) माना जा सकता है।

निष्कर्ष रूप में यही कह सकते हैं कि उर्वशी के प्रतीक विधान का सर्वांग सतोषजनक पर्यालोचन तो उसके कलापक्ष विशेष रूप से अप्रस्तुत-विधान के सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा ही संभव है तो भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि —

(१) उर्वशी के दोनों प्रमुख पात्रों—पुरूरवा एवं उर्वशी—तथा कामानुभूति के विभिन्न स्तरों को प्रतीकांकित करने के लिये कवि ने काव्यश्रम का पूर्ण व्यय किया है और उर्वशी निश्चय ही कामानुभूति का सहज सरल और सच्चा प्रतीकात्मक रूप प्रस्तुत करने में सफल है।

(२) उर्वशी का प्रतीक विधान यथावश्यकता मनोविज्ञान-सम्मत एवं वैज्ञानिक दृष्टि से ग्राह्य है।

(३) भारतीय साहित्य संस्कृति कला इत्यादि से प्रतीकों का चयन करने में दिनकर जी ने अपूर्व सूझ बूझ का परिचय दिया है। छायावाद के वायवीय गगन से उन्होंने धरती पर न केवल स्वयं आने का बल्कि कविता कामिनी को भी खींच लाने का जो प्रयत्न किया था उसकी सात्विक पूर्ति उर्वशी की रचना से हुई है। परंपरागत प्रतीकों का उपयोग उन्होंने एक नई दिशा में किया है। परंपरा एवं प्रगति का यह गठबंधन हिन्दी काव्य के लिये निश्चय ही शुभ है। उर्वशी की वास्तविक सिद्धि जब भी इस काव्य का व्याख्यात्मक विश्लेषण किया जायेगा यही मानी जायेगी कि मानव-जीवन के मूल प्रेरणा-स्रोत काम का यह काव्य निश्छल निरवच्छिन्न सहज भाष्यात्मक चित्र प्रस्तुत करता है और कि नई कविता के अव्यवस्थित दिशाभ्रष्ट वातावरण में यह काव्य बहुत महान, प्रेरणादायक तथा मनोहारी प्रयास का सूचक है।

१४

उर्वशी में काम का स्वरूप

साधारणतः काम का अर्थ है इच्छा या इन्द्रिय सुख की इच्छा । यह इसका सीमित अर्थ है जो काम के केवल एक रूप का बोधक है किन्तु केवल इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त सुखेच्छा ही काम नहीं है । अपने व्यापक अर्थ में यह मानव-मन की समस्त क्रियाओं का प्रेरक है । यही कारण है कि मानव मन के महत्व और स्थायी भावों में काम को आदिकाल से ही महत्वपूर्ण स्थान है और इसका विवेचन भी इसी की महत्ता के अनुरूप होता रहा है । वेदों में इसका प्रयोग स्रष्टा की इच्छा के अर्थ में हुआ है जो समस्त सृष्टि का मूल कारण है—

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् । इमं कामं मन्दया गोभिरश्वैश्चन्द्रवता राधसा पप्रथश्च ।

काम की इसी महत्ता के कारण इसके विवेचन की परम्परा आदिकाल से लेकर आज तक अक्षुण्ण बनी हुई है ।

काम का विवेचन

ऋषि और महर्षि सभी ने एक स्वर से काम की महत्ता स्वीकार की है । बृहदारण्यक उपनिषद् में पुरुष को काममय माना गया है—

'काममय एवायं पुरुषः ।'

शिवपुराण में बताया गया है कि जो आनन्द अमृत और दिव्य है उसी को परब्रह्म कहते हैं और परमात्मा भी उसे ही कहते हैं । उसी के विकार का नाम है काम—

आनन्दममृतं दिव्यं परं ब्रह्म तदुच्यते ।
परमात्मेति चाप्युक्त विकाराः कामसंज्ञिकाः ।

मनु महाराज ने कहा है कि काम ही सब क्रियाओं का मूल है । कोई भी क्रिया अकाम नहीं देखी जाती—

यद्यद्धि कुरुते किंचित्तत्कामस्य चेष्टितम् ।
अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।

महाभारत में मुमुक्षु पर काम की विजय दिखाई गई है। काम अपनी विजय की घोषणा करता हुआ कहता है कि जो मोक्ष-इच्छुक पण्डित मोक्ष प्राप्ति में ध्यान लगाकर मुझे नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं उनमें भी मैं मोक्ष रति के रूप में स्थित रहकर नृत्य करता हूं और हंसता हूं। अथवा मोक्षकामी को मैं नचाता हूं और उसका परिहास करता हूं—

'यो मां प्रयतते हन्तुं मोक्षमास्थाय पण्डित।
तस्य मोक्षरतिस्थस्य नृत्यामि च हसामि च।

कामसूत्र में काम को धर्म, अर्थ और मोक्ष सभी में व्याप्त बताया गया है—

'नमो धर्मार्थकामेभ्य स्तत्कामेभ्यो नमो नमः।

भगवद्गीता में भी धर्म अर्थ आदि काम की ओर संकेत किया गया है —

यं धर्मार्थविमुक्तिकामा भजन्त इष्टां गतिमाप्नुवन्ति।'

गोस्वामी तुलसीदास ने काम की अपार शक्ति मानी है जो समस्त संसार को अपने वश में किए हुए है—

'काम कुसुम धनु सायक लीन्हे, सकल भुवन अपने बस कीन्हे।
मोह न अन्ध कीन्ह केहि केही को जग काम नचाव न जेही।'

पाश्चात्य साहित्य में भी काम का विवेचन पर्याप्त गम्भीरता से हुआ है। इस विषय के तीन आचार्य प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं—फ्रायड ऐडलर और युंग। फ्रायड ने भारतीय आचार्यों की भांति काम को प्रमुखतम प्रेरक शक्ति माना है।ऐडलर ने काम का स्थान 'अहं'को देकर अपने मत की स्थापना की है। युंग ने विरोधी होते हुए भी एक प्रकार से फ्रायड के मत को ही व्याख्या की। इन्होंने कामवृत्ति (Libido) शब्द का अधिक विस्तृत अर्थ में प्रयोग किया जिसमें फ्रायड की कामवृत्ति और एडलर की 'आत्मस्थापन प्रवृत्ति अथवा 'अहं' दोनों ही सम्मिलित हैं।

उपर्युक्त उद्धरणों से काम के औदात्य का स्पष्ट बोध हो जाता है किन्तु काम का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ हो ऐसी बात नहीं है। काम का प्रयोग साहित्य में केवल इन्द्रिय सुखेच्छा के लिए भी हुआ है। अत साहित्य में वर्णित काम-प्रयोग को दो वर्गों में रक्खा जा सकता है। एक वर्ग में काम

का सीमित—इन्द्रिय सुखेच्छा—प्रयोग है और दूसरे में व्यापक—मन का अतिक्रमण। इन दोनों वर्गों के अंतर्गत ही काम का विवेचन सहज स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक है।

उर्वशी में काम का स्वरूप।

उर्वशी में काम के स्वरूप का विवेचन करने से पूर्व यह आवश्यक है कि स्वयं कवि द्वारा निरूपित काम-स्वरूप पर एक विहंगम दृष्टि डाल ली जाय।

उर्वशी की भूमिका में काम का संक्षिप्त परिचय देते हुए दिनकर ने बताया है कि जिस प्रकार पुरुषार्थ के तीन अंग हैं उसी प्रकार मनुष्य के आन्तरिक व्यक्तित्व के भी तीन धरातल हैं—

१ जैव भावनाओं का धरातल
२ बुद्धि का धरातल
३ आत्मा का धरातल

इनमें जैव धरातल मनुष्य के समग्र जीवन का आधार है। इस धरातल पर मनुष्य और पशुओं में कोई भेद नहीं होता क्योंकि इसका नियमन सहज प्रवृत्ति करती है। बुद्धि और आत्मा के धरातल मनुष्य और पशु के मध्य विभाजक रेखाएं खींचते हैं। अर्थ और काम ये दोनों जैव धरातल के ही पुरुषार्थ हैं। किन्तु काम का केवल सहज रूप जो पशुओं में भी मिलता है मनुष्य की मनुष्यता के लिए कलंक है। मनुष्य की काम भावना उदात्त और व्यापक होनी चाहिए।

'काम की ये जो निराकार अनुभूतियां हैं वे ही उदात्तीकरण के सूक्ष्म सोपान हैं। त्वचाएं, स्पर्श के द्वारा सुन्दरता का जो परिचय प्राप्त करती हैं वह अधूरा और अपूर्ण होता है। पूर्णता पर वह तब पहुंचता है जब हम सौन्दर्य के निदिध्यासन अथवा समाधि में होते हैं।

इन पंक्तियों से अनायास ही यह निष्कर्ष निकल आता है कि काम का उदात्तीकरण जिस प्रकार जीवन में अपेक्षित है उसी प्रकार काव्य में भी है क्योंकि—

कला साहित्य और विशेषत काव्य में भौतिक सौन्दर्य की महिमा अपार है। फिर भी श्रेष्ठ कविता बराबर भौतिकता से परे भौतिकोत्तर सौन्दर्य का संकेत देती है, [illegible]

अपनी इसी मान्यता का (यद्यपि यह मान्यता भारतीय साहित्य के लिए नई नहीं है) कवि दिनकर ने काव्यमय विवेचन पुरूरवा और उर्वशी के माध्यम से प्रस्तुत काव्य के तृतीय अंक में किया है। पुरूरवा सनातन पुरुष का प्रतीक है जो केवल काम भावनाओं के धरातल पर ही नहीं बुद्धि और आत्मा के धरातल पर भी खड़ा हुआ है। उर्वशी सनातन नारी की प्रतीक है जो देह भावनाओं के धरातल को ही सब कुछ समझती है और अपनी काम तृप्ति के लिए वह पुरूरवा के बाहु-पाश में बंधने के लिए स्वर्गलोक से भूलोक पर इसी प्रकार खिंची आई है जैसे अयस्कान्त अयस को खींच लेता है। इसी धरातल के कारण वह अपने अपहरण को उचित नहीं वरन् श्रेष्ठ बताती है और उसे उन प्रेमिकाओं से थोड़ी देर के लिए ईर्ष्या हो जाती है जो अपहृत होती हैं—

'वही धन्य जो मानमयी प्रणयी के बाहु-वलय में
खिंची नहीं विक्रम-तरंग पर चढ़ी हुई आती है।

पुरूरवा के मन में जो काम भावना है उस पर बुद्धि का अंकुश है इसलिए उसमें अनासक्ति का भी योग है। पुरूरवा की मान्यता है कि जो व्यक्ति संसार में सलिल में कमलवत् रहता है वही श्रेष्ठ है क्योंकि अनासक्ति जिस प्रकार अन्य भावनाओं को पवित्रता प्रदान करती है, उसी प्रकार प्रेम को भी पवित्र बनाती है—

नहीं इतर इच्छाओं तक ही अनासक्ति सीमित है
उसका किंचित स्पर्श प्रणय को भी पवित्र करता है।'

पुरूरवा की यह अनासक्ति-भावना उर्वशी को बहुत अखरती है। उसकी धारणा है कि अनासक्ति से काम भावना दुर्बल हो जाती है। केवल आसक्ति ही इस भावना को शक्ति और आनन्द प्रदान करती है। इसलिए जब तक मनुष्य के मन में आसक्ति रहती है, तभी तक नारी का उस पर अधिकार रहता है और जब यह आसक्ति अनासक्ति में बदल जाती है नारी अपना अधिकार खो बैठती है।

यहीं से पुरूरवा के मन का द्वन्द्व प्रारम्भ हो जाता है। वे आसक्ति और अनासक्ति के बीच झूलने लगते हैं। उनकी समझ में नहीं आता कि उनके मन का द्वन्द्व रूप के रसमय *निमन्त्रण* के कारण है अथवा अपने ही रुधिर की

शक्ति के कारण ? और इस प्रश्न का उत्तर बार-बार यही मिलता है—

> 'दृष्टि का जो पेय है, वह रक्त का भोजन नहीं है।
> रूप की आराधना का मार्ग आलिंगन नहीं है।'

पुरूरवा इस उत्तर को भी पूर्णतया ग्रहण नहीं कर पाते। यदि ग्रहण कर लें तो इन्द्र कैसा? जो मानव का स्वभाव है। वे जानते हैं कि उनमें अमित शारीरिक शक्ति है किन्तु काम की शक्ति उससे भी प्रबल है जिसके कारण वे सहज ही नारी के बंकिम नयन-बाण से बिंध जाते हैं। वे स्वीकार कर लेते हैं कि काम भावना दुर्निवार है यह समूचे संसार में रमी हुई है।

उर्वशी समझ जाती है कि पुरूरवा के मन पर बुद्धि का अंकुश लगा हुआ है। जब तक यह अंकुश दूर नहीं होगा तब तक उनकी अनासक्ति की भावना दूर नहीं हो सकती। इसलिए वह काम और बुद्धि की तुलना करके बुद्धि को हेय सिद्ध करने का प्रयास करती है—

> 'रक्त बुद्धि से अधिक बली है और अधिक ज्ञानी भी
> क्योंकि बुद्धि सोचती और शोणित अनुभव करता।

इसीलिए वह 'रक्त की भाषा' का समर्थन करती है—

> 'तुम सिखलाते हो विराग जिसको जिजीविषा भुलाकर,
> मेरे लिए सत्य की वाणी वही तथा सीमित है।
> पढ़ो रक्त की भाषा को विश्वास करो इस लिपि का'

किन्तु महाराज पुरूरवा उर्वशी के इन तर्कों से सहमत नहीं होते। उन्हें पूर्ण विश्वास है कि केवल शरीरालिंगन हेय है। मनुष्य को शरीर की सीमा को लांघ बुद्धिमान और मनोमय जीवन को प्राप्त करना चाहिए—

> 'ऊपर जो द्युतिमान मनोमय जीवन झलक रहा है
> उसे प्राप्त हम कर सकते हैं तन के अतिक्रमण से।

और इसी के द्वारा मनुष्य परमात्मा तक उठ जाता है—

> 'यह प्रतिभाति वियोग नहीं आलिंगन नर-नारी का
> देह-धर्म से परे अंतरात्मा तक उठ जाता है।

निष्कर्ष यह है कि उर्वशी में काम के जिस स्वरूप का विवेचन हुआ है, वह परिष्कृत और उदात्त है। अपनी इसी परिष्कृति और औदात्य के कारण काम की चतुर्वर्ग में गणना की गई है।

१५

उर्वशी का काव्य-सौंदर्य

भारतीय साहित्य में काव्य-पुरुष की कल्पना अत्यन्त प्राचीन है। इसी आधार पर काव्य-संगठन को दो भागोंमें विभाजित किया गया है—आत्मा और शरीर काव्यशास्त्र की भाषा में इन्हें क्रमशः भावपक्ष और कलापक्ष कहते हैं। भावपक्ष का सम्बन्ध काव्य की वस्तु से है और कलापक्ष का उसके आकार से। जिस प्रकार वस्तु और आकार का अटूट सम्बन्ध है, उसी प्रकार भावपक्ष और कलापक्ष दोनों परस्पर इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि इन्हें अलग नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार शरीर के अभाव में आत्मा की और आत्मा के अभाव में शरीर की कल्पना निराधार है उसी प्रकार भावपक्ष के अभाव में कलापक्ष की और कलापक्ष के अभाव में भावपक्ष की कल्पना नहीं की जा सकती। इन दोनों का पार्थक्य केवल अध्ययन की सुविधा के लिए स्वीकार किया गया है अन्यथा किसी काव्य की गरिमा इन दोनों के समुचित समन्वय में ही निहित होती है।

भावपक्ष का विवेचन

भावपक्ष का सम्बन्ध काव्य के वर्ण्य विषय से है अतः इसका विवेचन करने के लिए इसे दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—भाव और रस। इन दोनों का भी परस्पर अटूट सम्बन्ध है। भाव के बिना रस की और रस के बिना भाव की कोई सत्ता नहीं होती। इसीलिए आचार्य भरत ने कहा है—

'न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार भाव उन विकारों का समूह है जो बाह्य जगत के संवेदनों से मनुष्य के हृदय में उठते हैं किन्तु साहित्य के भाव मनोविज्ञान के भाव से भिन्न होते हैं अतः साहित्य में मनोविज्ञान की यह परिभाषा स्वीकार नहीं की जाती। साहित्य के भाव मन के वे विकार हैं जिनमें सुख-दुःखात्मक अनुभव के साथ कुछ क्रियात्मक प्रवृत्ति भी रहती है। दूसरे शब्दों में भाव का अभिप्राय काव्य के वर्ण्य विषय (कथावस्तु) से है।

१५

उर्वशी का काव्य-सौंदर्य

भारतीय साहित्य में काव्य-पुरुष की कल्पना अत्यन्त प्राचीन है। इसी आधार पर काव्य-संगठन को दो भागोंमें विभाजित किया गया है—आत्मा और शरीर काव्यशास्त्र की भाषा में इन्हें क्रमशः भावपक्ष और कलापक्ष कहते हैं। भावपक्ष का सम्बन्ध काव्य की वस्तु से है और कलापक्ष का उसके आकार से। जिस प्रकार वस्तु और आकार का अटूट सम्बन्ध है, उसी प्रकार भावपक्ष और कलापक्ष दोनों परस्पर इस प्रकार गुंथे हुए हैं कि इन्हें पृथक नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार शरीर के अभाव में आत्मा की और आत्मा के अभाव में शरीर की कल्पना निराधार है उसी प्रकार भावपक्ष के अभाव में कलापक्ष की और कलापक्ष के अभाव में भावपक्ष की कल्पना नहीं की जा सकती। इन दोनों का पार्थक्य केवल अध्ययन की सुविधा के लिए स्वीकार किया गया है अन्यथा किसी काव्य की गरिमा इन दोनों के समुचित समन्वय में ही निहित होती है।

भावपक्ष का विवेचन

भावपक्ष का सम्बन्ध काव्य के वर्ण्य विषय से है अतः इसका विवेचन करने के लिए इसे दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—भाव और रस। इन दोनों का भी परस्पर अटूट सम्बन्ध है। भाव के बिना रस की और रस के बिना भाव की कोई सत्ता नहीं होती। इसीलिए आचार्य भरत ने कहा है—

'न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार भाव उन विकारों का समूह है जो बाह्य जगत के संवेदनों से मनुष्य के हृदय में उठते हैं किन्तु साहित्य के भाव मनोविज्ञान के भाव से भिन्न होते हैं अतः साहित्य में मनोविज्ञान की यह परिभाषा स्वीकार नहीं की जाती। साहित्य के भाव मन के वे विकार हैं जिनमें सुख-दुःखात्मक अनुभव के साथ कुछ क्रियात्मक प्रवृत्ति भी रहती है। दूसरे शब्दों में भाव का अभिप्राय काव्य के वर्ण्य विषय (कथावस्तु) से है।

मनुष्य का धर्म है—पाशविकता से ऊपर उठना और अपनी सहज प्रवृत्तियों पर मानवोचित उदात्तीकरण की छाप लगा देना। 'उर्वशी' में यही बताया गया है कि काम का उदात्त रूप जो तन की सीमा का अतिक्रमण करके प्राप्त होता है मनुष्य को ग्राह्य है। इसी से उसके जीवन में प्रगति के शत-सहस्र निर्झर फूटते हैं।

'उर्वशी' का अंगी रस शृंगार रस है। इस रस में अन्य रसों की अपेक्षा अधिक व्यापकता होती है इसलिए इसे रसराज स्वीकार किया गया है।

शृंगार रस के दो भेद हैं—संयोग शृंगार और वियोग शृंगार। इन्हें क्रमशः सम्भोग और विप्रलम्भ भी कहते हैं। संयोग में नायक-नायिका एक साथ रहकर आनन्द की उपलब्धि करते हैं। वियोग में वे दोनों बिछुड़ जाते हैं। विप्रलम्भ शृंगार के चार भेद होते हैं—पूर्वराग, मान प्रवास और करुण। पूर्वराग का अभिप्राय है रूप-सौन्दर्य आदि के श्रवण अथवा दर्शन से परस्पर अनुरक्त नायक-नायिका की उस दशा का जो उनके समागम से पूर्व हुआ करती है। मान का अर्थ है कोप या प्रणय-कोप। इसे आचार्यों ने विशुद्ध विप्रलम्भ नहीं माना इसमें नायक-नायिका परस्पर चाहे न बोलें किन्तु एक दूसरे के पास तो रहते हैं। इसलिए इसमें विरह की पूर्णानुभूति नहीं होती। प्रवास में नायक-नायिका किसी कारण से विदेश चले जाते हैं और इस प्रकार एक दूसरे से बिछुड़ जाते हैं। करुण विप्रलम्भ शृंगार का वह प्रकार है जिसे प्रेमी और प्रमिका में से किसी एक के दिवंगत हो जाने किन्तु पुनर्जीवित हो सकने की अवस्था में जीवित बचे दूसरे के हृदय के शोक संवलित रति भाव का अभिव्यंजक कहा गया है।

उर्वशी में शृंगार रस के ये दोनों पक्ष दिखाये गये हैं। उर्वशी को महाराज पुरूरवा एक राक्षस से बचा लेते हैं। उर्वशी उनके शौर्य और रूप को देखकर उन पर मुग्ध हो जाती है। महाराज स्वर्गलोक से अपनी राजधानी प्रतिष्ठानपुर को चले जाते हैं। उर्वशी उनके विरह में इतनी व्याकुल हो जाती है कि स्वर्ग का समूचा वैभव उसे नीरस और जी-कोट प्रतीत होने लगता है—

'स्वर्ग-स्वर्ग मत कहो स्वर्ग में सब सौभाग्य भरा है।

और महाराज पुरूरवा भी उर्वशी के लिए कम व्याकुल नहीं हैं—

'मेरे अश्रु ओस बनकर कल्पद्रुम पर छायेंगे।

इसके पश्चात् उर्वशी और महाराज पुरूरवा का मिलन हो जाता है। मिलन-सुख से महाराज पुरूरवा इतने आनंदित हैं कि स्वर्ग में आनन्द की कल्पना ही नहीं कर पाते—

'स्वर्ग से हृदय-सुख लिये तन के पावन कुसुम कानन में।

उर्वशी का इस प्रकार उनके स्पर्श को अभिव्यक्त करती है—

'वह के हृदयमय दिन न आये वहां हो क्या जानता को।

इस प्रकार उर्वशी और पुरूरवा दोनों के माध्यम से कवि ने शृंगार रस की योजना की है किन्तु यह योजना स्वाभाविक कम और कृत्रिम अधिक है। पुरूरवा और उर्वशी की काम-विषयक अतिरेक भावनाओं में चित्रण कुछ अधिक किया जाता है। यह कहा जा सकता है कि इन दोनों के शृंगारिक प्रसंग में वह स्वाभाविकता नहीं जो अपेक्षित थी। कवि जब चिन्तन और दर्शन की भाषा में बोलता है तब स्वाभाविकता का कुछ भी नहीं रह जाती।

औशीनरी की विरह-व्यथा अपेक्षाकृत स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी है। इसका कारण यही है कि कवि ने उस स्थल चिन्तन का माध्यम नहीं बनाया। औशीनरी के ये उद्गार कितने मार्मिक और प्रभावक हैं—

'सखी! कौन ऐसा है जिसको नारी नहीं ठगेगी?
नारी का मन क्या पति की सेवा को अपने है
जानता है यदि हृदय अपमानित हो उसको जाती है।

शृंगार रस के अतिरिक्त वीर और शान्त रस के प्रसंग भी 'उर्वशी' में परिलक्षित होते हैं, किन्तु उनमें भी अपेक्षित विवेचन का अभाव है।

उर्वशी का कलापक्ष

कलापक्ष के अन्तर्गत विशेषतः अलंकार योजना और भाषा-संगठन का विवेचन होता है। अलंकार-योजना मनुष्य की सौन्दर्योपासक दृष्टि की परिचायिका है, क्योंकि मनुष्य स्वभावतः सौन्दर्योपासक प्राणी है। वह अपने चतुर्दिक के वातावरण को सौन्दर्य से मंडित देखना चाहता है। उसकी यह इच्छा बाह्य जगत् तक ही सीमित नहीं है वरन् आन्तरिक जगत् को भी वह सौन्दर्यमंडित देखने का इच्छुक है। इसी इच्छा के वशीभूत होकर वह सौन्दर्य का पालन प्रयत्न करता है। वाणी के विधान में भी उसकी यही इच्छा

कर्महीना है। वह चाहता है कि वह जो कुछ भी कहे सुने अथवा लिखे वह भी सौन्दर्य-विहीन न हो जाये इसीलिए काव्यों में अलंकारों की योजना की गई।

अलंकार दो शब्दों से मिलकर बना है—अलम्+कार। अलम्' का अर्थ है भूषण और 'कार' का अर्थ है करने वाला अर्थात् भूषित अथवा अलंकृत करने के साधन को अलंकार कहते हैं।

सामान्यतः अलंकारों के तीन भेद माने जाते हैं—शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार। शब्द को चमत्कृत करने वाले शब्दाश्रित अलंकार शब्दालंकार कहलाते हैं। अर्थ को चमत्कृत करने वाले अर्थाश्रित अलंकार अर्थालंकार कहे जाते हैं और शब्द तथा अर्थ दोनों को चमत्कृत करने वाले तथा दोनों में आश्रित रहने वाले अलंकार उभयालंकार होते हैं।

'उर्वशी' में अलंकार-योजना स्वाभाविक और अर्थवद्धक है। कवि का कहीं भी अलंकारों के प्रति अनावश्यक मोह दृष्टिगोचर नहीं होता है। इसीलिए इसमें अर्थालंकारों का ही आधिक्य है। व्याख्या भाग में सभी अलंकारों का निर्देश यथास्थान कर दिया गया है अतः यहां उन्हें दोहराना अनुचित प्रतीत होता है।

'उर्वशी' की भाषा अत्यन्त प्रौढ़ और भावानुसारिणी है जो भावों को अपने अबाध प्रवाह में सबल प्रवाहित कर रही है। इसीलिए 'उर्वशी' में अनेक पंक्तियां सूक्ति बन गई हैं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 'उर्वशी' का काव्य-सौन्दर्य कवि की सफलता की महती उद्घोषणा है। यद्यपि इसमें काव्यशास्त्रीय नियमों का पूर्ण प्रयोग नहीं मिलता, तथापि अपने क्षेत्र में जो कुछ भी कहा गया है, वह श्लाघ्य है। इस काव्य में भाव और कला दोनों का समुचित समन्वय हुआ है, बल्कि दोनों एक दूसरे को चुनौती देते हुए-से प्रतीत होते हैं। किसी महान् कवि अथवा उत्तम काव्य की सफलता भी यही है।

१६

उर्वशी का मूल्यांकन

पिछले अध्यायों में उर्वशी का सर्वांगीण आलोचना को भिन्न भिन्न दृष्टियों से देखा गया। विषय के सभी अंग अथवा पक्ष में कुछ विचारों तथा मूल्यांकन की सम्भावना [illegible] किन्तु फिर भी पक्ष के मूल्यांकन देना एक आवश्यक [illegible] बन जाता है क्योंकि इसके बिना न तो लेखक का दृष्टिकोण ही स्पष्ट व सम्पूर्ण हो पाता है और न ही पाठक की रुचि का आलोचनात्मक विवेक हो पाता है।

आज उर्वशी को प्रकाशित हुए करीब दस वर्ष हो गया है। इस दस वर्ष में भिन्न-भिन्न समीक्षकों ने अपनी रुचि के अनुसार इसके विषय में अपने विभिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किए हैं। इन समीक्षाओं में उर्वशी के मूल्यांकन की ओर पिछले वर्ष से काफी भीड़ रही। इस भीड़ की दृष्टि से उसका सबसे बड़ा विचार यही निकलता है कि आधुनिक काव्य जगत में उर्वशी अपने ढंग की असाधारण कृति है। इसके प्रकाशन से एक बार तो सम्पूर्ण साहित्य जगत् की दृष्टि आकर्षित हो गई। दृष्टि के आकर्षित होने का मूल कारण था— पुराने ढंग वाली के बिना [illegible] भावानुभूति की सर्वांगीण व्याख्या।

कवि दिनकर ने पुरूरवा तथा उर्वशी की कथा का पौराणिक आधार लेकर इस भावानुभूति का अभिव्यक्त किया है। कुछ आलोचकों का ऐसा मत है कि दिनकर जी ने उर्वशी और पुरूरवा का कथानक ग्रहण करके गड़े मुर्दे उखाड़े हैं। ऐसे आलोचकों के इस वक्तव्य से उनकी मन्द एवं संकीर्ण बुद्धि का आभास होता है। उन्हें शायद इस बात का ज्ञान नहीं है कि आज तक जितनी भी महान काव्य-कृतियाँ हैं उन सबका अधिकतर विषय बड़ा महान प्रख्यात आदर्श तथा चिरस्मरणीय रहा है क्योंकि काव्य के आदर्शीकरण में पौराणिक तत्वों का महत्वपूर्ण स्थान है। कल्पित पात्रों का आधार काव्य को इतना गम्भीर एवं आकर्षक नहीं बना सकता जितना ऐतिहासिक

कर्मदीप्त है। वह चाहता है कि वह जो कुछ भी कहे सुने अथवा लिखे, वह भी सौन्दर्य-विहीन न हो पाये इसीलिए काव्यों में अलंकारों की योजना की गई।

अलंकार दो शब्दों से मिलकर बना है—अलम्+कार। अलम् का अर्थ है भूषण और 'कार' का अर्थ है करने वाला अर्थात् भूषित अथवा अलंकृत करने के साधन को अलंकार कहते हैं।

सामान्यतः अलंकारों के तीन भेद माने जाते हैं—शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार। शब्द को चमत्कृत करने वाले शब्दाश्रित अलंकार शब्दालंकार कहलाते हैं। अर्थ को चमत्कृत करने वाले अर्थाश्रित अलंकार अर्थालंकार कहे जाते हैं और शब्द तथा अर्थ दोनों को चमत्कृत करने वाले तथा दोनों में आश्रित रहने वाले अलंकार उभयालंकार होते हैं।

उर्वशी में अलंकार योजना स्वाभाविक और अर्थवर्द्धक है। कवि का कहीं भी अलंकारों के प्रति अनावश्यक मोह दृष्टिगोचर नहीं होता है। इसीलिए इसमें अर्थालंकारों का ही आधिक्य है। व्याख्या-भाग में सभी अलंकारों का निर्देश यथास्थान कर दिया गया है अतः यहां उन्हें दोहराना अनुचित प्रतीत होता है।

'उर्वशी' की भाषा अत्यन्त प्रौढ़ और भावानुसारिणी है जो भावों को अपने अबाध प्रवाह में सर्वत्र प्रवाहित कर रही है। इसीलिए 'उर्वशी' में अनेक पंक्तियां सूक्ति बन गई हैं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 'उर्वशी' का काव्य-सौन्दर्य कवि की सफलता की महती उद्घोषणा है। यद्यपि इसमें काव्यशास्त्रीय नियमों का पूर्ण प्रयोग नहीं मिलता, तथापि अपने क्षेत्र में जो कुछ भी कहा गया है, वह साम्य है। इस काव्य में भाव और कला दोनों का समुचित समन्वय हुआ है, बल्कि दोनों एक दूसरे को चुनौती देते हुए-से प्रतीत होते हैं। किसी महान् कवि अथवा उत्तम काव्य की सफलता भी यही है।

१६

उर्वशी का मूल्यांकन

पिछले अध्यायों में उर्वशी की नवीनतम आलोचना को भिन्न भिन्न दृष्टियों से देखा गया। विषय के प्रति मतभेद अथवा प्रश्न के बहुत पिछले सदा मूल्यांकन की यथाशक्य प्रस्तुत किए गए किन्तु फिर भी अन्त में मूल्यांकन जैसा एक स्वतन्त्र अध्याय आवश्यक प्रतीत हुआ क्योंकि इसके बिना न तो लेखक का मन्तव्य ही पाठकों के सम्मुख आ पाता है और न ही कवि की कृति का नीर-क्षीर विवेक हो पाता है।

आज उर्वशी को प्रकाशित हुए करीब एक वर्ष हो गया है। इस एक वर्ष में भिन्न-भिन्न समीक्षकों ने अपनी रुचि के अनुसार इसके विषय में अपने विभिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किए हैं। पत्र-पत्रिकाओं में उर्वशी के मूल्यांकन की गति पिछले वर्ष से काफी तीव्र रही। इस तीव्रता का दृष्टिगत स्पष्ट कारण कहना निष्कर्ष तो यही निकलता है कि आधुनिक काव्य जगत में उर्वशी अपने ढंग की असाधारण कृति है। इसके प्रकाशन से एक बार तो सम्पूर्ण आलोचक वर्ग की दृष्टि चकाचौंध हो गई। दृष्टि के चकाचौंध होने का मूल कारण था—पुरुष एवं नारी के मिलन में सन्निहित भावानुभूति की नवीनतम व्याख्या।

कवि दिनकर ने पुरूरवा तथा उर्वशी की कथा का पौराणिक आधार लेकर इस भावानुभूति को अभिव्यक्त किया है। कुछ आलोचकों का ऐसा मत है कि दिनकर जी ने उर्वशी और पुरूरवा का कथानक ग्रहण करके गड़े मुर्दे उखाड़े हैं। ऐसे आलोचकों के ऐसे वक्तव्य से उनकी मन्द एवं संकीर्ण बुद्धि का आभास होता है। उन्हें शायद इस बात का ज्ञान नहीं है कि आज तक जितनी भी महान काव्य-कृतियाँ हैं उन सबका कथ्य विषय बड़ा महान प्रख्यात आदर्श तथा विश्वसनीय रहा है क्योंकि काव्य के साधारणीकरण में उपरोक्त तत्वों का महत्वपूर्ण स्थान है। कल्पित पात्रों का आधार काव्य को इतना सशक्त एवं व्यापक नहीं बना सकता जितना पुराणप्रसिद्ध

आधार बना सकता है। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि 'काम' मानव की मूल प्रवृत्ति है। और मानव की मूल प्रवृत्तियों पर काल का बन्धन नहीं होता। कथा या पात्र तो उस मूल अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र होते हैं मगर फर्क इतना है कि प्रख्यात कथा की ठोस भित्ति पर मूल चित्तवृत्तियों के चित्र जितने सुन्दर उभर कर आते हैं उतने उत्पाद्य कथावस्तु में नहीं उभर पाते। उर्वशी-पुरूरवा के ऐतिहासिक अथवा पौराणिक स्थूल व्यक्तित्व को यद्यपि कवि ने ग्रहण किया है लेकिन काव्य में इनका व्यक्तित्व एवं घटनाक्रम अभिप्रेतार्थ को ही प्रस्तुत करता है मूल अभिप्रेत काम की व्यंजना नहीं करता। ये (पुरूरवा-उर्वशी) तो मूलभाव (काम, प्रेम) के साधन मात्र हैं पर्याय नहीं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि उर्वशी-काव्य का आधारभूत विषय पुरूरवा-उर्वशी की कथावस्तु नहीं है अपितु कामानुभूति है। काम मानव की प्रबलतम वृत्ति है। 'नर नारी के स्वाभाविक संसर्ग में प्रेम का पानी चढ़ जाने पर यही काम-वृत्ति एक पवित्र कमनीय सम्बन्ध का रूप ग्रहण कर लेती है। किन्तु उर्वशी का कवि उसे सहज मानव-वृत्ति के रूप में चित्रित करने का इच्छुक है उसने आग्रह-सहित यह किया भी है।'

काम की सहज मानव-वृत्ति को कवि ने केवल शरीर अथवा जैव धरातल तक ही सीमित नहीं रखा अपितु उसे आत्मा के ऊर्ध्वलोक पर समासीन करने का प्रयास किया है। कवि ने अपने काव्य की भूमिका तथा उर्वशी काव्य में बात का दार्शनिक विवेचन किया है कि प्रेम के द्वारा जीव उच्च धरातल पर सरलता से पहुंच सकता है जब कि योगादि के मार्ग सूर्य के समान हैं जो साधक को चौंधिया देते हैं। परिणाम यह होता है कि वे दिग्भ्रमित एवं पथभ्रष्ट हो जाते हैं। अतः नर-नारी के प्रेम की महत्ता को स्पष्ट करते हुए कवि दिनकर ने अपनी भूमिका में कहा है—'देह और काम की सीमा के बाहर निकलने का एक मार्ग योग है किन्तु उसकी दूसरी राह नर-नारी के प्रेम के भीतर से भी निकलती है। × × × प्रेम की एक उदात्तोच्च स्थिति वह भी है जो समाधि से मिलती-जुलती है। यद्यपि कवि दिनकर ने यह कोई मौलिक विचारधारा प्रस्तुत नहीं की है। वेदों में योगादि द्वारा प्राप्त

प्रेमाधार को उस ध्यान में तन्मय बनाता है। आ परिवेश के परिगत रसों के आश्रयी को [illegible] है। [illegible] प्रेम तथा योग का [illegible] के लिए उपादान और एक तथा [illegible] है।

रिचर्ड्स जी के अनुसार [illegible] जिस प्रकार एक [illegible] अथवा नारी की सौन्दर्य-दर्शन एक नारी इतनी [illegible] जाती है उसी प्रकार प्रेम की [illegible] आदि का अनुभव-जन्य तौलादों में बदल जाती है। यह सौन्दर्य के उपादानत्व की प्रथम अवस्था है। मन-आत्मा का [illegible] शारीरिक एवं स्नेहों के भीतर प्रवेश करता है [illegible] जहाँ वह प्रेम-मनोमूर्ति सौन्दर्य की व्याख्या का स्वयं प्रश्न करता है। मनोविज्ञान में इसे ध्यान निरोध कहते हैं। इस निरोध के पश्चात् धीरे धीरे मन की पूर्णता उत्पन्न होती जाती है। जब सौन्दर्य के प्रति उसका विचार हो जाता है और उसे एक साधारण ज्ञान लगता है जैसे इस संसार में परे कारण कुछ है जिसे कुछ प्राप्त करना है। यह प्राप्त करने की जिज्ञासा ही उपभोग का कारण है जिस प्रेम के काम में और भावना का लोप में प्रेमी साधक जानने में समर्थ हो जाता है।

उर्वशी में उसकी पुरूरवा के माध्यम से कवि ने प्रेम के इस चरम विकास की पाँच अवस्थाएँ मानी हैं—

१—मौनाकर्षण।
२—ध्यान निरोध।
३—शारीरिक रसानुभूति।
४—अशरीर तृप्ति।
५—उदात्तीकरण।

जब उर्वशी [illegible] रानियों के साथ [illegible] रही थी तब उसको एक राक्षस ने हर लिया था। पुरूरवा ने उसे मुक्त कराया। इसी समय दोनों के परस्पर दर्शन से 'मौनाकर्षण' पैदा हुआ। उसकी दृष्टि लोक में तो पुरूरवा धरती पर अपने प्रेम-उदय का अभिव्यक्त (इन्द्रिय वस्तु का प्रभाव में) करता रहा। उर्वशी का समय तो काटे नहीं कटता था। उसे लगता था जैसे समय को कोई अजगर अपने नीचे दबाकर बैठ गया है। इस प्रकार जहाँ दोनों के परस्पर दर्शन से मौनाकर्षण उत्पन्न हुआ था वहाँ अभाव के

कारण विरह में तपने से 'यौन-स्थैर्य'' भी हो जाता है। यौन-स्थैर्य को कवि ने महारानी औशीनरी की सखी मदनिका के मुख से इस प्रकार कहलवाया है—

> ''इसमें क्या आश्चर्य प्रीति—जब प्रथम प्रथम जगती है
> दुर्लभ स्वप्न समान रम्य नारी नर को लगती है।''

नर-नारी के प्रेम की जड़ जम जाने के बाद परस्पर मिलने की आकांक्षा होती है। वे एक-दूसरे में समा जाना चाहते हैं। शारीरिक कामानुभूति' की इस भावना का कवि ने बड़े विस्तार से उल्लेख किया है। 'उर्वशी देवलोक की अप्सरा है जहाँ शीतलता का निवास है अतः धरती पर आकर वह शीतलता को छोड़कर पुरुष की उत्तप्त भुजाओं के पाश में बंधी रहना चाहती है। यद्यपि पहले-पहल पुरूरवा की भी यही स्थिति थी। इस शारीरिक कामानुभूति को कवि ने बड़े ही हृदयग्राही शब्दों में अभिव्यक्त किया है। यथा—

> ''जब री यह माधुरी और ये प्रखर विकच फूलों से।
> × × ×
> पर्वत की आतुरी शक्ति के आकुल आलोड़न में।

शारीरिक स्तर पर किया गया यह परिरंभण आलिंगन-पाश तथा काम केलि अधिक समय तक नहीं बंध पाती। मनुष्य का चित्त इससे भी आगे पहुंचना चाहता है, कारण परिरंभणावस्था में प्राप्त क्षणिक आनन्द को वह शाश्वत आनन्द की भूमि पर ले जाना चाहता है। अतः प्रेमी या प्रेमिका शारीरिक स्तर के प्रति विरत होकर ऊर्ध्वलोक की ओर अग्रसर होना चाहता है। इस प्रकार प्रेम की यह तीसरी सोपान जीव को महत्तर तृषा की ओर अग्रसर करती है। उर्वशी को पा लेने के पश्चात् पुरूरवा को भी यह आभास होता है कि शरीर-भोग करने के पश्चात् भी कोई ऐसी आग है जो मुझे एक पल भी जीने नहीं देती और सदा अशान्त किये रहती है।

इस प्रकार घोर अन्तर्द्वन्द्व की इस स्थिति में आधिभौतिक सुख के पर्दे फटने लगते हैं और परम सत्य का मन्द-मन्द प्रकाश जीव को आवृत कर लेता है। ऐन्द्रिय दर्शन समाप्त हो जाता है और चित्त उदात्त एवं निष्काम होकर चिन्तन की भूमिका में चरण रखता है। चिन्तन बुद्धि का कर्म है और प्रेम रक्त भाव अथवा हृदय का। अतः चिन्तन के क्षणों में कामानुभूति समाप्त हो जाती है और चित्तवृत्ति सूक्ष्म-तत्त्व ग्राही एवं कुछ नीरस सी होने

बन जाती है। ऐसे स्थलों पर कवि का चिन्तन भावावेश होकर अपनी काव्य कला के साथ दिखाई पड़ता है जिससे चिन्तन में नीरसता न आने पाये। कवि का प्रधान स्वर है—विश्वात्मकता। निसर्ग से विश्वात्मकता की जो प्रवृत्ति प्राप्त करके उसने उर्वशी पर [illegible] आधुनिक काव्य में [illegible] [illegible] था, उसी को उसने निसर्ग के रूप में प्रस्तुत किया। यहाँ तक कि निसर्ग ही तो विश्वात्मकता को वहन करने की सबसे बड़ी कड़ी बनता है। इस प्रकार कवि ने जो सिद्धान्त स्वीकार किया है उसे व्यवहार में लाकर अपनी और [illegible] का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत किया है। 'उर्वशी' की [illegible] में पुरूरवा द्वारा कहे गये ये विचार [illegible] [illegible] भावनाओं का सार है—

> मैं [illegible] की जन्मभूमि हूँ पर उसके विकास की
> सारी लीला भूमि नहीं कोमल है [illegible] तक।
> यह लीला प्रसरित है मन के गहन [illegible] लोकों में
> जहाँ रूप की लिपि अरूप की छवि अंकित करती है
> और पुरुष प्रत्यक्ष विभासित नारी कुसुमकुंज में
> किसी दिव्य अव्यक्त कमल को नमस्कार करता है।

इस कल्पना के पुरूरवा उर्वशी अपनी देह-लीला का छोड़कर [illegible] [illegible] का रूप धारण कर लेते हैं। दिनकर जी ने काव्य-कला के एक नए दृष्टिकोण का सहारा लेकर ही भूमि को उभार कर रख दिया है। मानव भूमि में काम की जो गुप्त भावना निवास करती है, उसका चित्रण रूप में परिष्कृत [illegible] हो कवि का [illegible] उद्देश्य रहा है जिसमें कवि पूर्ण सफल रहा है।

अब प्रश्न उठता है उर्वशी काव्य में चमत्कार किस कोटि का है?

उर्वशी शृंगार रस प्रधान रचना है। ये दृश्य जहाँ पर कवि को रस विषय पुष्पों का चित्रण करने का अवसर मिला है अथवा जहाँ प्रकृति का आलम्बन एवं उद्दीपन रूप में चित्रण करने का अवसर मिला है वहाँ कवि की लेखनी को चमत्कृत होने का प्रयास [illegible] मिला है। प्रथम अंक में धरती और स्वर्ग की तुलना, द्वितीय अंक में औशीनरी की मनोव्यथा, तृतीय अंक में उर्वशी पुरूरवा का प्रेम-संलाप, चतुर्थ अंक में पति-युक्त होने उर्वशी की [illegible] तथा पुरूरवा का नारी जाति के प्रति [illegible] एवं पवित्रता रखने के महत्त्व का व्याख्यान तथा पाँचवें अंक में उर्वशी के अन्तर्धान होने जाने पर पुरूरवा के द्वारा व्याकुल होकर कहे गये और रस-पूर्ण शब्द अत्यन्त सुन्दर एवं चमत्कृत करने वाले स्थल हैं, परन्तु इसके अतिरिक्त कुछ स्थल भी ऐसे हैं

जो रस-चर्वण में बाधक सिद्ध होते हैं जैसे—तीसरे सर्ग में उर्वशी द्वारा कहलाया गया अद्वैतवाद का दार्शनिक व्याख्यान तथा पाँचवें अंक के प्रसंग में औशीनरी तथा सुकन्या का संवाद। अन्तिम सर्ग के अन्तिम भाग ने तो पाठक के साधारणीकरण में बड़ा भारी व्यवधान पैदा कर दिया है।

भाषा की दृष्टि से कवि दिनकर अग्रणी हैं। इनकी भाषा बड़ी बीभत्स एवं सशक्त है। उर्वशी में शब्द-चित्र इतने कमाल के हैं कि पाठक का मन मयूर नाच उठता है। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि शब्द चित्रों के बल पर उर्वशी साहित्य-क्षेत्र में अमर होने की सामर्थ्य रखती है। दिनकर जी की काव्य-साधना को चित्रात्मकता का वरदान प्राप्त है। आज की नई कविता उर्वशी से इस विषय में बहुत कुछ ग्रहण कर सकती है। परन्तु इतना होने पर भी स्थान-स्थान पर कवि की शब्दावली बड़ी दुर्बोध हो गई है। तत्सम शब्दावली की अतिशयता के कारण कहीं-कहीं पाठक भाव का साधारणी करण न होने पर खीझ उठता है जबकि स्वयं कवि अपनी 'कविता की भूमिका' नामक पुस्तक में यह कह गये हैं कि कविता की भाषा आमफहम होनी चाहिये। यहाँ पर कवि कथनी और करनी पर खरे नहीं उतरे।

उर्वशी में कवि द्वारा प्रदत्त एक और सबसे बड़ी देन यह है कि उसमें 'सूक्तियों' का अत्यन्त मनोरम आलंकारिक एवं लाक्षणिक प्रयोग है। सुभाषितों का ऐसा मनोरम प्रयोग हिन्दी के बहुत कम कवियों में मिलेगा।

अन्त में य॥ कहा जा सकता है कि कवि का मूल उद्देश्य है कामानुभूति की काव्यमय अभिव्यक्ति और उसका उदात्तीकरण और आधार है उर्वशी पुरुरवा का प्रेम। समाधान कवि के पास नहीं है। कारण दिनकर द्वन्द्व का कवि है समस्या एवं समस्या को उत्पन्न करने वाला कवि है समाधान का कवि नहीं। समाधान का काम वि बुद्धिजीवी आलोचकों पर डाल देता है। उसका काम है—केवल समस्या को उभार कर रखना। उर्वशी में भी कवि ने ऐसा ही किया है। प्रेम के विभिन्न पहलू कवि ने पाठक के समक्ष प्रस्तुत कर दिये हैं जिनमें से पाठक जिसमें चाहे अपनी समस्या का समाधान ढूंढ़ ले कवि को कोई ऐतराज न होगा। निश्चय ही यह 'गीति-नाट्य' काव्य-विकास की एक नवीन सोपान है।

व्याख्या भाग

(शब्दार्थ सह मर्मार्थ निर्देश तुलनात्मक अध्ययन एवं मतान्तरों से युक्त)

अर्थ—सूत्रधार ने आकाश के तारों को ज्योति के द्वीप बताया। उसे सुनकर नटी उत्तर देती है—

इन द्वीप जैसे बिखरे हुए तारों के बीच चन्द्रमा धीरे-धीरे चलता है। साथ ही पृथ्वी पर मधुवन की थकी हुई हवा भी धीरे-धीरे चल रही है। यह हवा ऐसी प्रतीत होती है, मानो मद से व्याकुल प्रेम की कामना अलसाकर और प्रत्येक फूल पर ठहर-ठहर कर मन्द और सुन्दर गति से घूम रही हो।

विशेष—उत्प्रेक्षा तथा पुनरुक्ति अलंकार।

सूत्रधार

सारी देह समेट ... झुका हुआ है।

शब्दार्थ—निविड़=गहरा। विलुब्ध=मदोन्मत्त। वसुधा=पृथ्वी।

अर्थ—आकाश अपनी बाँहें खोलकर और अपनी सारी देह को समेट कर मदोन्मत्त पृथ्वी को गहरे आलिंगन में भरने के लिए झुका हुआ है।

नटी

मूक की सुगम्भीर ... लगता है।

शब्दार्थ—वेला=समय। समाधिस्थ=समाधि में डूबा हुआ। अचेतन=निर्जीव।

अर्थ—यह समाधि में डूबा हुआ निर्जीव संसार मध्य के इस अत्यन्त गम्भीर समय में मादकता की धारा में बहता हुआ-सा दिखाई दे रहा है।

सूत्रधार

स्वच्छ कौमुदी ... भूल गई हो।

शब्दार्थ—कौमुदी=चाँदनी। प्रशान्त=शान्त। जगती=संसार। दर्पण=शीशा। मंजु=सुन्दर। चन्द्रिका-मुकुर=चाँदनी रूपी शीशा।

अर्थ—स्वच्छ चाँदनी में संसार इस प्रकार चमक रहा है मानो वह अपना सच्चा स्वरूप छोड़कर किसी शीशे में समा गया हो अर्थात् उसका स्वरूप भी दर्पणमय हो गया हो। चारों ओर शान्ति ही शान्ति फैली हुई है मानो प्रकृति सुन्दर चाँदनी रूपी शीशे में अपनी शोभा को देखकर स्वयं को भी भूल गई हो—आत्म-विस्मृता हो बैठी हो।

विशेष—उत्प्रेक्षा अलंकार।

पद-निक्षेपों में=पैरों के रखने में। भंगिमा=कुटिलता। प्रवाह=लहर। पुष्प रेणु भूषित=फूलों की धूल से सज्जित। आनन=मुख।

अर्थ—आकाश से उतरती हुई अप्सराओं का वर्णन नटी से करता हुआ सूत्रधार कहता है कि यह देखो आकाश की शोभा धरती पर आ पहुंची है। इनका आकाश से उतरना ऐसा ज्ञात होता है जैसे गीत गाने वाले फूलों के समूह उतर आये हों। उनके पैर रखने में उनकी देह-यष्टि इस प्रकार बल खाती है जैसे लहरों की कुटिलता हो। उनके उज्ज्वल कंठों से गीत निकल रहे हैं और उनकी हंसी इस प्रकार है जैसे फूल झड़ रहे हों। उनके शरीरों पर किरणों की जाली के बीने हुए वस्त्र हैं। फूलों की धूल से सजे हुए उनके मुख इस प्रकार चमक रहे हैं मानो चांदनियां सिमट सिमट कर फूल बन गई हों।

विशेष—उपमा और रूपक अलंकार।

नटी

फूलों की   प्रेयसियां हैं ?

शब्दार्थ—विधु=चन्द्रमा। प्रेयसियां=प्रियतमा।

अर्थ—ये या तो फूलों की सखियां हैं या चन्द्रमा की प्रियतमा हैं।

सूत्रधार

नहीं चन्द्रिका   मन की।

शब्दार्थ—चन्द्रिका=चांदनी। शशधर=चन्द्रमा। अभुक्त=जिसका उपभोग नहीं किया गया है। प्रतिमाएँ=मूर्तियां। दृग-क्लान्ति=दृग के द्वारा हुई थकान। मदिर=नशीला। काम=कामदेव।

अर्थ—आकाश से उतरने वाली अप्सराएं न तो चन्द्रमा की चांदनी हैं न फूलों की सहेलियां हैं, बल्कि ये मन को मोहित करने वाली न उपभोग किये हुए प्रेम की जीवित मूर्तियां हैं। ये देवों की दृग के द्वारा हुई थकान को अपने नशीले नेत्रों से हरण करने वाली, स्वर्गलोक की अप्सराएं और कामदेव के मन की कामनाएं हैं।

विशेष—उल्लेख और अनुप्रास अलंकार।

भरी

पर भू पर … आती हैं ?

शब्दार्थ—स्वर्ग = स्वर्गलोक । भू पर = पृथ्वी पर ।

अर्थ—अन्तिम पद बताया कि वे किरणें स्वर्गलोक को छोड़ कर इस पृथ्वी पर उतरी हैं ।

गुञ्जार

यों ही … चला करती हैं ।

शब्दार्थ—नीहार = हिम । मार्ग = अनुसार भूलोक । स्वर लोक = देव ताओं का लोक अर्थात् स्वर्गलोक । मरन्द = उसकी तरह । स्वर्गसुमन = स्वर्ग से सुमन बनना अर्थात् उसे सुमन बनाना । व्योम = आकाश यहां स्वर्गलोक से तात्पर्य है । पूरित हैं = भरे हुए हैं । अवगाह हैं = व्याप्त होते हैं । दिविलोक = स्वर्गलोक । अमर वासी = स्वर्ग में निवास करने वाले देवताओं को ।

अर्थ—जब कवि ने यह पूछा कि वे किरणें पृथ्वी पर क्यों उतर आई हैं तो इसका उत्तर गुञ्जार इन शब्दों में देता है—

वे अनजाने बिना किसी प्रयोजन के चलती हुई किरणों के तारों पर चढ़ कर यों ही इस पृथ्वी पर उतर आई हैं क्योंकि ये इधर उधर घूमते हुए कभी कभी पृथ्वी पर आ जाती हैं । यह ही लगता है कि इनका पृथ्वी पर आने का कोई विशेष कारण हो क्योंकि भूलोक इस धरती के निवासी इनको भूलें मान बैठे हैं इसीलिए उनकी धारणा है कि स्वर्ग के वासी किसी विशेष प्रयोजन के वशीभूत होकर ही इस धरती पर उतरते हैं । इस पृथ्वी पर रहने वाले लोगों की यह इच्छा है कि वे प्रेम को स्वर्ग से सूक्ष्म कर दें, अर्थात् प्रेम के मांसल रूप का परित्याग करके उसे सूक्ष्म बना दें किन्तु इसके विपरीत स्वर्गलोक के वासी मांसल प्रेम के पुजारी हैं और सदैव रूप को अपनी बाहों में भरने के लिए लालायित रहते हैं । वास्तविकता तो यह है कि स्वर्ग और भूलोक दोनों ही अभावों से भरे हुए हैं । दोनों के अलग-अलग अभाव हैं, समस्याएँ हैं और दोनों की पीड़ाएँ भी अलग-अलग हैं । इस भूलोक के निवा—

सियों की यह इच्छा है कि हम सांसारिक बन्धनों को तोड़कर मुक्त पवन में विचरण करें; किन्तु मुक्त देवता कभी-कभी सांसारिक बन्धनों में बन्धने के लिये मनुष्य-देह धारण करने के लिये व्याकुल रहते हैं। स्वर्गलोक और मृत्युलोक दोनों के स्वाद भिन्न-भिन्न हैं किन्तु यह कहना बहुत कठिन है कि इनमें किसका स्वाद श्रेष्ठ है। जो इच्छा मनुष्य को खींचकर स्वर्ग को ले जाती है वही स्वर्ग के निवासियों को पृथ्वी पर खींच लाती है। लेकिन छोड़ो इन बातों को। आओ सुनें वे परियां आपस में क्या बातचीत कर रही हैं।

(नटी और सूत्रधार वृक्ष की छाया में जाकर अदृश्य हो जाते हैं। अप्सराएँ पृथ्वी पर उतरती हैं तथा कूल हरियाली और फरनों के पास घूमकर गाती और आनन्द मनाती हैं)

परियों का समवेत गान

फूलों की ... रूपहली आई।

शब्दार्थ—सुधा-सलिल=अमृत रूपी नदी। कूल=किनारा। सुमन्द=धीरे-धीरे बहकर आनन्द देने वाली।

अर्थ—आकाश से उतर कर परियां सामूहिक रूप से गीत गाती हुई कहती हैं कि हे सखियो ! यह रूपहली रात आई है, अतः फूलों की नाव बनाओ। इस रात अमृत रूपी नदी की धारा फूटकर बह निकली है जिसमें धरा का किनारा डूब गया है। इसलिए उसमें चांदनी की धीरे-धीरे बहकर आनन्द देने वाली लहरों में तैर कर नहाओ और यह रूपहली रात आई है।

विशेष—'कूल-किनारा' में अधिक पदत्व दोष है।

मही सुप्त ... रूपहली आयी।

शब्दार्थ—मही=पृथ्वी। निश्चेत=चेतना रहित सुप्त। मगन=मग्न हुआ। पर्यंक=बिस्तर। अवनी=पृथ्वी।

अर्थ—परियां समवेत स्वर में गाती हुई कहती हैं कि पृथ्वी सोई हुई है अर्थात् शान्त है। आकाश सूना तथा गम्भीर है लेकिन यह चुपचाप पृथ्वी को अपने आलिंगन में लिए हुए आनन्द में डूबा हुआ है। हे सखियो ! ऐसे

[illegible] [illegible] से [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] पृथ्वी पर [illegible]।
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] गई है।

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।

शब्दार्थ—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible]।

अर्थ—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है कि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] की [illegible] से [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] गई है।

[illegible]

[illegible] [illegible] में [illegible] [illegible] जाय।

शब्दार्थ—[illegible]—[illegible]। [illegible]—[illegible]।

अर्थ—[illegible] के [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हुई [illegible] [illegible] [illegible] में [illegible] है कि [illegible] [illegible] में [illegible] बहुत [illegible] [illegible] [illegible] बन जाती है। कभी-कभी [illegible] भूमि [illegible] बहुत [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible] तो यह मन करता है कि हम [illegible] [illegible] भूमि पर [illegible] और इसमें [illegible] [illegible] [illegible] में बस जाय।

रंभा

दूर दूर तक [illegible] [illegible] [illegible]।

शब्दार्थ—[illegible]—[illegible]।

अर्थ—दूर दूर तक दूबों की हरियाली [illegible] [illegible] है और इस हरियाली पर पड़ी हुई ओस की बूँदें [illegible] के समान दिखाई [illegible] [illegible] है। [illegible] तो मन यह करता है कि हम शीतल बूँदों से [illegible] [illegible] [illegible] स्नान करें।

मेनका

[illegible] [illegible] से [illegible] गीत सुनायें।

शब्दार्थ—[illegible] [illegible] [illegible]=बहुत प्रसन्न है। [illegible]=[illegible] तक पूरी तरह।

अर्थ—[illegible] [illegible] से ही हम अपने मन में बहुत-बहुत प्रसन्न है। [illegible]

मालूम होता है कि हम पूरी तरह से गीत के रंग में भर गई हैं अर्थात् हमारे मन में अनेक भाव उमड़ रहे हैं। मेरा तो मन यह करता है कि इन खिले हुए फूलों को प्राणों का गीत सुनाएं अर्थात् इनके साथ घुल मिलकर गीत गायें।

समवेत गान

हम गीतों के ... घूम छनन।

शब्दार्थ—उफन=गहरे। व्योम-वीणा=आकाश रूपी वीणा। त्रिभुवन=तीनों लोक।

अर्थ—सब परियां सामूहिक रूप से गीत गाती हुई कहती हैं कि यह गीतों के गहरे प्राण हैं अर्थात् हमारे हाव भाव और रूप आदि से ही गीतों का जन्म होता है। हम आकाश रूपी वीणा के तार बजाकर ऐसी झंकार करती हैं जिससे तीनों लोक थिरक उठते हैं।

सपनों की ... भवन-भवन।

शब्दार्थ—सुषमा=शोभा। कलित=सुन्दर। उड्डीन=उड़ती हुई।

अर्थ—हम स्वप्नों की रंगीन शोभा पर और सुन्दर कल्पना पर उड़ती हुई भवन-भवन में अर्थात् प्रत्येक लोक में फिरा करती हैं।

हम अछूती ... रस-कन।

शब्दार्थ—अछूती=जिसका भोग नहीं किया गया है। रस-कन=आनन्द के कण।

अर्थ—हम आनन्द की वे हिलोरें हैं जिनका भोग नहीं किया गया है। हम आकाश और पृथ्वी के छोरों को भिगोकर आनन्द के कण बरसाती हुई फिरती हैं।

रम्भा

बिछा हुआ है ... होती है।

शब्दार्थ—रश्मि=किरण। मही=पृथ्वी। मृत्ति=मिट्टी धरती।

अर्थ—किरणों का जाल बिछा हुआ है जिस पर पृथ्वी आनन्द में डूबकर सो रही है। इस प्रकार की शोभा से युक्त धरती को देखकर स्वर्ग के निवासियों को भी उसकी शोभा से ईर्ष्या होती है।

मतिरा

कौन भेद है [illegible] कम म ?

शब्दार्थ—[illegible] पानी पर रहने का [illegible] । [illegible] रहने वाले भेद ।

अर्थ—हे [illegible] ! [illegible] [illegible] [illegible] है कि पानी पर रहने [illegible] [illegible] रहने वाले [illegible] [illegible] है । इसके [illegible] क्या है ?

रहना

[illegible] [illegible] जाता है ।

शब्दार्थ—[illegible] = गुलाब । [illegible] = [illegible] । [illegible] = सुन्दर । [illegible] = [illegible] फूलों की ओर के समान ।

अर्थ—[illegible] और [illegible] में [illegible] [illegible] है [illegible] इस प्रश्न का उत्तर देती हुई [illegible] कहती है कि [illegible] [illegible] [illegible] मैं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] किन्तु इन दोनों का [illegible] [illegible] [illegible] है और वह [illegible] यह है कि गुलाब के निवासी [illegible] [illegible] है जबकि [illegible] के निवासी [illegible] रहते हैं । [illegible] का शरीर तो [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] का भी [illegible] समान [illegible] वाला होता है । इसके विपरीत गुलाब में रहने वाले [illegible] के शरीर की [illegible] तो [illegible] भर को ही [illegible] है अर्थात् उनका सौन्दर्य क्षणभंगुर होता है ।

विशेष—[illegible] चमत्कार ।

मनका

पर, तुम भूल [illegible] बलिहारी है ।

शब्दार्थ—[illegible] [illegible] = [illegible] में रहने [illegible] लोगों का । [illegible] का = सुन्दर [illegible] का । [illegible] = [illegible] । [illegible]-माधुरी = संगीत की मधुरता । [illegible] = [illegible] । अनिर्वचनीय = [illegible] वर्णन न किया जा सके । [illegible] = [illegible] । [illegible] = [illegible] । समीरों-सा = पवनों के समान । सौरभ = सुगन्धि । [illegible] = [illegible] । [illegible] = [illegible] । [illegible] = [illegible] । [illegible] = [illegible] । [illegible] = मनस्त्री ।

अर्थ—मर्त्यलोक स्वर्गलोक से हीन है रम्भा के इस कथन का उत्तर देती हुई मेनका कहती है कि रम्भा ! यह सच है कि भूलोक के निवासी मरने वाले हैं नश्वर हैं किन्तु तुम नश्वरता की श्रेष्ठता को भूल रही हो। पृथ्वी पर रहने वाले लोगों को जो आनन्द आसानी से मिल जाता है, वह स्वर्ग में रहने वाले देवताओं को कभी प्राप्त नहीं हो सकता। हम स्वर्ग के वासी इतने विवश हैं कि केवल गन्ध पीकर ही रह जाते हैं। (कहा जाता है कि देवता भोजन नहीं करते) और स्वादिष्ट भोजनों का आनन्द कभी भी अपनी जीभ से नहीं ले पाते।

हम केवल कानों से ही संगीत की मधुरता का पान करके तृप्त हो जाते हैं और सौन्दर्य का उपभोग या तो केवल मन से करते हैं या तृष्णा भरे नयनों से। लेकिन सौन्दर्य को देखकर जब हमारे मन में आवेगों का ज्वार आ जाता है तो हमारा जीवन उस भूख से व्याकुल हो उठता है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

तब उस पीड़ा से बचने के लिए हमें कोई राह नहीं मिलती। हमारे हृदय में प्रेम की जो वेदना उठती है उसका यहां स्वर्ग में खुलकर पोषण नहीं किया जा सकता। किन्तु इन भूलोक के निवासियों पर हमारे जैसा कोई बन्धन नहीं है और इनका प्रेम केवल गन्ध तक सूक्ष्म विचारों तक ही सीमित रह सके ऐसा भी इन पर कोई बन्धन नहीं है अर्थात् भूलोक के वासी खुलकर प्रेम कर सकते हैं और मांसल रूप से उसका उपभोग कर सकते हैं।

आदमी आदमी ही रहे या देवता बन जाये, वह केवल गन्ध का ही सेवन करे, अथवा आगे बढ़कर फूलों को मसल डाले यह बात मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है किन्तु देवताओं को यह अधिकार नहीं है कि वे मनुष्य बन जायें और न वे गन्धों की सीमा से ही आगे बढ़ सकते हैं।

यह सच है कि देवता अमर होते हैं किन्तु उनका यह अमरत्व क्या है ? केवल हवाओं की तरह सुगन्धों का पान करना और अपने मन में धुएँ को समेट कर—अपने मन को मसोस कर—बाहरी शान्ति धारण करके युग-युगों

तक उपेक्षित रहना। लेकिन यह सोचो कि मरकर मनुष्य कितनी अधिक मात्रा में मधुमय बन जाता है। क्या ही उसका जीवन दा लिया जा ही गई। सम्भवतः हो नहीं लेकिन उसका जीवन का इस अल्प अवधि में भी वह बढ़कर अधिक कर—उल्लास उत्साह और प्रेरणा को मनाकर—जीवित रहता है। मनुष्य के जीवन के इस महत्व। इस भावना के सामने देवताओं के जीवन की सारी शान्ति तुच्छ है। उनके जीवन की सम्भवतः नहीं। अतः मैं देवताओं के अमरत्व को न्यौछावर करती हूँ।

कथन का भाव यह है कि मनुष्यत्व देवत्व से बढ़कर अच्छा और महान है।

विशेष—रूपक और उसका चमत्कार।

गजगम्या

साधु ! साधु गाती हो।

शब्दार्थ—किसी का अपनी का निवासी। मोहन=मोहित करने वाला। धरा के=हृदय में महीतल पर=पृथ्वी पर। प्रतिमा=प्रतिमा। सदर्प मदनों का=मरकर मनुष्य के नैनों की। इस प्रतिमा आकार देने वाली मूर्ति।

अर्थ—हे मेनका ! तुम ठीक कहती हो। ऐसा लगता है कि तुम्हारा भी किसी से प्रेम हो गया है। पृथ्वी का निवासी तथा मन को मोहने वाला कोई तुम्हारे हृदय में आ बसा है। तुम इस पृथ्वी पर किसी की प्रतिमा बन गई हो, तुम किसी भूलोक निवासी के नैनों का आकार देने वाली मूर्ति बन गई हो। किसी के हृदय की उपमा बन गयी हो। हे सखि ! तुम उर्वशी के समान ही सच में उत्कण्ठ प्रतीत होती हो। क्योंकि इस भूलोक के अन्दर प्राणियों की महिमा तुम भी उसी प्रकार गा रही हो जिस प्रकार उर्वशी गाती है।

विशेष—रूपक और उसका चमत्कार।

रम्भा

सखी ठीक भाषी ?

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—हे सहचरी ! तुमने यह अच्छा ही किया जो उसकी भी बात

देखा थी। लेकिन यह बताओ कि वह आज यहाँ हमारे साथ क्यों नहीं आई।

सहजन्या

बात तुम्हें बाहों में लेकर।

शब्दार्थ—दिव्य=महान्। दैत्य=राक्षस। मत्त श्येन-सा=लोभी बाज की तरह। त्रास=दुःख। अपरिमित=बहुत अधिक अपार।

अर्थ—बड़े आश्चर्य की बात है कि तुम्हें अपनी प्राणप्यारी सखी उर्वशी की कथा भी मालूम नहीं है और तुम भी उस महान् नारी के प्रेम के दुःख को नहीं जानती। क्या तुम्हें यह ज्ञात नहीं कि एक दिन जब हम कुबेर के घर से लौट रही थी तो इतने में ही लोभी बाज के समान एक राक्षस ऊपर से नीचे आया और हमको अपार दुःख देकर हमारी प्यारी सखी उर्वशी को अपनी बाहों में भर कर तुरन्त उड़ गया।

रम्भा

बाहों में कथा सुनाओ।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—क्या कहा? एक राक्षस उर्वशी को अपनी बाहों में लेकर उड़ गया। हे सखि! मुझे यह पूरी कथा सुनाओ।

सहजन्या

यही कि बचाओ।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—पूरी कथा यही है कि हम उस से चाले देखकर रो पड़ीं और पुकार मचाने लगी कि अरे! कोई हमको बचाओ।

रम्भा

तब हुआ?

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—तब फिर क्या हुआ?

[illegible]मा

पुकार हमारो [illegible] काल-कवल में ।

शब्दार्थ—[illegible] । [illegible] । काल-कवल—मृत्यु का ग्रास ।

अर्थ—हमारी पुकार [illegible] और [illegible] हो [illegible] के [illegible] । [illegible] और [illegible] हमारी [illegible] के मुख में [illegible] ।

[illegible]

वे राजा [illegible] चोर हैं ।

शब्दार्थ—[illegible] है ।

अर्थ—जिस राजा के [illegible] के राज्य में [illegible] राजा [illegible] अन्दर से बड़े चोर हैं ।

[illegible]मा

चोर चतुर [illegible] जाने को ।

शब्दार्थ—मनोमुग्धकारी=मन को मोहित करने वाला । अमर=देवता । कौमुदी=चाँदनी । कलित=सुन्दर । मद=प्रेम । कोकिल=[illegible] । रति=कामदेव की स्त्री जो परम अधिक सुन्दर मानी जाती है । रमा=लक्ष्मी । प्रतिमा=मूर्ति । मुद्रा=ध्यान लगाना । [illegible]=[illegible] । काम=कामदेव । मदिर=नशीला ।

अर्थ—वह राधा जिसने उसकी [illegible] में [illegible] और ही नहीं, बल्कि परम सुन्दर भी है । देवता भी उसका मन को मोहित करने वाला नहीं होता । इसीलिए तो सभी [illegible] का [illegible] भी करता है स्वर्गलोक की चाँदनी है इन्द्र के मन की [illegible] है सिद्ध और [illegible] की समाधि में भी प्रेम का [illegible] है देवताओं के [illegible] में अमर भाग लगाने वाली है जो रति का और लक्ष्मी की साक्षात् मूर्ति है और [illegible] की [illegible] है, जो कामदेव [illegible] है कामदेव के [illegible] की आरती-[illegible]

दिखा दी। लेकिन यह बताओ कि वह आप यहां हमारे साथ क्यों नहीं आई।

सहजन्या

वाह तुम्हें ... बाहों में लेकर।

शब्दार्थ—दिव्य=महान्। दैत्य=राक्षस। मत्त स्वेन-सा=सोनी बाज की तरह। त्रास=दुःख। अपरिमित=बहुत अधिक अपार।

अर्थ—बड़े आश्चर्य की बात है कि तुम्हें अपनी प्राणप्यारी सखी उर्वशी की कथा भी मालूम नहीं है और तुम भी उस महान् नारी के प्रेम के दुःख को नहीं जानती! क्या तुम्हें यह बात नहीं कि एक दिन जब हम कुबेर के घर से लौट रही थी तो इतने में ही सोनी बाज के समान एक राक्षस ऊपर से कौंधे आया और हमको अपार दुःख देकर हमारी प्यारी सखी उर्वशी को अपनी बाहों में भर कर तुरन्त उड़ गया।

रम्भा

बाहों में ... कथा सुनाओ।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—क्या कहा? एक राक्षस उर्वशी को अपनी बाहों में लेकर उड़ गया! हे सखि! मुझे यह पूरी कथा सुनाओ।

सहजन्या

यही कि ... बचाओ।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—पूरी कथा यही है कि हम उसे ले जाते देखकर रो पड़ीं और पुकार मचाने लगी कि अरे! कोई हमको बचाओ।

रम्भा

तब ... हुआ?

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—तब फिर क्या हुआ?

सहजन्या

पुकार हमारी ... काल-कवल से ।

शब्दार्थ—सदय=दयालु । अविलम्ब=शीघ्र । काल-कवल=मृत्यु का मुख ।

अर्थ—हमारी पुकार एक राजा ने सुनी और वे दयालु राजा शीघ्र ही उर्वशी को उस राक्षस के पंजे से छुड़ाने के लिए दौड़ पड़े । उन्हीं नर वीर राजा के साहस से भुजाओं के बल से उस दिन हमारी सखी उर्वशी काल के मुख से छूटी ।

रंभा

वे राजा ... वीर हैं ।

शब्दार्थ—परम है ।

अर्थ—जिस राजा ने उर्वशी को राक्षस के पंजे से छुड़ाया, वे राजा तो वास्तव में बड़े वीर हैं ।

सहजन्या

और परम ... जाने को ।

शब्दार्थ—मनोमुग्धकारी=मन को मोहित करने वाला । अमर=देवता । कौमुदी=चाँदनी । कलित=सुन्दर । राग=प्रेम । शोणित=खून । रति=कामदेव की स्त्री जो सबसे अधिक सुन्दर मानी जाती है । रमा=लक्ष्मी । प्रतिमा=मूर्ति । तृषा=प्यास लालसा । विधु=चन्द्रमा । काम=कामदेव । मदिर=नशीला ।

अर्थ—वह राजा जिसने उर्वशी को राक्षस के पंजों से छुड़ाया, वीर ही नहीं बल्कि परम सुन्दर भी है । देवता भी ऐसा मन को मोहित करने वाला नहीं होता । इसीलिए तो सखी उर्वशी जो नन्दनवन की ऊषा है स्वर्गलोक की चाँदनी है इन्द्र के मन की सुन्दर इच्छा है सिद्ध और वैरागियों की समाधि में भी प्रेम को जगाने वाली है देवताओं के खून में मधुर आग लगाने वाली है, जो रति की और लक्ष्मी की साक्षात् मूर्ति है और विश्वमय नर की लालसा है, जो चन्द्रमा की प्राणेश्वरी है, कामदेव के हाथ की प्यारी-विशिख

दिला दी। लेकिन यह बताओ कि वह आज यहाँ हमारे साथ क्यों नहीं आई।

सहजन्या

काहू तुम्हें बाँहों में लेकर।

शब्दार्थ—दिव्य=महान्। दैत्य=राक्षस। कृष्ण श्येन-सा=काली बाज की तरह। त्रास=दुःख। अपरिमित=बहुत अधिक अपार।

अर्थ—बड़े आश्चर्य की बात है कि तुम्हें अपनी प्राणप्यारी सखी उर्वशी की कथा भी मालूम नहीं है और तुम भी उस महान् नारी के प्रेम के दुःख को नहीं जानती। क्या तुम्हें यह बात नहीं कि एक दिन जब हम कुबेर के घर से लौट रही थी तो इतने में ही काली बाज के समान एक राक्षस ऊपर से नीचे आया और हमको अपार दुःख देकर हमारी प्यारी सखी उर्वशी को अपनी बाँहों में भर कर तुरन्त उड़ गया।

रम्भा

बाँहों में कथा सुनाओ।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—क्या कहा? एक राक्षस उर्वशी को अपनी बाँहों में लेकर उड़ गया! हे सखि! मुझे यह पूरी कथा सुनाओ।

सहजन्या

यही कि बचाओ।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—पूरी कथा यही है कि हम उसे ले जाते देखकर रो पड़ीं और पुकार मचाने लगीं कि अरे! कोई हमको बचाओ।

रम्भा

तब हुआ?

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—तब फिर क्या हुआ?

सहजन्या

पुकार हमारी ... काल-कवल से ।

शब्दार्थ—सदय=दयालु । अविलम्ब=शीघ्र । काल-कवल=मृत्यु का मुख ।

अर्थ—हमारी पुकार एक राजा ने सुनी और वे दयालु राजा शीघ्र ही उर्वशी को उस राक्षस के पंजे से छुड़ाने के लिए दौड़ पड़े । उन्हीं नर वीर राजा के साहस से भुजाओं के बल से उस दिन हमारी सखी उर्वशी काल के मुख से छूटी ।

रंभा

ये राजा ... वीर हैं ।

शब्दार्थ—सरल है ।

अर्थ—जिस राजा ने उर्वशी को राक्षस के पंजे से छुड़ाया, वे राजा तो वास्तव में बड़े वीर हैं ।

सहजन्या

और परम ... वाले को ।

शब्दार्थ—मनोमुग्धकारी=मन को मोहित करने वाला । अमर=देवता । कौमुदी=चाँदनी । कलित=सुन्दर । राग=प्रेम । शोणित=खून । रति=कामदेव की स्त्री जो सबसे अधिक सुन्दर मानी जाती है । रमा=लक्ष्मी । प्रतिमा=मूर्ति । तृषा=प्यास लालसा । विधु=चन्द्रमा । काम=कामदेव । मदिर=नशीला ।

अर्थ—वह राजा जिसने उर्वशी को राक्षस के पंजों से छुड़ाया, वीर ही नहीं, बल्कि परम सुन्दर भी है । देवता भी ऐसा मन को मोहित करने वाला नहीं होता । इसीलिए तो सखी उर्वशी जो नन्दनवन की ऊषा है स्वर्गलोक की चाँदनी है, इन्द्र के मन की सुन्दर इच्छा है सिद्ध और वैरागियों की समाधि में भी प्रेम को जगाने वाली है देवताओं के खून में मधुर आग लगाने वाली है जो रति की और लक्ष्मी की साक्षात् मूर्ति है और विश्वभर नर की लालसा है, जो चन्द्रमा की प्राणेश्वरी है कामदेव के हाथ की आरती-किरण

है जिसके चरणों पर चढ़ने के लिए प्रत्येक व्यक्ति विकल और व्यग्र है जिस शोभायुक्त उर्वशी के नशीले ध्यान में दोनों लोक मग्न और मुग्ध हैं वही उर्वशी उस पुरुष रत्न को देखकर अपने-आपे में न रह सकी अर्थात् स्वयं पर नियन्त्रण न कर सकी। वह स्वर्गलोक की शोभा मर्त्यलोक के वासी से प्रेम करके अपने स्वप्नों में खो गई। जिस उर्वशी को अपना सर्वस्व न्योछावर करके प्राप्त करने के लिए देवता सदैव तैयार हैं, वह स्वर्ग-कुसुम स्वयं पृथ्वी पर आने के लिए व्याकुल है।

विशेष—रूपक और उल्लेख अलंकार

रंभा

तो क्या   व्यथा सहेगी?

शब्दार्थ—मिट्टी की=मर्त्यलोक की। व्यथा=दुःख।

अर्थ—तो अब क्या उर्वशी स्वर्ग से आकर सदा के लिए पृथ्वी पर बस जायेगी और निरी मानवी बनकर मर्त्यलोक के दुःखों को सहन करती रहेगी?

सहजन्या

जो भी हो   बाहु-वलय में।

शब्दार्थ—अन्तर=हृदय। शिरा=नस। देव-निलय=स्वर्गलोक। बाहु-वलय=बाहु-पाश।

अर्थ—चाहे जो भी हो किन्तु यह निश्चित है कि उर्वशी के प्राणों में जो प्रीति जगी है उसके हृदय की प्रत्येक नस में प्रीति की जो आग सुलगी है वह अब उसे स्वर्गलोक में नहीं रहने देगी बल्कि उसे खींच कर उसी राजा के बाहु-पाश में ले जायेगी।

कहने का भाव यह है कि उर्वशी अब स्वर्गलोक में नहीं रह सकती।

रंभा

ऐसा कठिन   होता है?

शब्दार्थ—गरल है।

अर्थ—क्या प्रेम ऐसा कठिन—दुःखदायी—होता है!

सहमन्या

इसमें क्या ... जमी जायगी ?

शब्दार्थ—प्रणय=प्रेम। अश्रु=आँसू। मुख-सरोज=मुख-कमल। आभा-विहीन=शोभा रहित। भुवन मोहिनी=तीनों लोकों को मोहित करने वाली। धी=शोभा। चन्द्रानन=चन्द्रमुख। निरानन्द=नीरस। लास्य=एक प्रकार का नाच।

अर्थ—वास्तव में प्रेम बहुत कठिन होता है इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। कहते हैं कि मर्त्यलोक में जितने भी रोग हैं उनमें सबसे कठिन रोग प्रेम का है। जिसे यह रोग लग जाता है उसे रात भर नींद नहीं आती। उसका दिन विरह के कारण रोते रोते और रात आहें भरते भरते कट जाती है। उसका मन खोया-खोया सा रहता है आँखों में हर समय आँसू भरभराते रहते हैं और उसकी भीगी हुई पुतलियों में उसके प्रियतम अथवा प्रियतमा की मूर्ति सदैव विद्यमान रहती है। इसीलिए सखी उर्वशी भी कुछ दिन से खोई-खोई सी रहती है। वह शरीर से तो जागती रहती है, किन्तु मन से सोई-सी रहती है और अपने स्वप्नों के निकुंजों में विचरण करती रहती है। वह खड़ी-खड़ी अनमने भाव से कुसुम की पंखुड़ियों को तोड़ती रहती है, और किसी के ध्यान में (राजा पुरूरवा की स्मृति में) ही वह सारे समय को बिता देती है। उसे अपनी आँखों से निकलते हुए आँसुओं का भी पता नहीं चलता कौन आया कौन गया इसका भी उसे कुछ ध्यान नहीं होता। प्रेम रोग लगने पर व्यक्ति का मुख-कमल मुस्कान के अभाव में शोभा से रहित हो जाता है और तीनों लोकों को मोहित करने वाली मुख कमल की शोभा भी मलीन पड़ जाती है। जिस उर्वशी के जिन पायलों की झनक को सुनकर स्वर्ग की तन्द्रा समाप्त हो जाती थी अर्थात् समूचे स्वर्ग में जीवन का संचार हो जाता था योगी की साधना और सिद्ध की नींद उचट जाती थी वे मधुर पाँव चुप पड़े हुए हैं विरह-दुःख के कारण उर्वशी ने नृत्य करना छोड़ दिया है और इसीलिए सारा स्वर्गलोक नीरस बन गया है। अब देवसभा में लास्य (एक प्रकार का नृत्य) की वह मधुर लहर नहीं

यही तो उर्वशी के नाचने से दीप्त करती थी। हे सखि ! अब उर्वशी ?
छोड़कर चली जायेगी। न जाने अब क्या होगा ?

विशेष—विरही के भावों और अनुभावों का सजीव चित्रण हुआ है।

रंभा

स्वर्ग जैसा पीड़ा है।

शब्दार्थ—निमित्त=लिए। मग्न=प्रसन्न होकर। निधि=सम्पत्ति।
क्रीड़ा=खेल।

अर्थ—हे सहजन्या ! जब उर्वशी स्वर्ग छोड़कर पृथ्वी पर चली जायेगी
व पृथ्वी स्वर्ग बन जायेगी और स्वर्ग पृथ्वी का रूप अपना लेगा। लेकिन
मुझे तो यह आश्चर्य है कि हम मानवी नहीं परियाँ हैं और हम परियों को
किसी के प्रेम में फँसकर रोने से कोई सरोकार नहीं होता अर्थात् हम किसी
भी व्यक्ति के साथ गम्भीरता से प्रेम नहीं करतीं। इसीलिए हमें किसी एक
मानवी के प्रेम में पड़कर अपना धैर्य नहीं खोना चाहिए। हम वे मानवी नहीं
हैं जो जहाँ भी प्रेम का अंकुर उनके हृदयों में अंकुरित होता है वे वहीं रुक
जाती हैं। उन्हें जहाँ भी प्रेम का दान मिलता है वे वहीं पर प्रसन्न होकर
झुक जाती हैं। प्रेम मानवी की सम्पत्ति है लेकिन हमारे लिए तो वह केवल
एक खेल है। वह मानवी के लिए आकुल पीड़ा है किन्तु हमारे लिए तो वह
केवल स्वाद है।

कहने का भाव यह है कि परियाँ किसी के साथ गंभीरतापूर्वक प्रेम नहीं
किया करतीं।

जनमीं हम जग में।

शब्दार्थ—मोद=प्रसन्नता। मुग्ध=यौवन से परिपूर्ण। आनन=मुख।
सुरभि=सुगंध।

अर्थ—हमारा जन्म ही इसलिए हुआ है कि हम सब व्यक्तियों के मन में
प्रसन्नता भरें, अर्थात् सभी को प्रसन्न करें। हमारा ध्येय किसी एक व्यक्ति
को अपना यौवन से परिपूर्ण जीवन अर्पित कर देना नहीं है। किसी एक मुख

के लिए हमारी संकुचित सृष्टि नहीं हुई है और न हम किसी एक व्यक्ति के लिए अपने तन में सुगंधि सजोती हैं।

कहने का भाव यह है कि परियों को किसी एक व्यक्ति से प्रेम नहीं करना चाहिए।

कूल-कलकर अमल है

शब्दार्थ—कूल-हीन=किनारा रहित। गेह=घर। द्युति=प्रकाश। परिरंभण=आलिंगन। रश्मि=किरण। निर्मुक्त=स्वच्छन्द।

अर्थ—हम वह जल हैं जो किनारा-रहित है अर्थात् किनारों के बन्धनों में बंधा हुआ नहीं है। हम किसी घर का दीपक नहीं हैं बल्कि वह कोमल प्रकाश हैं जो सबके लिए प्रकाशित होता है। हम रचना की वेदना बनाकर संसार को उर्मियों से भरती हैं और कभी देवता का तथा कभी मनुष्य का आलिंगन करती हैं किन्तु यह आलिंगन प्रकाश का होता है किरणों के रमण द्वारा मन का होता है अर्थात् यह हमारा आलिंगन बहुत सूक्ष्म होता है। हमारा प्रेम गन्धों के संसार में दो प्राणियों का स्वच्छन्द भ्रमण होता है।

कहने का भाव यह है कि हमारा प्रेम स्थूल नहीं सूक्ष्म होता है।

सच है मिलना है।

शब्दार्थ—अनुरागमयी=प्रेम से परिपूर्ण। कनक रंग=स्वर्ण रंग। अधर-मधु=होठों का अमृत। ताप-तप्त=दुःख से दुःखी। चपल=परम उद्वेलित=चंचल। तरंग=लहर।

अर्थ—यह भी सच है कि हम प्रेम से परिपूर्ण होकर कभी-कभी तन से भी मिलती हैं अर्थात् हमारा मिलना स्थूल भी होता है और तब हम अनुरागमयी मनुष्य को स्वर्ण रंग में रंग देती हैं। हम अपने होठों का अमृत प्रेमी के दुःख से दुःखी होठों पर उड़ेल देती हैं और कनक-कलश के समान शरीर को मनुष्य के परम हाथों में सुख से छोड़ देती हैं। किन्तु यह हमारे जीवन का ध्येय नहीं बल्कि आनंद से भरा हुआ एक प्रकार का विनोदपूर्ण मिलन है जिसमें हमारे मधुर भाव खिलते हैं। वस्तुतः यह तन की चंचल लहर पर प्राणों का मिलन है।

रचना की वेदना ... करने वाली ।

शब्दार्थ—सागर-आत्मजा=सागर की पुत्री । उच्छल=उछलन । अमित=अपार ।

अर्थ—हम रचना को वेदना जगाती हैं किन्तु स्वयं वेदना का निर्माण नहीं करतीं अर्थात् स्वयं दुःखी नहीं होतीं । हम विविध पीड़ाओं में बंधकर भी कभी नहीं पकतीं । हम सागर की पुत्रियां हैं और सागर की भांति ही असीम उच्छल हैं अर्थात् जिस प्रकार सागर तरंगित होता है उसी प्रकार हम भी अपने यौवन की तरंगों से लहराती रहती हैं । हम इच्छाओं की लहरों से उद्वेल होती हैं और चंचल बनी रहती हैं । हम तो अप्सरा हैं और स्वच्छन्द पवन में स्वतन्त्रतापूर्वक विहार करने वाली हैं । हम गीत की ध्वनियों से सदा सौरभ की सुगंधि से सबके मन को भरने वाली हैं ।

विशेष—उपमा अलंकार ।

अपना है आवास ... नहीं खुली है ।

शब्दार्थ—आवास=निवास ।

अर्थ—हमारा निवास तो न जाने कितने मनुष्यों की इच्छाओं में है अर्थात् न जाने कितने मनुष्य हमें प्यार करते हैं और प्राप्त करना चाहते हैं फिर हम किसी एक व्यक्ति को प्रेम करके उसकी दो बांहों में कसे क्यों रहें । और उर्वशी जिस भूलोक में निवास करने पर तुली हुई है उसे अभी तक यह ज्ञात नहीं हो सका है कि इस मर्त्यलोक में कितने कितने दुःख हैं ।

सहजन्या

कौन व्यथा ... कंठ लगाकर ।

शब्दार्थ—सरल है ।

अर्थ—पृथ्वी पर जाकर उर्वशी को कोई दुःख नहीं होगा बल्कि प्रियतम को अपने गले से लगाकर उसे सुख ही मिलेगा ।

विशेष—'जाकर' के स्थान पर 'आकर' का प्रयोग अधिक उपयुक्त है क्योंकि सहजन्या और रंभा पृथ्वी पर उतर कर ही वार्ता कर रही हैं ।

रम्भा

जो सुख तो ... बनना होता है।

शब्दार्थ—मही=पृथ्वी भूलोक। कुत्सित=घृणित। निहित है=छिपी हुई। यमम्=यम।

अर्थ—उर्वशी को प्रियतम के कंठ से लगकर सुख तो अवश्य प्राप्त होगा किन्तु यह भूलोक बड़ा ही घृणित है। यहां प्रेम की भावना में यातना भी छिपी हुई है। यहां पर केवल फूल की स्थिति ही बस नहीं है अर्थात् केवल मनोरंजन ही से इतिश्री नहीं हो जाती बल्कि फल को भी उत्पन्न करना होता है। इस भूलोक में जो भी प्रेम करती है उसे माता बनना होता है किसी न किसी शिशु को जन्म देना होता है और शिशु को जन्म देना हम अप्सराओं की मर्यादा के विरुद्ध है।

और मातृपद को ... भरती है।

शब्दार्थ—मातृपद=माता का स्थान। ममता=मोह। उन्मुक्त=स्वतन्त्र। सौरभ=सुगंधि। इन्द्रधनुषी=रंग-बिरंगी।

अर्थ—इस भूलोक में यद्यपि माता का स्थान पवित्र माना गया है तथापि माता बनकर नारी को अनेक प्रकार के कष्ट सहन पड़ते हैं। शिशु को जन्म देने के कारण उसका शरीर शिथिल हो जाता है और प्रेम-दान करने से यौवन नष्ट हो जाता है स्वप्न-लोक में विचरण करने के मार्ग रुक जाते हैं स्वतन्त्र रूप से फूलों में घूमने की तथा सुगंधि प्राप्त करने की आदत समाप्त हो जाती है। तब मन की इच्छा इतनी प्रबल नहीं रह जाती कि वह बादलों के साथ स्वतन्त्र होकर घूम कर सके और फिर मन में रंग-बिरंगी उमंगों का जन्म होता है।

कहने का भाव यह है कि माता बनने से नारी की तमाम स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है और उसकी स्वच्छन्द प्रवृत्तियां छिन जाती हैं।

रोग शोक संताप ... विपत्तियाँ सारी ?

शब्दार्थ—सन्ताप=दुःख। जरा=बुढ़ापा। विषाद=दुःख। नित=हमेशा। मधु=शहद आसव।

अर्थ—इस भूलोक में माता बनने पर रोग शोक दुःख और बुढ़ापे से नारी ग्रस्त हो जाती है और इन्हीं व्याधियों से आक्रान्त होकर इस संसार के प्राणी सदैव दुःख पाते रहते हैं। यहाँ पर नारी बूढ़ी हो जाती है, उससे उसका यौवन छिन जाता है यह पृथ्वी अच्छी नहीं है। यहाँ पर केवल एक स्वल्प आह्लाद के लिए, तनिक से आनंद के लिए, नारी इतनी सारी विपत्तियां झेलती है।

सहजन्या

उफ ! ऐसी है   दिखलाती है।

शब्दार्थ—निन्दित=घृणित। रौरव-सी=नरक के समान।

अर्थ—उफ ! हे रम्भा ! यदि भूलोक वास्तव में ऐसा ही घृणित है, जैसा तुमने बतलाया है तब तो हमारी प्यारी सखी उर्वशी सचमुच ही नरक में जाने की तैयारी कर रही है। हे रम्भा ! तुमने भूलोक के विषय में जो घृणित बातें बतलाई हैं उन्हें सुनकर तो मुझे भूलोक नरक के समान दिखाई देने लगा है।

गर्भ भार उर्वशी   प्रेम के कारण ?

शब्दार्थ—प्रभाति=कांति। अयोनिजा=जिसका जन्म योनि से न हुआ हो। योनिज=योनि से उत्पन्न होने वाली। प्रतिमा=मूर्ति। विरूपता=असुन्दरता।

अर्थ—तब तो उर्वशी मानवी की तरह गर्भवती बनकर गर्भ का भार ढोयेगी और उसके कारण अपनी शोभा अपने शरीर का गठन और अपनी कांति को समाप्त कर देगी। यद्यपि स्वयं उर्वशी का योनि से जन्म नहीं हुआ है तथापि वह योनि से उत्पन्न होने वाली सन्तानों को जन्म देगी और वह अप्सरा जो सुन्दर सुगंधि की कोमल मूर्ति है वह माता बन जायेगी। इस प्रकार किरणों के समान दीप्त होने वाली यह परी असुन्दरता को धारण कर लेगी और इतना सब कुछ वह केवल एक प्रेम के कारण सहन करेगी।

रम्भा

हाँ, अब परियाँ करेंगी ठौली ।

शब्दार्थ—विभा=सुन्दरता । दहक=जलाने वाला । प्रभाहीन=ज्योति विहीन । ताप-दग्ध=गर्मी से तपा हुआ । ठठरी=कंकाल । मदिर=नशीली । क्षीर=दूध ।

अर्थ—हाँ अब परियाँ भी प्रेम-देवता की पूजा किया करेंगी अर्थात् मनुष्य से खूब प्रेम करेंगी । इसका अर्थ यह होगा कि स्वर्ग की सुन्दर अप्सराएँ पृथ्वी पर रहने वाले मनुष्यों को नमस्कार करेंगी उनकी आधीनता मान लेंगी । इस धरती का प्रेम बड़ा ही भयानक होता है । यहाँ प्रेम वासना की भूख से प्रतिक्षण व्याकुल होता रहता है और अपने प्रथम श्वास में ही यौवन की ज्योति को निगल जाता है अर्थात् यौवन नष्ट हो जाता है । वह जलाने वाले आलिंगन के द्वारा रूप को भून कर रख देता है, उसे पूर्णतया नष्ट कर देता है और गर्मी के तप चुम्बन के द्वारा वह सुन्दरता को सौन्दर्य-विहीन बना देता है । वह रूप वाटिका को मरुभूमि के समान बना देता है और फिर वह सुन्दरता के कंकाल को चूमता रहता है । इसी प्रकार के प्रेम-देवता की बाँहों में पड़कर अब परियाँ भी [illegible] करेंगी और यौवन को मिटाकर अप्सराएँ भी माता बना करेंगी । वे पुत्रवती होकर अपने पुत्रों को गोदियों में लेकर विश्राम करेंगी और अपनी नशीली तानों को छोड़कर सन्ध्याकाल से ही अपने पुत्रों को सुलाने के लिए लोरियाँ गाया करेंगी वह उस कंचुकी को पहना करेंगी जो प्रत्येक क्षण उनके दूध से भीगी रहेगी और मनुष्य से प्रेम करके वे अपने सुगठित शरीर को शिथिल बना लेंगी ।

कहने का भाव यह है कि मनुष्य से प्रेम करके स्वर्ग की अप्सरायें अपनी समस्त मर्यादाओं से वंचित हो जायेंगी ।

ममता

पर रंज———पूछ रही हो ।

शब्दार्थ—प्रिया=स्त्री । हिमशिला=बर्फ की चट्टान । असीम=सीमा रहित अपार । कामिनी=नारी । रूपवती=सुन्दर ।

अर्थ—रंभा की बातें सुनकर मेनका उत्तर देती है कि हे रंभा! यह ठीक है कि माता बनने से नारी का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है, किन्तु क्या कभी तुमने यह भी सोचा है कि मां बनने के बाद नारी का समाज में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान हो जाता है। यह भी सच है कि बर्फ की चट्टान अपने देह की गठन को नष्ट करके ही गलती है किन्तु गलने के बाद वह अपार और अनेक नदियों का रूप धारण कर लेती है। हे सखि! किसी नवयुवती को माता के रूप में देखकर मेरे मन को बहुत अधिक शान्ति मिलती है और मुझे तो वही स्त्री सुन्दर दिखाई देती है जो गोदी में लेकर अपने दुधमुंहे बच्चे को सुला रही हो अथवा अत्यन्त प्रसन्न होकर अपने पुत्र का झूलना हिला रही हो।

कहने का भाव यह है कि मातृत्व का समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान है। नारी के सौन्दर्य की सार्थकता भी मां बनने में है।

एक अप्सरा गुनगुनाती हुई उड़ती है।

रम्भा

अरी देख ...... कहीं देखा है ?

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—जब मेनका रंभा को मातृत्व का महत्त्व बता रही थी तभी एक अप्सरा गुनगुनाती हुई उड़ती चली जाती है। उसे देखकर रंभा सहजन्या को सम्बोधित करते हुए कहती है—

हे सहजन्या! उधर देखो, यह कौन-सी अप्सरा है जो गुनगुनाती हुई और तितली के समान रंग-बिरंगी होकर उड़ती हुई चली जा रही है। क्या तुमको इसे देखकर यह अनुभव नहीं होता कि जैसे इसे पहले भी कहीं देखा है ?

विशेष—उपमा अलंकार।

सहजन्या

हुत् पगली ...... चित्रलेखा है।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—हुत् पगली! यह तो अपनी सखी चित्रलेखा है।

सब

अरी चित्रलेखा अधिक गहरायी।

शब्दार्थ—गगन=आकाश। गहरायी=गहरी हो गई।

अर्थ—चित्रलेखा को बुलाकर सारी सखियाँ एक साथ पुकार कर कह उठती हैं कि अरी चित्रलेखा! हम सब यहाँ कुसुम के बन में तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हैं, इसलिये जल्दी आ जा ताकि हम सब लोग एक साथ आकाश में उड़कर चलें। यह समय बहुत ही सुहावना है क्योंकि भीनी भीनी वायु चल रही है और रात बहुत अधिक गहरी हो गई है।

चित्रलेखा

रुको रुको माया में ?

शब्दार्थ—सहचरियो=सखियो। मिट्टी की=भूलोक की। माया=ममता।

अर्थ—हे सखियो! क्षण भर के लिए रुको मैं अभी तुम्हारे पास आती हूँ। तुम अभी तक तारों भरे आकाश के नीचे खेल कर रही हो। ऐसा प्रतीत होता है जैसे इस भूलोक की ममता में फंस कर तुम स्वर्गलोक को भी भूल गई हो।

(चित्रलेखा आ पहुँचती है।)

सहजन्या

तेज तेज आती है ?

भावार्थ—सरल है।

अर्थ—जब चित्रलेखा आकाश से उतर कर पृथ्वी पर खड़ी हुई अपनी अन्य सखियों के पास आ जाती है तो सहजन्या उससे कहती है—

हे चित्रलेखा! तुम्हारी साँसें बहुत तेजी से चल रही हैं तुम्हारी छाती धड़क रही है। बताओ तो सही इस तरह थककर तुम कहाँ से आ रही हो?

चित्रलेखा

आज सांझ से मिल जाऊंगी।

शब्दार्थ—रव=अधिक भी। कल=चैन। कान्त=पति। अंक=गोदी। पवन में मिल जाना=मर जाना।

अर्थ—आज सायंकाल से ही सखी उर्वशी को तनिक भी चैन न था। वह राजा पुरुरवा से मिलने के लिए बहुत ही अधिक व्याकुल थी। वह तो यहाँ तक कहती थी कि यदि उसे पति की गोद नहीं मिली तो वह निश्चित रूप से मर जायेगी।

'रोक चुकी बाहु-वलय में।

शब्दार्थ—दिव=स्वर्गलोक। सकलोक सकोगी=देख सकोगी। वसुधा=पृथ्वी, भूलोक। हित=लिए। संचित=इकट्ठा। देव-निलय=स्वर्गलोक। बाहु-वलय=बाहु-पाश।

अर्थ—उर्वशी की करुण वेदना सहजन्या को सुनाती हुई चित्रलेखा कहती है कि मुझसे उर्वशी ने कहा था कि तुम मुझे बहुत रोक चुकी हो, लेकिन अब अधिक नहीं रोक सकोगी अर्थात् मैं अब अधिक आपकी बातों को नहीं मान सकूँगी। तुम मुझे स्वर्गलोक में रखकर जीवित नहीं देख सकोगी। यदि तुम मेरा भला चाहती हो तो मुझे अपने प्रेमी के पास भूलोक में जाने दो। मेरे लिए भाग्य में जो कुछ भी बचा है मुझे उसको सौंपने दो। इस स्वर्ग में मुझे कहीं भी शांति दिखाई नहीं देती। मेरा सुख तो प्रिय के बाहु-पाश में है जो मुझे बुला रहा है।

कहने का भाव यह है कि मुझे अब स्वर्गलोक में किसी भी प्रकार शांति नहीं मिल सकती। इसलिए मेरा भूलोक में जाना ही हितकर है।

'स्वर्ग स्वर्ग मत कहो कर जीने से।

शब्दार्थ—मेरे हित=मेरे लिए। मीरव=मौन।

अर्थ—उर्वशी चित्रलेखा से कहने लगी कि तुम बार-बार स्वर्ग की प्रशंसा मत करो। यह सच है कि यह स्वर्ग सौभाग्य से भरा हुआ है किन्तु इस महास्वर्ग में मेरे लिए कुछ भी नहीं रखा है, अर्थात् इसकी महानता मेरे लिए किसी भी प्रकार उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकती। यह स्वर्ग स्वप्नों का जाल है। मैं इस जाल से छुटकारा पाकर सत्य का स्पर्श खोजना चाहती हूँ। मैं कल्पना का नहीं बल्कि वास्तविक सुख प्राप्त करना चाहती हूँ। साँसों के द्वारा सौरभ को पान करने से अब मुझे तृप्ति नहीं होती। मैं अपनी वाणी को दबाये रखने के कारण इस मौन जीवन से ऊब गई हूँ।

'जगता हूँ ... भी करता हूँ ।

शब्दार्थ—लोहित=खून । स्वर्ण-तरी=सोने की नौका । अरूप=निराकार, रूप-हीन । माधुरी=मधुरता । प्रमोद=आनन्द ।

अर्थ—उर्वशी ने कहा कि मुझे आजकल ऐसा अनुभव हो रहा है जैसे मेरे खून में कोई सोने की नौका चला रहा हो और मुझे बार-बार उठाकर अपनी बाँहों में—बाहु-पाश में—भर रहा हो । न जाने वह कौन-सा देवता है जो इस प्रकार छिप छिपकर मेरे साथ खेल रहा है और मेरे प्राणों में रस की अगोचर मधुरता को भर रहा है ? जिस देवता के स्मरण मात्र से ही मेरा मन आनन्द से भर जाता है, उसके बहुत निकट होकर जीवन बिताने के लिए मेरा मन बहुत कर रहा है ।

'यही चाहती हूँ ... समीप पहुँचाओ ।

शब्दार्थ—अदेह=निराकार । देर=देर ।

अर्थ—उर्वशी चित्रलेखा से कहने लगी कि हे चित्रलेखा ! इसीलिये मैं यही चाहती हूँ कि मेरे शरीर की यह गन्ध तन बन जाये अर्थात् मेरा गंध-युक्त शरीर भूलोक निवासियों का-सा कठोर शरीर बन जाय और फिर मैं निराकार तथा उड़ते हुए स्वप्न को अपनी बाँहों में भर लूँ अर्थात् स्थूल प्रेम का आनन्द प्राप्त करूँ । सोचती हूँ कि मैं निराकार मन की उमंग को केवल विचारों तक ही सीमित न रखकर प्रयोग में भी लाऊँ उसे रूप दे दूँ । मेरे मन में जो प्रेम की आग लगी हुई है वह फूट पड़े और मैं उसमें ठंर-ठंर कर स्नान करूँ अर्थात् मैं प्रेम की पीड़ा में भी अपार आनन्द का अनुभव करूँ । इसीलिए मैं कहती हूँ कि हे चित्रलेखा ! अब देर मत करो और जल्दी से जल्दी जैसे भी हो, मुझे आज ही मेरे प्रियतम पुरूरवा के पास पहुँचा दो ।

सहजन्या

तो तुमने ... किया ?

शब्दार्थ—सरल है ।

अर्थ—उर्वशी की विरह-वेदना को चित्रलेखा के मुख से [illegible] ने पूछा कि फिर तुमने क्या किया ?

चित्रलेखा

अरी क्या ... उपवन में।

शब्दार्थ—दुःसंकल्पों से=भयानक विचारों से। सुरपुर=स्वर्गलोक। मरणभुवन में=मृत्युलोक में, भूलोक में।

अर्थ—सहजन्या के यह पूछने पर कि तुमने उर्वशी की वेदना को दूर करने के लिए क्या किया? इसका उत्तर देती हुई चित्रलेखा कहती है कि अरी! भला सखी उर्वशी को मर्त्यलोक में पहुँचाने के अतिरिक्त मैं और कर ही क्या सकती थी क्योंकि मुझे सखी उर्वशी के भयानक विचारों से बहुत डर लगता है। अतः आज सायंकाल ही मैं उसे फूलों से सजाकर सबकी आँखें बचाती हुई स्वर्गलोक से बाहर निकाल लाई और धीरे-धीरे तथा चुपके-से भूलोक में उतार लाई। अब मैं उसे राजा पुरूरवा के उपवन में छोड़कर आ रही हूँ।

रम्भा

छोड़ दिया ... बिना मिलाये ?

शब्दार्थ—निःसंग=एकाकी, अकेली।

अर्थ—क्या तुमने उसे उसके प्रियतम से बिना मिलाए ही अकेली छोड़ दिया?

चित्रलेखा

युक्ति ठीक है ... विरहिणी-वियोगी।

शब्दार्थ—युक्ति=उपाय। उपयुक्त=अनुकूल। उत्कण्ठा=तीव्र इच्छा। कुंज=उपवन। मुक्त=बिना किसी बाधा के।

अर्थ—उर्वशी को एकाकी पुरूरवा के कुंज में चित्रलेखा क्यों छोड़ आई इसका कारण बताती हुई वह अपनी सखी रम्भा से कहती है कि हे रंभा! वही उपाय ठीक है जो समय के अनुकूल हो। अतः मैंने भी उसे इसीलिये अकेली छोड़ना ठीक समझा था क्योंकि जब मैं उर्वशी को लेकर राजा पुरूरवा के उपवन में गई, तभी उसकी रानी उससे मिलने के लिए वहाँ आ गई। यदि वह रानी हमें देख लेती तो बेकार में ही बात का बतंगड़ बन

लेकिन राजा को यह मालूम हो गया था कि उर्वशी उपवन में आई हुई है इसलिए उससे मिलने की राजा के मन में तीव्र इच्छा उत्पन्न हो गई है। जैसे ही रानी वहाँ से जायेगी उर्वशी कुञ्ज से बाहर निकल कर प्रकट हो जायगी और तब विरहिणी उर्वशी तथा विरही पुरूरवा दोनों बिना किसी बाधा के उस निर्जन स्थान में मिलन का पूरा-पूरा आनन्द प्राप्त करेंगे।

रम्भा

अरी   राजा को ?

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—रंभा आश्चर्य से भरकर चित्रलेखा से पूछती है कि राजा के दूसरी रानी भी है।

चित्रलेखा

तो क्या भय   प्रणय की होगी।

शब्दार्थ—घाट पर=स्थान पर। प्रणय=प्रेम। बोध=ज्ञान। श्रीमन्त=राजा। सुन्दरताओं पर=सुन्दर स्त्रियों पर। सहधर्मिणी=पत्नी। गेह=घर। कुल-पोषण=परिवार का लालन-पालन। अभिसिंचित=भीगा हुआ। द्रुमहीन=बंधा वृक्ष।

अर्थ—रंभा के भय का निवारण करती हुई चित्रलेखा कहती है कि यदि राजा पुरूरवा के दूसरी रानी है तो इसमें भयभीत होने की कोई बात नहीं है क्योंकि किसी भी राजा का प्रेम एक स्थान पर—एक नारी से—बँधा हुआ नहीं रहता। राजा तो नित्य नये प्रेम का ज्ञान करते रहते हैं अर्थात् नई-नई स्त्रियों से प्रेम करते हैं और नित नई सुन्दर स्त्रियों पर मरते रहते हैं। पत्नी घर में पति को नित्य नई मादकता से भरने के लिए नहीं बल्कि कुल का पालन-पोषण करने के लिए आती है। पुरुष नारी की इस मर्यादा पर कभी ध्यान नहीं देता। वह तो मधु के नित्य नये कणों से भीगना चाहता है—नित नया प्रेम चाहता है, और नित्य ओस के कणों से भीगे [illegible] एक पुष्प को चूमना चाहता है; अर्थात् यौवन-मद से भरी हुई नारी को बाहु-पाश में बाँधना चाहता है। राजा के प्रेम के क्षेत्र में चाहे कितनी नारियाँ हों, इसे

इसकी कोई चिन्ता नहीं है क्योंकि उर्वशी सब सबमें सुन्दर है, और ऐसा कौन मूर्ख व्यक्ति होगा जो उसे छोड़कर अन्यत्र रमण करेगा। चाहे राज परिवार की महारानी कोई भी हो लेकिन हृदय की रानी तो उर्वशी ही बनेगी इसमें कोई सन्देह नहीं है। वही एकमात्र अपने पति की प्यारी होगी।

सहजन्या

तब तो भर आयी है।

शब्दार्थ—अपर=दूसरा। नन्दनवन=स्वर्ग का वन। ज्योति=प्रकाश। भू=पृथ्वी।

अर्थ—तब तो तू उर्वशी को एक स्वर्ग से निकाल कर दूसरे स्वर्ग मे पहुंचा आई है। तू स्वर्ग के वन की ज्योति को लूटकर उस ज्योति से पृथ्वी को भर आई है।

कहने का भाव यह है कि उर्वशी के अभाव मे स्वर्ग तो अवश्य सूना हो जायेगा, किन्तु भूलोक में आनन्द भर जायेगा।

मेनका

अपर स्वर्ग तुम मर्त्यभुवन में ?

शब्दार्थ—सरस=भावुक। वरने को=वरण करने के लिए। प्रस्तुत=तैयार। अप्सरा=देवरानी उर्वशी। मर्त्यभवन=भूलोक।

अर्थ—हे सहजन्या! तुम चाहे पृथ्वी को दूसरा स्वर्ग मानो किन्तु मेरे हृदय में यह शंका बनी हुई है कि सम्भव है राजा का हृदय अत्यन्त भावुक हो। यह सच है कि सखी उर्वशी की पीड़ा से तुम परिचित हो चुकी हो। पर हे चित्रलेखा! यह तो बताओ कि क्या तुम इसी प्रकार राजा की पीड़ा से परिचित हो चुकी हो? अर्थात् जिस प्रकार राजा के वियोग में उर्वशी दुःखी है, क्या इसी प्रकार उर्वशी के वियोग में राजा भी दुःखी है? क्या तुम्हें यह ज्ञात है कि जिस राजा का वरण करने के लिए उर्वशी तड़प रही है वह राजा भी उसका आलिंगन करने के लिए—उसे अपनाने के लिए—तैयार है। हे चित्रलेखा! देवरानी उर्वशी के मन में प्रेम की जो आग दहक उठी है क्या उसका भी प्रभाव भूलोक के राजा पुरूरवा के मन में भी है। भाव यह है कि

क्या राजा पुरूरवा भी इसी प्रकार उर्वशी से अपार प्रेम करता है जिस प्रकार उर्वशी करती है ?

चित्रलेखा

धुँआ नहीं ... कम है ।

शब्दार्थ—ज्वाला=आग । ताप=दुःख पीड़ा । उभयदिक=दोनों ओर। सम=बराबर । रंच=तनिक । कल=चैन ।

अर्थ—मेनका के भ्रम का निवारण करती हुई चित्रलेखा कहती है कि मैंने राजा के मन में धुँआ नहीं बल्कि ऐसी ही आग देखी है जैसी उर्वशी के मन में लगी हुई है । दोनों ओर की पीड़ाएँ बराबर हैं । देवपत्नी उर्वशी के मन में जितनी आग है, पुरूरवा की आग भी उससे कुछ कम नहीं है । जैसे उर्वशी सब तरह आमोद से उदासीन होकर विकल रहती है उसी प्रकार राजा को भी कभी भी तनिक-सा भी चैन नहीं वह रात-दिन उसी के लिए तड़पता रहता है ।

छिपकर सुना ... कहता था ।

शब्दार्थ—भीति भीति=भीतियों का भय । रंच=तनिक भी । ध्वस्त=विच्छिन्न नष्ट किया हुआ ।

अर्थ—मैंने एक दिन छुपकर सुना कि राजा अपने मन से कह रहा था—हे मन ! तू उस दिन स्वच्छ मेघों के समान प्रकाशित वन से बेकार ही लौट आया । तुझको उस दिन भीति के भय का संकोच तथा शील का तनिक भी ध्यान नहीं करना था अपितु मुझे समाज के और भय के मारे बन्धनों को तोड़कर उर्वशी को प्राप्त कर लेना चाहिए था और उस स्वप्न के पीछे-पीछे दौड़ना चाहिए था जो स्वप्न अब बिखर गया है ।

एक मूर्ति में ... श्वेत फूलों से ।

शब्दार्थ—सिद्धियाँ=सिद्धियाँ आठ मानी जाती हैं—अणिमा महिमा गरिमा लघिमा प्राप्ति प्राकाम्य ईशित्व और वशित्व । कुंकुम=केसर । यावक=महावर । कांति=शोभा । पावक=आग । अरुण=लाल । वारुणी=मदिरा शराब । मुकुलित=मिची हुई । विद्रुम प्रवाल=मोती-मूँगे । व्योम=आकाश ।

ध्वनियों को समो लेता है। इसीलिए यह निश्चय है कि एक दिन मेरी विरह की पुकार से व्याकुल होकर स्वर्ग डोल उठेगा और तब आकाश हमारे मिलन के लिए रास्ता खोल देगा।

मेरे अश्रु ... मन से।

शब्दार्थ—कल्पद्रुम = स्वर्ग का एक वृक्ष। पारिजात-वन = कमल-वन। प्रसून = फूल।

अर्थ—हे उर्वशी! मेरे ये आंसू ओस का रूप धारण करके कल्पवृक्ष पर छा जायेंगे। कमल-वन के फूल मेरी आहों से कुम्हला जायेंगे। हे मन को मोहने वाली उर्वशी! मेरी यह दुःख से भरी हुई पुकार व्यर्थ नहीं जायेगी। आज नहीं तो कल अवश्य ही यह पुकार तुम्हें स्वर्ग में तड़पायेगी। फिर यह पुकार तुम्हें स्वर्ग से उतर कर पृथ्वी पर आने के लिए विवश करेगी या मैं इस देह का त्याग कर स्वयं ही तुमसे मिलने के लिए स्वर्गलोक आ जाऊँगा।

कहने का भाव यह है कि यदि मुझे उर्वशी नहीं मिली तो मैं उसके विरह में शरीर-त्याग कर दूंगा।

सहजन्या

यह कराल ... प्रणय-व्रती की।

शब्दार्थ—कराल = भयंकर। प्रणय-व्रती = प्रेम का व्रत करने वाला।

अर्थ—अरे! पुरुष की प्रेम का व्रत करने वाले मानव की यह विरह वेदना तो बहुत ही भयंकर है।

चित्रलेखा

यही समुद्वेलन ... रत्नाकर है।

शब्दार्थ—समुद्वेलन = व्याकुलता। राका = पूर्णिमा की रात। रत्नाकर = सागर।

अर्थ—मनुष्य की यही व्याकुलता तो नारी की शोभा है। यदि मनुष्य नारी के लिए न तड़पे तो फिर उसके सौन्दर्य का कोई मूल्य नहीं रह जाता और यदि तड़पता है तो उसके रूप में चार चांद लग जाते हैं। इसीलिए तो उर्वशी की सुन्दरता में—यद्यपि वह पहले भी सुन्दर थी—और अधिक वृद्धि

गई है। पूर्णिमा की रात की तभी विजय समझनी चाहिए जब उसकी प्राप्ति से सागर में उफान आ जाये।

सहजन्या

महाराज पर ... गूढ़ कहानी।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—जब महाराज विरह-वेदना से इतने अधिक पीड़ित हैं तो उनकी रानी अवश्य ही उनकी गूढ़ प्रेम-कहानी को मन ही मन समझ गई होगी?

चित्रलेखा

कैसे समझे नहीं ... आराधना रही हैं।

शब्दार्थ—कुल-वामा=कुलीन नारी। आराधना रही हैं=पूजा कर रही हैं।

अर्थ—अवश्य ही समझ गई हैं क्योंकि प्रेम छिपाये से नहीं छिपता। लेकिन जब यह विपत्ति आ ही जाती है तो कुलीन नारी कर भी क्या सकती है। यह सुना है कि वह रानी अपने प्रियतम की प्रीति का बनाये रखने के लिये किसी व्रत की साधना कर रही हैं और फलस्वरूप चन्द्र देवता की पूजा कर रही हैं।

सहजन्या

तब तो ... होड़ नहीं है।

शब्दार्थ—चन्द्राननी=चन्द्रमुखी उर्वशी।

अर्थ—तब तो चन्द्रमुखी उर्वशी और चन्द्र देवता में अच्छी-खासी होड़ लग गई है।

मेनका

यह भी है ... नहीं है?

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—क्या तुमको इस बात का भी ध्यान है कि अब रात केवल चार घड़ी शेष रह गई है।

रंभा

अच्छा, कोई तान ... स्वर में।

शब्दार्थ—मुक्त अम्बर=स्वच्छन्द आकाश।

अर्थ—अच्छा यदि रात केवल चार घड़ी रह गई है तो कोई तान शुरू करो और स्वच्छन्द आकाश में उड़ो। अपने गीत के मधुर स्वर में पृथ्वी और आकाश को साथ-साथ मिलाते हुए चलो।

(समवेत गान)

बरस रही मधु ... चाँदनियों में बस रे।

शब्दार्थ—विभा=शोभा। तरंग=लहर। तिमिर=अन्धकार।

अर्थ—हे मन! आकाश से मधु की धारा बरस रही है, अतः तू इसका रस-पान कर ले। इस समय जो शोभा चमक रही है उसे तू अपनी बाँहों में कस के पूर्णतया आत्मसात् कर ले। सुन्दरता का यह सागर अनन्त रसमय, अतल और मधुमय है अतः इसमें पूरी तरह से डूब जा फेनिल लहरों को प्राप्त करके ही सन्तुष्ट मत हो जा। कहने का भाव यह है कि इस सुषमा का पूर्णतया आनन्द उठा इसके किसी एक अंश पर ही सन्तुष्ट न हो। दिन में जैसी उज्ज्वल धूप होती है रात को वैसा ही भयानक अन्धकार होता है इसलिए तू इन प्रकाशयुक्त चाँदनियों में बसकर नवीन तथा झिलमिलाते प्रकाश की सृष्टि कर, अर्थात् अन्धकार को प्रकाश में बदल।

(इस प्रकार सामूहिक रूप से गाती-गाती सभी परियाँ आकाश में उड़कर छिप जाती हैं।)

द्वितीय अंक

(प्रतिष्ठानपुर का राजभवन । पुरूरवा की महारानी औशीनरी अपनी दो सखियों के साथ ।)

औशीनरी

तो कै   गये ?

शब्दार्थ—सरल है ।

अर्थ—प्रतिष्ठानपुर के राजभवन में महाराज पुरूरवा की महारानी औशीनरी अपनी दो सखियों—निपुणिका और मदनिका—के साथ है । वह अकस्मात् अपनी सखियों से पूछ बैठी है—

तो क्या यह सच है कि महाराज पुरूरवा हमें छोड़ कर चले गये हैं ?

निपुणिका

अये   स्वर्ग से आयी ।

शब्दार्थ—प्रमदवन=रानियों का बाग । अनुरक्त=प्रेम में मग्न हुए । नियति=भाग्य ।

अर्थ—हाँ यह सच है कि महाराज उर्वशी से मिलने के लिए चले गये हैं । उस दिन जब आप अपने पति की पूजा करके प्रमदवन से हृदय में यह सन्तोष भरकर तथा विश्वास लेकर लौटी थीं कि जिस प्रकार रोहिणी और चन्द्रमा आपस में प्रेम से बंधे हुए हैं उसी प्रकार महाराज का प्रेम भी आपके प्रति सरस होगा व आपसे ही प्रेम करेंगे । अब जीवन में कोई भी ऐसा दुःखद क्षण नहीं आयेगा जब महाराज अपनी ओर से उदासीन होकर अन्य नारियों के प्रति आसक्त होंगे । हे देवि ! तभी आपके भाग्य पर दुर्दैव मुस्कुराया और महाराज से मिलने के लिए उर्वशी स्वर्ग से उतर कर पृथ्वी पर आ गई ।

औशीनरी

फिर   हुआ।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—औशीनरी ने निपुणिका से पूछा कि फिर क्या हुआ ?

निपुणिका

देवि यह   अनुचरी कहेगी ?

शब्दार्थ—अनुचरी=दासी।

अर्थ—देवि ! इसके पश्चात् जो कुछ हुआ उसे यह आपकी दासी कहने में सर्वथा असमर्थ है।

औशीनरी

व्यथा कौन   माया से ?

शब्दार्थ—व्यथा=दुःख। आनुकूलता=अनुकूलता। छवि=शोभा।

अर्थ—तू तो पागल है। तू यह नहीं जानती कि दुनिया में ऐसा कोई भी दुःख नहीं जिसको नारी नहीं सहती अर्थात् नारी को सभी प्रकार के दुःख सहने पड़ते हैं। तूने राजा पुरूरवा और उर्वशी के मध्य जो प्रेम-व्यापार देखा उसकी सारी कहानी निस्संकोच होकर मुझे सुनाती जा, ताकि मेरे हृदय में जलती हुई आग और भी अधिक तेज हो जाये। यदि तुम्हारी इस दुःखद कहानी से मुझ अभागिन का हृदय जलता है तो जल जलने दे क्योंकि इसमें तुम्हारा कुछ भी दोष नहीं है। उस दिन तो स्वामी पुरूरवा के स्वर में मेरे प्रति भारी अनुकूलता थी अर्थात् वे और किसी अन्य स्त्री से प्रेम न करने की शपथ ले रहे थे किन्तु मेरी समझ में यह नहीं आता कि वे एक क्षण में ही कैसे बदल गये। न जाने ऐसी कौन-सी परी है जो जन पर इस प्रकार का मोहक मन्त्र डाल सकती है और पुरुषों की वीरता का एक पल में ही हरण कर सकती है। मेरी समझ में नहीं आता कि उस अप्सरा ने मेरे स्वामी को अपनी शोभा से रूप-छवि से छला है अथवा अपनी माया से छला है।

निपुणिका

अप्सरी जब उतरी   आग लगाने वाली।

शब्दार्थ—द्रुम=वृक्ष। स्वर्ण-प्रतिमा=सोने की मूर्ति। विभा=शोभा। नारीश्री=नारी की शोभा। कुसुम-कलेवर में=फूल के रूप में। प्रदीप्त=चमचमाती हुई। वसनों से=वस्त्रों से। उत्फुल्ल=खिला हुआ। श्याम=सुन्दर, प्रिय। लास्य=एक प्रकार का नाच। शोणित=खून।

अर्थ—निपुणिका महारानी औशीनरी से उर्वशी के रूप का वर्णन करती हुई कहती है कि जब पेड़ की छाया से चाँदनी रात में बाहर आई तो ऐसा प्रतीत हुआ मानो साँप के मुख से मणि निकल आई हो। या स्वयं चाँदनी सोने की मूर्ति में आकर ढल गई हो या अमर-वन की स्वप्नों की शोभा स्वयं शरीर धारण करके आकाश से उतर आई हो या तीनों लोकों की नारी-शोभा एक स्थान पर इकट्ठी होकर उदित हो गई हो या वह स्वाद से भरे हुए मन की फूल के रूप में जलती हुई शोभा थी। उसके शरीर की शोभा वस्त्रों से छनकर पूर्ण रूप से चमक रही थी। उसका प्रत्येक अंग हिम के कणों से सिक्त कुसुम के समान झिलमिला रहा था। ऐसा प्रतीत होता था मानो खिला हुआ कमल अभी-अभी जल से निकला हो। किसी सुन्दर तथा प्रिय वन के समान उसके नैनों में हरियाली (प्रसन्नता) छाई हुई थी। उसकी बड़ी-बड़ी आँखें यौवन के मद से इस प्रकार अलसाई हुई थीं मानो उनमें नींद भरी हुई हो। उसके अंग-अंग से राग जगाने वाली लास्य की लहरें दौड़ रही थीं। वह, निस्संदेह, मनुष्य के सोये हुए तथा शान्त खून में आग लगा देने वाली थी।

विशेष—१ उत्प्रेक्षा, संदेह और उपमा अलंकार।

२ नारी के सौन्दर्य का परम्परामुक्त वर्णन।

मदनिका

सुप्त शान्त ... सिन्धु लहराया।

शब्दार्थ—पूर्ण चन्द्र=यहाँ उर्वशी से तात्पर्य है। सिन्धु=सागर यहाँ महाराज पुरूरवा से तात्पर्य है।

अर्थ—हे निपुणिके! तुम मनुष्य के खून को सुप्त और शान्त कहती हो। तुम्हारा यह कथन ठीक नहीं है। जो अचित्त पर्वतों में जल की धारा

को प्रवाह देती है, वही शक्ति चुपचाप मनुष्य के प्राणों में छिपकर और दौड़-दौड़कर उसके खून के प्रवाह में लहरें उपजाया करती है और वे ही लहरें एक दिन फूटकर प्रेम की धारा बन जाती हैं। लेकिन इन बातों को छोड़ो। तुम आगे की कहानी सुनाओ कि क्या चन्द्रमा के समान उर्वशी को देखकर सिन्धु के समान महाराज पुरूरवा अचल रहे अथवा अपनी मर्यादा को छोड़कर उबल पड़े ?

विशेष—सागर मर्यादा का प्रतीक माना जाता है क्योंकि वह अपने तटों की मर्यादा का कभी उल्लंघन नहीं करता किन्तु पूर्णिमा की चाँदनी में वह अपने तटों की मर्यादा को छोड़कर ज्वार-भाटे के रूप में उफन पड़ता है। कवि का इसी तथ्य की ओर संकेत है।

निपुणिका

सिन्धु अचल रहता ... गिरि-मल्लिका-लता-सी ।

शब्दार्थ—दारुण=भयानक। कोपानल=क्रोध की आग। सुख-संभार नता थी=सुख के बोझ से दबी हुई थी।

अर्थ—यदि सागर के समान महाराज पुरूरवा अचल रहते, उर्वशी के प्रेम-पाश में न फँसते तो आज हम राजमहल में क्यों रोते और क्यों इस प्रकार भाग्य के क्रोध की भयानक आग में जलते। महाराज ने उर्वशी को देखकर, अधीर होकर तथा अकुला कर, उसे दौड़कर और उठाकर अपनी बाहों में भर लिया। वह अप्सरा भी महाराज के हृदय के बीच में सुख के बोझ से दबी हुई-सी होकर इस प्रकार समा गई, जैसे पर्वतों के पंखों में सिमटी हुई कोई गिरिमल्लिका की लता हो।

विशेष—उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकार।

और प्रेम-पीड़ित ... हूँ ।

शब्दार्थ—उपचार=इलाज। सुरभि=सुगंधि। वेलि=लता। मूर्धा=मस्तक। पाटल=कमल। दल=पंखुड़ियाँ। सलिल=पानी। निस्तल=अतल।

अर्थ—और तब प्रेम से पीड़ित राजा कहने लगे कि मैं क्या इलाज करूँ। सुख की मादक तरंग के समान इस उर्वशी को मैं कहाँ समेट कर

रव मे ? न जाने सागर प्राण के किस अदृश्य किनारे को छूना चाहता है ? खून की धारा हृदय को फोड़कर किसको छूना चाहती है ? न जाने मेरे प्राणों में कौन सुगंधि की दिव्य लता लहलहा उठी है ? और न जाने कौन नई तारिका मेरे मस्तक पर चमक उठी है। न जाने किस कमल की पखुड़ियाँ सुगंधि से विकल होकर जल की लहर में प्राणों के मानस सर में धीरे धीरे तिर रही हैं। यह सुख की गंभीर समाधि अतल है, इसका पार नहीं पाया जा सकता। इसमें जहाँ तक प्राण डूबते हैं, वहीं तक आनंद ही आनंद और जल ही जल उपलब्ध होता है।

प्राणों की मणि· बिखरे फूल।

शब्दार्थ—मनोज=कामदेव। दुरन्त=कठिन। दुस्सह=भयानक। उनिद्र=उनींदी। आतप=गर्मी। हिमकाल=शरद ऋतु। सतत=लगातार। विधु=चन्द्रमा। इन्दु-मुख=चन्द्रमुख। इंगित=संकेत। स्रोतस्विनी=नदी। ईकत=बालू। अभिसिक्त=भिगोना। घनाली=बादलों का समूह।

अर्थ—हे प्राणों की मणि! कामदेव को भी मोहित करने वाली उर्वशी! इस कठिन विरह में पड़कर मैं क्या-क्या कठिन वेदनाएं नहीं झेलता रहा हूँ? अर्थात् मैं सब प्रकार की कठिन से कठिन पीड़ाओं को सह रहा हूँ। रात-दिन उनींदी आँखों में तेरा ही ध्यान सजोकर मैंने लगातार रो रोकर गर्मी वर्षा और शरद ऋतु बिता दी। विदा होते समय तुमने जिन मधु-भरी आँखों से देखा था उस समय की वे आँखें वह मूर्ति वह दृष्टि कभी भी एक क्षण के लिए नहीं भूली जाती। तुम्हारा ध्यान आते ही मेरा मन चाँदनी जैसी उज्ज्वलता से भर जाता है, चुम्बन की कल्पना करते ही समस्त शरीर में सिहरन उत्पन्न हो जाती है। तू ही मेघों में छिपकर मेरा मन हरती रहती है और चन्द्रमा की ओट लेकर मुझे अपने पास बुलाने के लिए संकेत करती रहती है। प्रत्येक फूल में तुम्हारा ही चन्द्रमुख मेरे मन में आकर्षण पैदा करके सौ बार हँस कर तथा मुझे अपने संकेत से अपने पास बुलाकर छिप जाता है। तुम्हारी स्मृति की नदी लहराकर मेरे प्राणों में आनंद का संचार तो करती है किन्तु विरह से दग्ध इस वेदना रूपी बालू

को मिटने नहीं पाती थी; अर्थात् तुम्हारी स्मृति से मेरे मन को सुख तो मिलता था पर वेदना की दाह कभी नहीं होती थी। किन्तु आज मुझे तुमसे मिलकर इसी प्रकार प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है जिस प्रकार आषाढ़ के महीने में मेघों का मतवाला समूह आकाश में छा जाता है। यही प्रसन्नता की नवीन हरियाली आज चारों ओर से घेर कर खड़ी हो गई है।

हे प्राणेश्वरी ! हम नित साथ-साथ रहकर मिलन-सुख का अनुभव करें और मधुमय हरियाले निकुंज में आजीवन विचरण करते रहें।

विशेष—प्रकृति का वर्णन उद्दीपन रूप में किया गया है किन्तु इस वर्णन में परम्परा का त्याग करके नवीन पद्धति का समावेश किया गया है।

औशीनरी

आजीवन के अच्छा मरना है।

शब्दार्थ—आजीवन=जीवन भर।

अर्थ—यदि महाराज और उर्वशी दोनों जीवन भर साथ-साथ रहेंगे तो मुझे अब जीकर करना भी क्या है। इस थोड़े-से मरण से तो एक बार मरना ही बहुत अच्छा है।

निपुणिका

मरना श्रेष्ठ है जीना है।

शब्दार्थ—गन्धमादन=एक पर्वत का नाम। प्रत्यागत हो=लौटकर। नैमिषेय=एक प्रकार का यज्ञ। प्रीता=प्रियतमा। कुलवनिता=कुलीन स्त्री। परिणीता=विवाह की हुई नारी पत्नी।

अर्थ—यह सत्य है कि इस प्रकार के जीवन से मरना बहुत अच्छा है किन्तु आपको मरना भी तो सुलभ नहीं है क्योंकि जाते समय महाराज पुरूरवा ने अपने मंत्रियों से यह बात कही थी कि एक वर्ष के पश्चात् वे गन्धमादन नामक पर्वत पर विचरण करेंगे और वहाँ से लौटकर नैमिषेय नामक यज्ञ का विधान करेंगे। महाराज प्रियतमा के वशीभूत होकर पर्वत पर विचरण तो कर सकेंगे किन्तु उनका यज्ञ बिना कुलीन पत्नी के पूर्ण नहीं होगा। अतः हे भुवनेश्वरि ! उस यज्ञ की पूर्णता में अपना कर्त्तव्य निभाने के लिए आपको

जीवित ही रहना पड़ेगा क्योंकि यदि आप मर गईं तो यह यज्ञ फिर किस प्रकार पूर्ण होगा।

मौशीमरी

हाय, मरण तक   मेते हैं।

शब्दार्थ—हलाहल=भयंकर विष। गणिका=वेश्या उर्वशी। अहित=बुरा। भ्रमा=भ्रम में डालकर। प्रवंचिकाएँ=ठगिनी। हित=लिए। कुल-बालाओं को=कुल नारियों का। आखेट=शिकार।

अर्थ—यह बड़े दुःख की बात है कि जब तक मुझे मरने का अवसर मिलेगा तब तक मुझे भयंकर विष को पीते रहकर जीना होगा। न जाने उस वेश्या उर्वशी का मैंने क्या बुरा किया था न जाने कब और किस पूर्व-जन्म में मैंने उसका क्या सुख छीन लिया था जिसके कारण मेरे पति की बुद्धि को भ्रम में डालकर वह अधम पापिनी मेरे पति को मुझ से छीनकर ले गई।

न जाने ये ठगिनी अप्सराएँ अपने मन में दया क्यों नहीं करती और निर्दयी बनकर अपने आनन्द के लिए कुल की नारियों का तड़पाती रहती हैं।

ये अपने रूप और यौवन का जाल फेंकती रहती हैं और हँसी हँसी में नरों के मन का शिकार कर लेती हैं। लेकिन इन व्याभिचारिणियों न जाने किसको दुःख पहुँचाते हैं? पुरुषों को तो य आनन्द देती हैं, पर उनकी नारियों के प्राणों को हर लेती हैं अर्थात् इनके कारण नारियों को ही दुःख होता है, पुरुषों को नहीं।

निपुणिका

पर कसी हूँ   बहती है।

शब्दार्थ—आप्त हुई=पायी। व्यजन=पंखा। पल्लव-दल=फूलों का समूह। निखिल=समस्त। पय=दूध। मज्जित करके=महसा करके। रूपकातिरेक=रूप का आधिक्य।

अर्थ—लेकिन इस रानी के ऊपर भाग्य की भी तो बहुत अधिक कृपा है क्योंकि महाराज का सारा प्रेम उमड़ कर उसके ऊपर बरस रहा है;

ो मिलने नहीं पाती थी; अर्थात् तुम्हारी स्मृति से मेरे मन को सुख तो
मिलता था पर वेदना की दाह कभी नहीं होती थी। किन्तु आज मुझे
पसे मिलकर इसी प्रकार प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है जिस प्रकार
आषाढ़ के महीने में मेघों का मतवाला समूह आकाश में छा जाता है। यही
प्रसन्नता की नवीन हरियाली आज चारों ओर से घेर कर खड़ी हो गई है।

हे प्राणेश्वरी ! हम नित साथ-साथ रहकर मिलन-सुख का अनुभव करें
और मधुमय हरियाले निकुंज में आजीवन विचरण करते रहें।

विशेष—प्रकृति का वर्णन उद्दीपन रूप में किया गया है किन्तु इस
वर्णन में परम्परा का त्याग करके नवीन पद्धति का समावेश किया गया है।

मेनकाज्ञ्नरी

आजीवन मैं ... अच्छा मरना है।

शब्दार्थ—आजीवन=जीवन भर।

अर्थ—यदि महाराज और उर्वशी दोनों जीवन भर साथ-साथ रहें तो
ऐसे सब जीकर मरना भी क्या है। इस जीते-जी मरने से तो एक बार
मरना ही बहुत अच्छा है।

निपुणिका

मरना श्रेष्ठ है ... जीना है।

शब्दार्थ—गन्धमादन=एक पर्वत का नाम। प्रत्यावृत्त हो=लौटकर।
मिविष्ट=एक प्रकार का यज्ञ। प्रीता=प्रियतमा। कुलशीला=कुलीन
स्त्री। परिणीता=विवाह की हुई नारी पत्नी।

अर्थ—यह सत्य है कि इस प्रकार के जीवन से मरना बहुत अच्छा है
किन्तु आपको मरना भी तो सुलभ नहीं है क्योंकि जाते समय महाराज पुरूरवा
अपने मंत्रियों से यह बात कही थी कि एक वर्ष के पश्चात् वे गन्धमादन
प्रसिद्ध पर्वत पर विचरण करेंगे और वहां से लौटकर मैत्रेय नामक यज्ञ का
अनुष्ठान करेंगे। महाराज प्रियतमा के वशीभूत होकर पर्वत पर विचरण तो
कर सकेंगे किन्तु उनका यज्ञ बिना कुलीन पत्नी के पूर्ण नहीं होगा। अतः हे
महेश्वरि ! उस यज्ञ की पूर्णता में अपना कर्त्तव्य निभाने के लिए आपको

जीवित ही रहना पड़ेगा, क्योंकि यदि आप मर गईं तो यह [illegible] फिर किस प्रकार पूर्ण होगा।

औशीनरी

हाय मरण तक [illegible] सेते हैं।

शब्दार्थ—हलाहल=भयंकर विष। [illegible]=वेश्या उर्वशी। [illegible]=बुरा। भ्रमा=भ्रम में डालकर। [illegible]=ठगिनी। [illegible]=लिए। कुल-बालाओं को=कुल नारियों को। [illegible]=शिकार।

अर्थ—यह बड़े दुःख की बात है कि जब तक मुझे मरण [illegible] तब तक मुझे भयंकर विष का घूँट सहकर जीना होगा। न जाने उस वेश्या उर्वशी का मैंने क्या बुरा किया था न जाने [illegible] किस पूर्व जन्म में मैंने उसका क्या सुख छीन लिया था जिसके कारण [illegible] बुद्धि को भ्रम में डालकर वह अधम पापिनी मेरे [illegible] का सुख ले [illegible] ले गई।

न जाने ये ठगिनी अप्सराएँ अपने मन में क्या क्यों नहीं [illegible] और निर्दयी बनकर अपने आनन्द के लिए कुल की नारियों का [illegible] रहती हैं।

ये अपने रूप और यौवन का जाल फैलाती रहती हैं और [illegible] मर्दों के मन का शिकार कर लेती हैं। लेकिन इन [illegible] को [illegible] कितना दुःख पहुँचाते हैं? पुरुषों को तो ये आनन्द देती हैं, पर [illegible] नारियों के प्राणों को हर लेती हैं अर्थात् इनके कारण नारियों का ही दुःख [illegible] है, पुरुषों को नहीं।

निपुणिका

पर कैसी हुई [illegible] रहती है।

शब्दार्थ—प्राप्त हुई=पड़ी। [illegible]=[illegible]। [illegible]=[illegible] का समूह। निखिल=समस्त। पय=दूध। [illegible]=[illegible]। पुलकातिरेक=हर्ष का आधिक्य।

अर्थ—लेकिन इस उर्वशी के ऊपर भाग्य की [illegible] हुआ है क्योंकि महाराज का सारा प्रेम [illegible]

अर्थात् महाराज पूर्णरूप से उसे प्रेम करते हैं। जिस दिशा में उर्वशी चलती है, महाराज उसी ओर उसके पीछे-पीछे चलते हैं। वह यदि जरा भी थकी तो महाराज फूलों के समूह से उसको हवा करते हैं, उसके लिए पंखा झलते हैं।

वे उसकी समस्त देह को दृष्टि के गाढ़े दूध से नहला करके और उसके प्रत्येक अंग को नवोत्पन्न पत्ते पराग तथा फूलों से सजाकर फिर तुरन्त ही यह कह बैठते हैं कि ये भी ठीक नहीं लगते। इसीलिए वे तरह-तरह के प्रसाधन—सजाने के सामान—बनाते रहते हैं।

और उर्वशी सारे आनन्द को समेट कर चुपचाप रहती है बोलती तक नहीं है। वह आनन्द के कारण अर्ध-चेतन अवस्था में होकर हर्ष के आधिक्य में धीरे धीरे बहती रहती है।

मदनिका

इसमें क्या आश्चर्य   कम्पन में।

शब्दार्थ—केसरी=सिंह शक्तिशाली पुरुष। अनिमिष=निरन्तर। रोमाकुलित=रोमांच से भरकर। अनिर्वच=अवर्णनीय। उडुओं=नक्षत्रों कौमुदी=चांदनी। यावक=महावर। विधु=चन्द्रमा। पावक—ज्योति से तात्पर्य है। तपोनिष्ठ=तपस्वी। प्रमदा=युवती। उद्वेलित=उच्छलित।

अर्थ—यदि विविध भाँति के प्रसाधनों से उर्वशी को सजाकर भी महाराज सन्तुष्ट नहीं हो पाते तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि जब मनुष्य के हृदय में प्रथम बार प्रेम जगता है तो उसे नारी किसी दुर्लभ स्वप्न के समान सुन्दर दिखाई दिया करती है।

नारी जीवन की वह कितनी गौरवपूर्ण घड़ी होती है जब शक्तिशाली और सक्षम पुरुष अपने तन-मन की समस्त सुध-बुध भूलकर नारी के चरणों में पड़ा रहता है और उसके मुख को निरन्तर देखता रहता है तथा प्रत्येक क्षण रोमांच में भरकर गूढ़ और अवर्णनीय रस का भोग करता रहता है।

यही वह समय होता है जब नारी जो चाहे उसे ही प्राप्त कर सकती है। वह चाहे तो नक्षत्रों की टमकी और चाँदनी का दुकूल मँगवा सकती है, चाहे तो ऊषा के महावर से अपने चरणों की उंगलियों को रंगवा सकती है और चाहे तो पूर्णिमा के चन्द्रमा की ज्योति से अपनी आरती सजवा सकती है।

उस समय तपस्वी का संचित तप, ज्ञानी का ज्ञान, मानशील का मान, गर्वीले का गर्व और अभिमानी का अभिमान ये सब सहज ही युवती के चरणों की भेंट हो जाते हैं और तब उत्तेजित मनुष्य नारी से कुछ भी नहीं बचा पाता।

किन्तु, अत्यन्त दुःख का विषय है कि मनुष्य की यह उत्तेजना भी सरल तथा स्वाभाविक नहीं है बल्कि माया से भरी हुई है। जिस सहज भावुकता से पुरुष का हृदय धड़कता है, उस भावुकता से नारी के मन में उत्तेजना नहीं आती। वह सागर जैसे गम्भीर मनुष्य को अपने बन्धन में बांधकर रख लेना चाहती है।

औशीनरी

किन्तु बन्ध को ... सिरोनी होगा।

शब्दार्थ—बंध=बन्धन। प्रशमित=शान्त।

अर्थ—लेकिन बन्धनों को तोड़कर जब नारी के हृदय में प्रेम का आवेग पैदा होता है तब तक नर का प्रेम शिथिल होकर शान्त होना प्रारम्भ हो जाता है। हम नारियों को पुरुष अर्ध-निशा में चूमता है किन्तु जब हम निद्रा से जगती हैं तो वह प्रेम-जगत के प्रति विमुखता दिखलाने लगता है। तब रमणी अर्ध-निशा में जागकर और प्राणों में प्रेम की प्यास लेकर अपने प्रेमी का पथ देखती रहती है तथा उसके विरह में आंसू बहाती रहती है। मुझे भी अब आंसू बहाने के सिवाय और कोई चारा शेष नहीं रह गया है।

निपुणिका

इसी भाँति ... सकते हैं।

शब्दार्थ—सुनारी=सुन्दर स्त्री। स्वर्वेश्या=गणिका।

अर्थ—लेकिन क्या इस प्रकार महाराज भी आपके प्रति प्रेम से उदासीन हो जायेंगे और आपके समान सुन्दर तथा गुणवती नारी को तजकर चिर दीर्घ-समय इस गणिका—उर्वशी—को कब तक अपनाये रह सकते हैं ?

औशीनरी

कौन कहे ... चाहता मन है।

शब्दार्थ—अलभ्य=जिसे प्राप्त न किया जा सके।

अर्थ—कौन जाने कि महाराज मुझे छोड़कर उर्वशी के प्रति ही अपने प्रेम का प्रदर्शन करेंगे किन्तु इतना सत्य है कि प्रेम हृदय की सबसे बड़ी उलझन है और प्रेम में मन उसी वस्तु को प्राप्त करना चाहता है जो प्राप्त न की जा सके।

मदनिका

उस पर भी बस में।

शब्दार्थ—प्रतिमाओं का=सुन्दर स्त्रियों का। तोष=सन्तोष। ग्रीवा=गर्दन। छूटे=छिप जाये। अंक=गोद। निमज्जित=डुबोया हुआ। ललना=युवती।

अर्थ—यद्यपि प्रेम स्वयं एक ऐसी उलझन है जो अलभ्य वस्तु की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहती है इस पर भी मनुष्य में प्रति क्षण आकुल होने की आदत है। वह नित नई सुन्दरियों का प्यार प्राप्त करना चाहता है। उसके वश में जो वस्तु आ जाती है उससे उसे सन्तोष नहीं होता और न उसके लिये उसे सन्तोष होता है जिसे उसने जीत कर अपने वश में कर लिया है।

मनुष्य नई सिद्धियों को प्राप्त करने के लिये नित नये संभव की इच्छा करता रहता है। वह नया स्वाद नई गंध और नित नया रूप प्राप्त करना चाहता है। उसे भौतिक स्पर्श से दूर रह कर स्वप्नों की झिलमिलाहट अच्छी लगती है। वह उस जल की इच्छा करता है जिसे वह छक कर नहीं पी सका हो। जो नारी अपना सर्वस्व त्याग कर उसकी शरण में झूलती रहती है उसके प्रति उसके मन में कभी भी प्रीति नहीं जगती। चांदनी के समान जो नारी उसे अपना सर्वस्व अर्पण कर देती है उसे वह फीकी लगने लगती है।

मनुष्य उसी नवयुवती के वश में रहता है जो बार-बार चुम्बन लेकर प्रकट होती है तथा छिप जाती है जो स्वयं को प्रियतम की गोदी में समेट लेती है जो स्वप्नों के समान बाहु-पाश में जकड़ी रहती है और चमत्कार की लहर के समान बार-बार लौटकर डूब जाती है और जो सदैव प्रियतम को अतृप्ति के रस में डुबाये रहती है।

विशेष—नारी-मन का यथातथ्य मनोवैज्ञानिक चित्रण है।

प्रौढ़ीनरी

गृहिणी जाती हार [illegible] बनकर हारी।

शब्दार्थ—जयिनी=विजयी। गृहिणी=धर्मपत्नी।

अर्थ—धर्मपत्नी अपने सम्पूर्ण जीवन को समर्पित करके भी अपना दाँव हार जाती है और अप्सरा पुरुष में ललक भर कर विजयी बन जाती है। बेचारी गृहिणी नारी मनुष्य में ललक जगाना नहीं जानती उसकी वासनाओं को उत्तेजित करना नहीं जानती। इसीलिये हे सखि! अप्सरा जीत गई वह मेरे पति पर अपना अधिकार करने में सफल हुई और मैं रानी बनकर भी हार गई, अपने पति के प्रेम से वंचित हो गई।

निपुणिका

इतना कुछ [illegible] कर सकती है?

शब्दार्थ—धनद=कुबेर। व्योमवत्=आकाश की भाँति। जलद निभ=बादलों के समान। मनोज्ञ=सुन्दर। कुसुमायुध-से=कामदेव के समान। अनुरागी=प्रेमी। वामा=स्त्री।

अर्थ—हे महारानी! आप इतना सब कुछ जानती थीं फिर आपने अपने ऊपर इस विपत्ति को आने दिया और अपने पति को अपने हाथों से क्यों जाने दिया? महाराज भी कोई साधारण पुरुष नहीं हैं। उनका मन अप्सराएं सहज ही हरण नहीं कर सकतीं। वे कार्तिकेय के समान शूरवीर देवताओं के गुरु बृहस्पति के समान ज्ञानी सूर्य के समान तेजस्वी इन्द्र के समान प्रतापी तथा स्वाभिमानी, कुबेर के समान सम्पन्न आकाश के समान मुक्त [illegible]ों के समान त्यागी कुसुम के समान मधुर और सुन्दर तथा कामदेव के समान प्रेमी हैं।

ऐसे असाधारण व्यक्ति के लिए स्त्री सभी कुछ कर सकती है, उसे वश में करने के लिए अपनी समस्त शक्ति का प्रयोग कर सकती है और ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जिसे वह उसके चरणों पर न्यौछावर न कर सके।

विशेष—उपमा अलंकार।

भीमीनरी

धरी कौन है   जलती है नारी।

शब्दार्थ—कृत्य=कार्य। प्रणय-वेदी=प्रेम की वेदी। आराध्य-चरण पर=पति के चरणों पर। हेरती रहती=देखती रहती। श्री=शोभा। अन्तर=हृदय। वयस=आयु। कर अवगाह=स्नान करके।

अर्थ—हे निपुणिका! कोई भी ऐसा कार्य शेष नहीं है जिसे मैं इसके लिए अब तक न कर पाई हूँ अर्थात् महाराज को उर्वशी के प्रेम से उदासीन करने के लिये मैंने सब प्रकार के प्रयत्न कर लिए हैं। ऐसा कोई भी फूल नहीं बचा है जिसे मैंने प्रेम की वेदी पर न चढ़ाया हो। ऐसा मेरे पास कोई धन नहीं है जिसे मैंने अपने पति को समर्पित न किया हो। हे सखि! मैंने तो अपने पति के चरणों पर तन मन और जीवन सभी कुछ न्योछावर कर दिया है।

इतना सब कुछ समर्पण करने के पश्चात् भी तो मैं भिखारिणी की भांति उनके मुख की ओर देखा करती हूं। और अपने प्रियतम की आंखों में सदैव अपने सुख को देखती हूं अर्थात् उनके मुख को देखते रहने में ही मुझे अपार आनन्द मिलता है। लेकिन प्रियतम के अभाव में मुझे वह सुख भी तो नहीं मिलता। न जाने उनके नयनों की चमक कहां खो गई है? न जाने स्वामी के मधुर प्रेम की शोभा कहां पर जाकर खो गई?

मुझे सब की सारा सुख प्राप्त है, केवल एक प्रियतम के मिलन का ही सुख नहीं है। इसी सुख से तो नारी के हृदय में प्राण का कमल खिला करता है। यही वह सुख है जो उस दृष्टि से बरसा करता है जिससे नर मधु-भरे नयनों से नारी को देखा करता है।

यही वह दृष्टि है जिसके कारण अवस्था का अन्तर मिट जाता है और प्रौढ़ा नायिका भी जिसे प्राप्त कर युवती बन जाती है। यह वह अत्यन्त पवित्र अमृतुल्य (स्नेहपूर्ण) और सुखकारी धार भी निर्झरी है जिसमें स्नान करके नारी फिर से नवीन हो जाती है अर्थात् पुनः यौवन तथा जीवन-प्रेरणा प्राप्त कर लेती है।

मदनिका

जब तक यह ... अर्थक होते हैं।

शब्दार्थ—रस-वृष्टि=आनन्द से भरी हुई वृष्टि। रसोद्रेक=रस (आनन्द) का संचार। लालाभवत्=मकड़ी को कूने के समान। वपु=शरीर। काय=काया शरीर। दुष्कर=मुश्किल। मधुकर=भौंरा। प्रणय-क्षुधा=प्रेम की भूख। जननि का=माता का। वक्ष=गोद से तात्पर्य है। श्रमित-भ्रान्त हो=थक कर। उद्दाम=तीव्र। अनल=आग प्रमाग्नि। अप्रतिम=अपूर्व। रूपसी=रूपवती। तिमिराच्छन्न=अंधकार से भरा हुआ। परिरंभ=आलिंगन। अधर=आमर। विभ्रान्त=पथप।

अर्थ—जब तक पुरुष की नारी के प्रति यह आनन्द से भरी हुई प्रेम की दृष्टि बनी रहती है, तभी तक जीवन में आनन्द का संचार होता रहता है। इसी से आलिंगन में पुलक और चुम्बन में सजीवता एवं सिहरन आती है। जब यह दृष्टि प्रेम-विहीन हो जाती है तो चुम्बन का स्वाद नष्ट हो जाता है और आलिंगन सूखी हुई लकड़ी के छूने के समान निरर्थक बन जाता है।

शरीर तो केवल एक यन्त्र के समान है। उस पर जो प्रेम की कविता लिखी जाती है वह तो मन से उत्पन्न होती है अतः केवल शरीर का मिलन व्यर्थ है। लेकिन सच्चा आदमी के मन को वश में रखना बहुत ही कठिन काम है। ठीक उसी प्रकार जैसे फूलों से भरी हुई पृथ्वी के होने पर भी चंचल भौंरा सदैव एक फूल से दूसरे फूल पर जाने के लिए ही विकल रहता है।

मनुष्य सदा प्रेम की मादक भूख से आक्रांत होकर विचरण किया करता है। मनुष्य को न तो विजय प्राप्त करके तृप्ति होती है और न मधु की अमृत प्राप्त करके उसे सन्तोष मिलता है। यदि असफलता मिलने पर नर को अपनी माँ की गोद याद आती है तो मुसीबतों के आने पर उसे युवती की सेज का स्मरण होता है।

जब मनुष्य संघर्षों से पूर्णतया थक जाता है तो वह विकल होकर केवल एक क्षण सिर रखकर सोने के लिए नारी का हृदय ढूंढा करता है। जब मनुष्य की आँखों में आँसू भर आते हैं तो वह किसी का चुम्बन चाहता है और विपत्ति में रमणी के शरीर से गाढ़ा आलिंगन चाहता है।

जलती हुई धूप में मनुष्य को या तो छांह की या जल की या किसी निकुंज में बैठकर प्रतीक्षा करती हुई युवती के अंचल की याद आती है। और मनुष्यों में भी जो मनुष्य जितना अधिक विक्रमी और प्रखर होगा उसकी प्रेमाग्नि भी उतनी ही अधिक तीव्र वेगमयी तथा दीप्त होगी।

जो व्यक्ति प्रकृति के कोष से जितना ही अधिक बल लेकर आता है, वह उतनी ही आसानी से फूलों से मर जाता है। कहने का भाव यह है कि जो व्यक्ति जितना ही अधिक शक्तिशाली होता है वह उतना ही अधिक भावुक और अनुरागी होता है। जो व्यक्ति अगम अमाप और अटूट तेज-बल को धारण करने वाले होते हैं वे बड़ी आसानी से सुन्दर नारी के सामने घुटने टेक बैठे हैं।

जो दृष्टि अन्धकार से भरे हुए आकाश को पार करने में समर्थ होती है वही किसी युवती के सुन्दर कपोल को छूकर कुंठित हो जाती है। जो बाँहें उखाड़कर पर्वत का भी अपनी गोद में ले लेती हैं वे ही हृदय की पीड़ा तथा आलिंगन की वेदना का दान करती हैं।

जो सागर जितना ही अधिक विस्तृत अगम और रत्नों से भरा हुआ होता है उसमें उतनी ही अधिक संघर्षशील और दुर्दम बाड़वाग्नि होती है। नद, नाले और सोते ही (तटों के) बन्धनों को स्वीकार करते हैं। महासागर तो स्वभाव से ही प्रमत्त होते हैं।

निपुणिका

इस मधुरता नहीं है ?

शब्दार्थ—उपचार=इलाज।

अर्थ—तो क्या इस मधुरता का संसार में कोई इलाज नहीं है?

औशीनरी

प ति के सिवा योषिता।

शब्दार्थ—योषिता=युवती रमणी।

अर्थ—पति के सिवाय पत्नी (रमणी) का और कोई आधार भी तो नहीं होता। जब तक रमणियों के लिए केवल पति ही आधार बना रहेगा, तब

तक नारियों की व्यथाएँ दूर नहीं होंगी। वे आँसुओं को छिपाकर हँसेंगी और
हँसते-हँसते रोयेंगी।

(कंचुकी का प्रवेश)

कंचुकी

जय हो ... आराधन में।

शब्दार्थ—भट्टारिके=महारानी औशीनरी के लिए सम्बोधन। भट्टारक=महाराज पुरूरवा के लिए सम्बोधन। मधवन=कानन। उत्पल=कमल। शैल=पर्वत। अम्बर=आकाश। अनिलय=आस्पद। अंशधर=पुत्र। आराधन में=पूजा में।

प्रसंग—जब औशीनरी और उसकी सखियों में बातचीत हो रही थी तभी कंचुकी आता है और कहता है—

हे महारानी आपकी जय हो! महाराज को जो सचिव गन्धमादन पर्वत का माप दिखलाने के लिए तथा उन्हें कुशल-पूर्वक यहाँ पहुँचाने के लिए गये थे व आज नगर में लौट आये हैं और आपके लिये महाराज का यह सन्देश लाये हैं।

महाराज ने सन्देश में कहा है कि यहाँ की पवन स्वास्थ्य-वर्धक और शीतल है। यहाँ का जल मीठा है। झीलों में जिधर देखिए, उधर ही कमल ... कमल दिखाई देते हैं। लम्बे चीड़ चीड़ के वृक्ष आकाश की ओर ... उठाए हुए हैं। वे ऐसे प्रतीत होते हैं मानो एक चरण पर खड़े हुए तपस्वी ...ने ध्यान में लीन हों।

दूर-दूर तक यहाँ फूलों का सुन्दर वन है जो दूर-दूर तक फैले हुए हैं। ... वहीं पर लता तथा तरुओं के बने हुए कुञ्ज भवन दिखलाई देते ... पर्वतों की चोटियों पर बर्फ के ढेर हैं और नीचे झरनों का पानी बह रहा ... पर्वतों के बीच में प्रकृति हरियाली का वसन ओढ़कर सोई हुई है। ... इस मधुवन में बहुत ही मग्न और प्रसन्न हूँ किन्तु यहाँ भी मेरे मन ... बार बार कसक (पुनरागमन की) उभर आती है। यद्यपि प्रतिष्ठानपुर ... संभव है कि यह इस पृथ्वी पर स्वर्ग के समान है किन्तु यह समस्त ... के अभाव में सूना ही लगता है।

क्या अपने घर में कभी भी पुत्र रत्न नहीं चमकेगा ? अर्थात् इस वंश में कोई पुत्र उत्पन्न नहीं होगा ? हे देवि ! क्या यह महान् ऐल वंश पुत्राभाव के कारण आगे नहीं चल सकेगा । आप भगवान् से निरन्तर पुत्र के लिये प्रार्थना करती रहें । आपके धर्म-साधन में किसी प्रकार की गलती न होने पाये । मैं जहाँ भी रहूँगा, इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये निरन्तर ईश्वर की पूजा में लगा रहूँगा ।

निपुणिका

सुन लिया आर्ये !

अर्थ—हे महारानी ! क्या आपने महाराज का सन्देश सुन लिया ?

औशीनरी

हाँ अनोखी शूल हैं ।

शब्दार्थ—रमना=रमण करना । आराधना=पूजा । अवलम्ब=सहारा । मरुत=वायु, वह । शूल=काँटे ।

अर्थ—हाँ मैंने महाराज का सन्देश सुन लिया है । उनकी कामना बड़ी ही अनोखी है, क्योंकि वे अप्सरा के साथ रमण करने को ईश्वर की पूजा बता रहे हैं । वे पुत्र प्राप्त करने के लिए कुंजों में और वनों में आनन्द के साथ विचरण करते रहें और मैं इस सूने भवन में पुत्र के लिये पूजा करती रहूँ इससे अधिक मेरा दुर्भाग्य और क्या हो सकता है ? उनका यह न्याय भी कितना अनोखा है ? इस न्याय का विरोध करने के लिए भी तो कोई उपाय नहीं है । वास्तविकता तो यह है कि इस संसार में सबको सहारे मिल सकते हैं किन्तु नारी को नहीं मिल सकते क्योंकि वह असहाय है । नारी के लिये तो यही उचित है कि वह अपने मन के दुःख दर्द को किसी से न कहे और मन की व्यथा को मौन का रूप न दे । उसके मन में वेदना की जो हूक उठे उसे अपनी जबान पर न लाये ।

इतना सब कुछ होने पर भी मैं भगवान् से यही प्रार्थना करती हूँ कि सारे ग्रह मेरे स्वामी के अनुकूल हों । उनके मार्ग में जो काँटे हों, वे मुझे

मिल जायें और मेरे प्रियतम जहाँ भी रहें वहीं सब जगह उनके पथ में फूल बिछे रहें। अर्थात् महाराज कुशल-पूर्वक तथा आनन्दपूर्वक अपने जीवन का निर्वाह करते रहें।

विशेष—इन पंक्तियों में मीरांमरी के चरित्र की महत्ता साकार हो उठी है।

तृतीय अंक

(गन्धमादन पर्वत पर पुरूरवा और उर्वशी)

पुरूरवा

जब से हम-तुम   करती हो।

शब्दार्थ—अभिसारों में=मिलन-क्षणों में। सितासित=श्वेत और काला अर्थात् शुक्ल-पक्ष और कृष्ण-पक्ष। अमा=अमावस्या। ज्योत्स्ना=चाँदनी। फुल्ल=खिले हुए। अनिमिष=अपलक। गिरा=वाणी।

अर्थ—गन्धमादन पर्वत पर निवास करते हुए महाराज पुरूरवा अपनी प्रियतमा उर्वशी से कह रहे हैं कि हे उर्वशी! जब से हम-तुम मिले हैं तब से इन मिलन-क्षणों में न जाने कितनी बार रजनी शृंगार करके शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष को साथ लेकर आकाश में घूम चुकी है? अर्थात् कितने ही शुक्ल और कृष्ण पक्ष व्यतीत हो चुके हैं—बहुत अधिक समय बीत गया है। न जाने, तब से कितनी बार अपना समय आने पर अमावस्या चन्द्रमा को चुरा कर ले गई है और न जाने कितनी बार फिर चाँदनी उसे लेकर प्रकट हुई है।

जब से हम तुम इस वन के अमल और खिले हुए कानन में मिले हैं तब से मेरी अपलक दृष्टि किसी विस्मय में खोई रहती है। यह विस्मय इतना अधिक है कि मुझे स्वयं अपनी वाणी का ही अर्थ समझ में नहीं आता। मेरे शब्दों से अर्थों की जो मूर्तियाँ बनती हैं वे तुम्हारी आँखों से उठने वाले क्षीर ज्वार में गलकर खो जाती हैं।

अपनी इस विवशता के कारण मैं आनन्द से विभोर होकर सिहरता हुआ उस वृक्ष की भाँति खड़ा रहता हूँ जिसकी डालियों पर गिलहरियाँ बड़े आनन्द के साथ फिसल रही हों या जिसके पत्तों में छिपकर कोयल बोल रही हो।

विशेष—१. समय का नाटकीय एवं संकेतात्मक विवरण।

२. उपमा अलंकार।

उर्वशी

जब से हम-तुम   —में आयी।

शब्दार्थ—सत्वरगति से=बहुत तेजी से। अतीत-गह्वर में=भूतकाल की गुफा में। कल्प=बहुत लम्बा समय (इसे ब्रह्मा का एक दिन बताया गया है किन्तु मानव-समय के अनुसार इसमें ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष होते हैं।) काल निशाएं=मृत्यु के समान भयंकर रातें। कामकुसुम-तल=कल्पवृक्ष के नीचे। ललना=नारी।

अर्थ—जब से हम और तुम मिले हैं तब से न जाने समय को क्या हो गया है क्योंकि यह बड़ी तेजी से भूतकाल की गुफा में छिपता जा रहा है अर्थात् बड़ी जल्दी-जल्दी व्यतीत हो रहा है। लेकिन जब तुम्हें देखकर वापिस स्वर्गलोक को गई थी तो यही अवसर के समान सुवष बनकर मेरे प्राणों पर बैठ गया था। सूर्य आकाश में उदय होकर छिपने का नाम भी नहीं ता था अर्थात् दिन काटना पहाड़ बन जाता था और रातें तो काल के समान भयंकर होती थी तथा कल्प के समान बीतती थी। उन दिनों मैं कल्पवृक्ष के नीचे नरम फूलों पर पड़ी हुई तड़पती रहती थी। लेकिन तुम कभी छिपकर भी मेरी सुध लेने नहीं आये। तुम इतने कठोर निष्ठुर निकले कि स्वयं तो महल में बैठे-बैठे निश्चित होकर सुख प्रताप का मधु का का कलियों का और फूलों का सुख भोगते रहे और मैं तुम्हारे विरह में एकाकी तड़पती रही। अन्त में तुम मुझे तभी मिले जब मैं नारी की मर्यादा को भंग करके तथा स्वर्गलोक को छोड़कर स्वयं इस भूलोक पर उतर आई।

विशेष—१ मिलन का समय बहुत तेजी से तथा वियोग का बहुत देरी से बीतता हुआ प्रतीत हुआ करता है। इन पंक्तियों में कवि न इसी मनोवैज्ञानिक सत्य का निरूपण किया है।

२ उर्वशी के द्वारा उपालंभ के कारण इन दोनों प्रेमियों के प्रेम की गम्भीरता की ओर संकेत है।

पुरूरवा

चिर-व्रत हूँ   कभी आयोगी।

शब्दार्थ—दनुज=राक्षस । वियोजित करके=छुड़ा करके । क्षीरोदधि=दूध का सागर । लालिमा=लाली । भिक्षाटन से=मांगने से । निमित्त=लिए । अन्तःपुर से=भीतर से । मण्मय=पत्थर । मिट्ट-बीथि=कुओं की गली । मृषा—झूठ । पारिजात=कमल । संतप्त=वेदनापूर्ण ।

अर्थ—तुम मेरे कारण स्वर्गलोक छोड़कर इस भूलोक पर उतर गईं तुम्हारी इसी कृपा के लिये मैं तुम्हारा बहुत-बहुत आभार मानता हूं लेकिन इसके अतिरिक्त मिलन का तुम्हारे लिये और कोई मार्ग भी तो संभव नहीं था । उस दिन राक्षस के हाथों से तुम्हें छुड़ाकर और तुम्हें तुम्हारी सखियों को सौंपकर जब मैं अपने घर वापिस लौटा था तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मेरा शरीर तो किसी प्रकार रथ में पड़कर घर तक आ गया है किन्तु मेरे प्राण उन्हीं उज्ज्वल नेत्रों के वन में छूट गए हैं जहां तुम मुझ दूध के सागर में लहर की लालिमा के समान मिली थीं ।

कई बार मन में यह इच्छा हुई कि स्वयं इन्द्र से जाकर मैं इस बात को कहूं कि उर्वशी के बिना यह जीवन एक बोझा बन गया है । आपकी बड़ी कृपा होगी यदि आप उर्वशी को भूलोक पर आने की आज्ञा दे दें ।

लेकिन मेरे मन ने इस मार्ग को स्वीकार न किया । मेरे मन ने कहा कि राजा होकर भीख मांगना उचित नहीं है । और प्रेम भीख मांगने से कभी मिलती भी तो नहीं । यदि इन्द्र की कृपा से मुझे उर्वशी मिल भी गई तो उसके हृदय का द्वार मेरे लिये कौन खोलेगा ? मनुष्य के हृदय में बाहर तो सांकल लगी हुई नहीं है कि जब चाहा उसे खोल लिया और हृदय में प्रवेश कर लिया । हृदय-मंदिर का द्वार तो सदैव भीतर से ही खुला करता है अर्थात् प्रेम भावना का विषय है थोपे जाने का नहीं ।

और कभी-कभी मैंने यह भी सोचा था कि जिस उर्वशी के तन की 'सुगंध से तृप्त होकर तीनों कालों की तथा तीनों लोकों की वायु विकल तथा मस्त होकर बह रही है उस सर्वव्यापिनी सुगन्धि की पर्याप्त एवं अमर शिखा को मैं मर्त्यलोक का प्राणी प्राण की भिक्ष कुम-पाली में संजोकर रख सकूंगा अर्थात् मैंने यह सोचा कि मैं उर्वशी की तुलना में बहुत छोटा हूं इसलिये मेरा उससे प्रेम-व्यापार नहीं निभ सकता ।

इसीलिए मैं असहाय बनकर महल में बैठा-बैठा तड़पता रहा। साथ ही मुझे यह विश्वास था कि यदि मेरा प्रेम झूठा नहीं है तो मेरे मन की यह विरह-वेदना आकाश के नीचे मर्त्यलोक में नहीं रुक सकेगी। यह बादलों के समूह को भेद कर अवश्य ही कमल के वन में पहुँचेगी। तब यह अवश्य ही तुम्हारे मन को भी वेदना से भर देगी और प्रीति के जगने पर तुम स्वर्गलोक को तजकर निश्चय ही किसी रात को स्वयं ही इस पृथ्वी पर चली आओगी।

उर्वशी

सो तो म   अपयश का।

शब्दार्थ—अयस्कान्त=चुम्बक। अयस=लोहा। उद्भ्रान्त=भटकता हुआ। महोर्मि=महासागर। बाहु-वलय=बाहु-पाश। विक्रम-तरंग=शक्ति की लहर।

अर्थ—सो तो मैं आ गई, किन्तु मेरा यह आगमन ठीक इसी प्रकार का है जिस प्रकार चुम्बक लोह को अपनी ओर खींचकर अपने-से चिपका लेता है। लेकिन इस प्रकार के आने में उस प्रकार का तनिक भी आनन्द नहीं है जो उन भाग्यशाली मनस्विनियों को मिला करता है जिन्हें प्रेम से आवेशयुक्त होकर बलवान और विक्रमी व्यक्ति या तो रण में जीत कर लाते हैं अथवा बल-सहित उनका हरण करते हैं।

नदियाँ स्वयं आकर सागर में मिल जाती हैं किन्तु सागर उन पर कोई ध्यान नहीं देता। धन्य का सौभाग्य जिस चिर-अतृप्त और भटकते हुए महासागर को आलिंगन में भरने के लिए आकुल रहता है वह महासागर उसकी तनिक भी चिन्ता न करके लहरें मारता ही रहता है।

वही नारी धन्य है जो मानवती और प्रमिका होते हुए भी अपने प्रेमी के बाहु-पाश में स्वयं खिचकर नहीं आई बल्कि अपने प्रेमी की विक्रम-लहरों पर चढ़कर आई है अर्थात् जिसे उसके प्रेमी ने अपनी शक्ति से प्राप्त किया है। यदि आपको इन्द्र से मांगने में अपयश का डर था तो आपने मेरा हरण क्यों नहीं किया?

शब्दार्थ—दनुज=राक्षस। वियोजित करके=छुड़ा करके। क्षीरोदधि=दूध का सागर। लालिमा=लाली। भिक्षाटन से=मांगने से। निमित्त=लिए। अन्तःपुर से=भीतर से। अभ्यन्तर=अन्दर। निकुञ्ज-वीथि=कुंजों की गली। मृषा—झूठ। पारिजात=कमल। संतप्त=वेदनापूर्ण।

अर्थ—तुम मेरे कारण स्वर्गलोक छोड़कर इस भूलोक पर उतर आई तुम्हारी इसी कृपा के लिये मैं तुम्हारा बहुत-बहुत आभार मानता हूँ लेकिन इसके अतिरिक्त मिलन का तुम्हारे लिए और कोई मार्ग भी तो संभव नहीं था। उस दिन राक्षस के हाथों से तुम्हें छुड़ाकर और तुम्हें तुम्हारी सखियों को सौंपकर जब मैं अपने घर वापिस लौटा था तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मेरा शरीर तो किसी प्रकार रथ में पड़कर घर तक आ गया है किन्तु मेरे प्राण उन्हीं उज्ज्वल मेघों के वन में छूट गए हैं जहां तुम मुझे दूध के सागर में लहर की लालिमा के समान मिली थीं।

कई बार मन में यह इच्छा हुई कि स्वयं इन्द्र से जाकर मैं इस बात को कहूँ कि उर्वशी के बिना यह जीवन अब बोझ बन गया है। आपकी बड़ी कृपा होगी यदि आप उर्वशी को भूलोक पर जाने की आज्ञा दे दें।

लेकिन मेरे मन ने इस मार्ग को स्वीकार न किया। मेरे मन ने कहा कि राजा होकर भीख मांगना उचित नहीं है। और प्रेम भीख मांगने से कभी मिलती भी तो नहीं। यदि इन्द्र की कृपा से मुझे उर्वशी मिल भी गई तो उसके हृदय का द्वार मेरे लिये कौन खोलेगा? मनुष्य के हृदय में बाहर तो सांकल लगी हुई नहीं है कि जब चाहा उसे खोल लिया और हृदय में प्रवेश कर लिया। हृदय-मंदिर का द्वार तो सदैव भीतर से ही खुला करता है अर्थात् प्रेम भावना का विषय है थोपे जाने का नहीं।

और कभी-कभी मैंने यह भी सोचा था कि जिस उर्वशी के तन की सुगन्धि से तृप्त होकर तीनों कालों की तथा तीनों लोकों की वायु विकल तथा मस्त होकर बह रही है उस सर्वव्यापिनी सुगन्धि को पकड़ एवं अमर पिपासा को मैं मर्त्यलोक का प्राणी मात्र कैसे कुश-पत्ती में संजोकर रख सकूँगा अर्थात् मैंने यह सोचा कि मैं उर्वशी की तुलना में बहुत छोटा हूँ इसलिए मेरा उससे प्रेम-व्यापार नहीं निभ सकता।

इसीलिए मैं असहाय बनकर महल में बैठा-बैठा तड़पता रहा। साथ ही मुझे यह विश्वास था कि यदि मेरा प्रेम झूठा नहीं है तो मेरे मन की यह विरह-वेदना आकाश के नीचे मर्त्यलोक में नहीं रुक सकेगी। यह बादलों के समूह को भेद कर अवश्य ही कमल के वन में पहुँचेगी। तब यह अवश्य ही तुम्हारे मन को भी वेदना से भर देगी और प्रीति के जगने पर तुम स्वर्गलोक को तजकर निश्चय ही किसी रात को स्वयं ही इस पृथ्वी पर चली आओगी।

उर्वशी

सो तो मैं .... अपयश था।

शब्दार्थ—अयस्कान्त=चुम्बक। अयस=लोहा। उद्भ्रान्त=भटकता हुआ। महोदधि=महासागर। बाहु-वलय=बाहु-पाश। विक्रम-तरंग=शक्ति की लहर।

अर्थ—सो तो मैं आ गई, किन्तु मेरा यह आगमन ठीक इसी प्रकार का है जिस प्रकार चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींचकर अपने-से चिपका लेता है। लेकिन इस प्रकार के आने में उस प्रकार का तनिक भी आनन्द नहीं है जो उन भाग्यशाली मनस्विनियों को मिला करता है जिन्हें प्रेम से आवेशयुक्त होकर बलवान और विक्रमी व्यक्ति या तो रण में जीत कर लाते हैं अथवा बल-सहित उनका हरण करते हैं।

नदियाँ स्वयं आकर सागर में मिल जाती हैं किन्तु सागर उन पर कोई ध्यान नहीं देता। वेला का सौभाग्य जिस चिर-अतृप्त और भटकते हुए महासागर को आलिंगन में भरने के लिए आकुल रहता है वह महासागर उसकी तनिक भी चिन्ता न करके लहरें मारता ही रहता है।

यही भारी क्षय है जो मानवती और प्रेमिका होते हुए भी अपने प्रमी के बाहु-पाश में स्वयं खिचकर नहीं आई, बल्कि अपने प्रेमी की विक्रम-लहरों पर चढ़कर आई है अर्थात् जिसे उसके प्रेमी ने अपनी शक्ति से प्राप्त किया है। यदि आपको इस से मांगने में अपयश का डर था तो आपने मेरा हरण क्यों नहीं किया?

पुरूरवा

अपयशमूल ... पवित्र करता है।

व्याख्या—अपयशमूल=अपयश के कारण। विक्रम=दुष्कर्म। पर के=दूसरे के। अनायास=सहज ही। ज्या=प्रत्यंचा धनुष की डोरी। दारुण=कठिन। पुण्डरीक=कमल। मृत्तिजल=मिट्टी और जल। अलिप्त=उदासीन। सलिल=पानी। कर्दम=मिट्टी कीचड़। इतर=दूसरी।

अर्थ—चाहे हरण हो या भीख दोनों ही दुष्कर्म हैं और अपयश के कारण हैं। और फिर हरण भी करता तो किसका? क्या उस सौन्दर्य-सुधा का जो देवों के लिए कान्ति थी और इंद्र के मन की शीतलता थी?

मैंने कभी किसी अन्य राजा के मुकुट पर हाथ नहीं बढ़ाया अर्थात् किसी भी अन्य राजा की स्वतन्त्रता छीनकर मैंने कभी भी उसे परतन्त्र बनाने की कोशिश नहीं की। न किसी की पृथ्वी छीनने के लिए, राज्य छीनने के लिए मैंने कभी संघर्ष किया। तब भी प्रतिष्ठानपुर की वन्दना दूसरे राजा करते हैं इसकी अधीनता स्वीकार करते हैं। और मेरे राज्य की सीमा दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। इसी प्रकार प्रत्येक सुयश सुख विजय और जीवन की सिद्धि की प्राप्ति मुझे सहज ही अपने-आप हो जाती है। यह सब उस भगवान् की कृपा है जिसकी रचना यह पूरी सृष्टि है। हम तो केवल धनुष के समान हैं जो डोरी के आधार पर झुका हुआ है और जिस पर किसी अन्य शक्ति की इच्छा से बाण चला करते हैं।

कहने का भाव यह है कि मनुष्य कर्ता नहीं कर्ता तो अन्य शक्ति (ईश्वर) है जिसके इशारे पर मनुष्य की सारी प्रवृत्ति निष्काम कर्मयोग कहलाती है।

मैं मनुष्य हूँ। कामना की वायु मेरे भीतर बहती है। वह वायु कभी प्राणों में सिहरन तथा पुलक जगाती हुई मन्द गति से बहती रहती है और कभी झंझा की भयानक गति को लेकर डालियों को मरोड़ती हुई बहती है। कहने का भाव यह है कि मनुष्य में काम-वासना कभी तो अल्प मात्रा में होती है और कभी बहुत अधिक मात्रा में होती है। काम-वासना का आधिक्य मन के

दीपक को बुझाकर हृदय को अंधकार से पूर्ण बना देता है अर्थात् इस अवस्था में मनुष्य में उचितानुचित का विचार नहीं रहता। तब काम-वासना मनुष्य के मन के दीपक को बुझाकर अर्थात् उसके ज्ञान को नष्ट करके उसके हृदय को अज्ञान के अंधकार से भर जाती है। लेकिन मनुष्य अज्ञान रूपी अन्धकार के शासन को स्वीकार नहीं करता। वह अज्ञान रूपी तिमिर से संघर्ष करता है और फिर ज्ञान के दीपक जल उठते हैं।

जब रूपों की—विविध सौन्दर्य की—आकुल तरंग हमको अपने वश में कर लेती है तो हम केवल उनमें डूबते ही नहीं, बल्कि उनके ऊपर तैरते भी हैं अर्थात् मनुष्य सदा सौन्दर्य में डूबा नहीं रहता, बल्कि वह कभी कभी उससे ऊपर भी उठता है। मनुष्य का जीवन उस कमल के समान है जो मिट्टी और जल में उत्पन्न होता है किन्तु फिर भी जल में डूबता नहीं बल्कि जल तथा कीचड़ दोनों से ऊपर उठा रहता है। इसी प्रकार मनुष्य का जीवन प्रेम और मधुमय है फिर भी वह इनमें हमेशा के लिए नहीं डूबता। वह यथासमय इनसे ऊपर भी उठ जाता है।

दूसरे इच्छाओं तक ही अनासक्ति सीमित नहीं है। अनासक्ति के कारण ही प्रेम में भी चोटी-बद्रुम पवित्रता आती है।

उर्वशी

बाहु में क्या   आता लो।

शब्दार्थ—बाहु-वलय=बाहु-पाश। प्रतिमा=मूर्ति। तिमिर-ग्रस्त=अज्ञान से पूर्ण।

अर्थ—महाराज पुरूरवा की ज्ञान मीमांसा को सुनकर उर्वशी कहती है कि आपके मुख से मैं ज्ञान और अज्ञान का भेद सुनकर आश्चर्य में डूब गई हूँ। मुझे ऐसा प्रतीत होता है जैसे मैं देवताओं के अंग से चल कर फिर से किसी देवता के बाहु-पाश में आकर फँस गई हूँ। मैं तो अंधकार की अज्ञान की मूर्ति हूँ। जब तक तुम्हारा हृदय अज्ञान से भरा हुआ रहेगा तभी तक तुम पर मेरा आधिपत्य रहेगा। और जिस दिन तुम ज्ञान का दीपक जला लोगे उस दिन तुम मुझे इसी प्रकार त्याग दोगे जिस प्रकार प्रभात में रात की शृंखला समाप्त हो जाती है।

कहने का भाव यह है कि नारी के प्रति मनुष्य की आसक्ति तभी तक रहती है, जब तक उसके मन पर अज्ञान का आवरण पड़ा रहता है। जब यह आवरण हट जाता है तो मनुष्य नारी को त्याग देता है।

विशेष—उपमा अलंकार।

यह विद्युन्मय ... घुल जाती हैं ?

शब्दार्थ—विद्युन्मय=बिजली के समान झकझोर देने वाला। जड़ता=अज्ञानता। निखिल=सब।

अर्थ—हे महाराज ! तुम यह समझते हो कि नारी का स्पर्श बिजली के समान झकझोर देने वाला अज्ञान है जिसे पाकर शरीर (त्वचा) की नींद टूट जाती है और रोमों में दीप जल उठते हैं अर्थात् नारी में सिहरन तथा पुलकन पैदा हो जाती है। आलिंगन उस अन्धकार के समान है जिसमें बँध जाने पर प्रकाश के महासागर में डूब जाते हैं और तुम यह भी कहोगे कि चुम्बन उस तिमिर धूम के समान है जिससे अज्ञानता की तन-मन की समस्त ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं।

यह भी कभी ... भय लगता है।

शब्दार्थ—मधुपूर्ण पुष्प=यौवन से भरी हुई युवती। देहधर्मी=शरीर धारी। फूलों के=रमणियों के।

अर्थ—यह भी कभी उलझन है कि देवता गन्धों के सूक्ष्म भावों के घेरे से निकल कर यौवन से भरी हुई युवतियों का चुम्बन नहीं ले सकते और इसके लिए वे सदा ललचाते रहते हैं। इसके विपरीत शरीरधारी मनुष्य रमणियों के आलिंगन को छोड़कर सूक्ष्म भावों के आकाश में उड़ जाने के लिए ललचाते रहते हैं। कहने का भाव यह है कि देवों का प्रेम सूक्ष्म होता है और मनुष्य का स्थूल। देव स्थूल प्रेम के लिए ललचाते रहते हैं और मनुष्य स्थूल को छोड़कर सूक्ष्म के लिए प्रयत्न करते हैं। चाहे तुम यह मान लो कि मनःशक्ति के द्वारा भी प्रेम में पवित्रता आती है किन्तु तुम में मानव-मन की इस दिशा की झाँकी देखकर मुझे न जाने क्यों भय लगने लगा है ?

तन से ... सुनते हो ।

शब्दार्थ—विपन्न=दुःखी । पीयूष=अमृत ।

अर्थ—तुम शरीर से तो मुझे अपने दृढ़ आलिंगन में कसे हुए हो किन्तु मन से दुःखी होकर तुम न जाने मुझसे दूर होकर कहाँ चले जाते हो ? तुम आँखों से आँखों में प्रेम का अमृत बरसा कर मुझे देखते हुए न जाने कहाँ जाकर खो जाते हो । कभी-कभी मुझे ऐसा अनुभव होता है कि मैं तुमसे जो कुछ कहती हूँ उसका आशय तुम्हारे लिए कुछ नहीं होता तुम केवल मेरे शब्दों को सुनते रहते हो ।

क्षण में प्रेम अपार ... कोई कविता हूँ ।

शब्दार्थ—अपार=अपार । आलोड़न में=ज्वार भाटे में । उत्फुल्ल=... लिखी हुई ।

अर्थ—एक क्षण में तो तुम्हारा प्रेम ज्वार भाटे में समुद्र की तरह अपार हो जाता है और क्षण में ही उसमें इतनी शिथिल शांति आ जाती है, जिसमें पुतलों के पत्र तक भी नहीं हिलते । अभी तक तुम्हारी दृष्टि मुझे देखकर इतनी खिली हुई और प्रसन्नता से भरी हुई होती है कि जैसे मेरा तुम्हारा युग-युगों से परिचय हो और अभी यह भाव तुम्हारे मन में आ जाता है जैसे मैं तुम्हारी गोद में पड़ी हुई कोई युवती नारी नहीं बल्कि कोई भावना की कविता हूँ ।

विशेष—उपमा अलंकार ।

अमित वह्नि ... जीने देता है ।

शब्दार्थ—अमित वह्नि=शांत आग । ज्वलन्त=जलते हुए ।

अर्थ—देवताओं की प्रेम की शांत आग तो शांत है ही किन्तु मनुष्य के जलते हुए प्रेम पर न जाने किसका अंकुश लटक रहा है जो निर्भय रूप से उस जीवन का रस छककर नहीं पीने देता और न देवताओं के समान ऊँचे मन के आकाश में जीने ही देता है ।

कहने का भाव यह है कि प्रेम-जगत में मनुष्य की दशा बड़ी ही विचित्र है । वह न तो देवताओं की भाँति सूक्ष्म प्यार पर ही निर्भर रह सकता है और न झुककर स्थूल प्रेम ही कर सकता है ।

पुरूरवा

कौन हूँ मनुज ... निरन्तर भागती हूँ।

शब्दार्थ—तृषा=प्यास।

अर्थ—मनुष्य के प्रेम पर किसका अंकुश लगा हुआ है इसे तो मैं भी नहीं पहिचानता किन्तु इतना अवश्य जानता हूँ कि सरोवर के किनारे कंठ में एक प्रकार की प्यास—वेदना—लगी हुई है अर्थात् यह बड़ा ही दुर्भाग्य का विषय है कि साधन होने पर भी साध्य सिद्ध नहीं हो रहा है। मैं जानता हूँ कि मनुष्य के जीवन में कोई ऐसी प्यास लगी हुई है जो न तो शान्त ही होती है और न बुझकर आदमी को बैठने ही देती है बल्कि जलकर बेचने से वह निरन्तर दूर भागती रहती है।

विशेष—विशेषोक्ति अलंकार।

रूप का रसमय ... उद्भ्रान्त हूँगी।

शब्दार्थ—रूप का=यौवन का। रसमय=आनंदपूर्ण। वन्हि=आग। उद्भ्रान्त हूँगी=भटकूँगी।

अर्थ—मेरी समझ में नहीं आता कि यह यौवन का आनन्दपूर्ण निमंत्रण है अथवा मेरे ही खून की आग है जो मुझे शांति से नहीं जीने देती। वह हर समय मुझसे कहती रहती है कि उठो और इस चन्द्रमा को हाथ से पकड़ कर निचोड़ लो। चन्द्रमा का अमृत-पान कर लो तभी मैं शान्त हूँगी और कभी भी आगे नहीं भटकूँगी।

किन्तु रस के पात्र ... आलिंगन नहीं हैं।

शब्दार्थ—अधर=होंठ। पेय=पीने का पदार्थ। रक्त=शरीर।

अर्थ—लेकिन ज्योंही मैं रस के पात्र को अपने होठों से लगाता हूँ और घूँट या दो घूँट पीता हूँ तभी न जाने हृदय के किस कोने से मुझे यह आवाज सुनाई देती है कि हे पुरूरवा! तू अभी तक भी नहीं समझा कि जो सौन्दर्य केवल दृष्टि का पेय पदार्थ है अर्थात् जो केवल निहारने के लिए है वह शरीर का भोजन—स्पर्श का विषय—नहीं है। आलिंगन करना सौन्दर्य की पूजा करना नहीं है। भाव यह है कि सौन्दर्य का उपभोग केवल आँखों से करना चाहिए शरीर-स्पर्श से नहीं।

विशेष—यही भाव पंतजी की इस पंक्ति में निहित है—

'Beauty is to see not to touch.

दूब गिरती हैं   और क्या है ?

शब्दार्थ—अनिमिष=आश्चर्य-चकित होकर। उद्विग्न—आकुलता से भरा हुआ। पृच्छा=प्रश्न। चिरन्तन=पुराना।

अर्थ—इस प्रश्न को सुनकर मेरी सारी उमंगें नष्ट हो जाती हैं और मेरी बाहुओं का पाश ढीला हो जाता है। फिर मैं आश्चर्य चकित होकर उसी दुर्गम सागर में डूब जाता हूं। मेरे मन में फिर से वही आकुलता से भरा हुआ चिन्तन आरम्भ हो जाता है वही पुराना प्रश्न सामने आ जाता है—यदि रूप की आराधना का मार्ग आलिंगन नहीं तो और क्या है ? रस-चुम्बन यदि प्रेम का सौन्दर्य के लिए उपहार नहीं तो वह और क्या है ? कहने का भाव यह है कि यदि प्रेम की चरम-परिणति आलिंगन नहीं है, शरीर का स्थूल भोग नहीं है तो और क्या है ?

रक्त की उत्तप्त   पहचान लूं।

शब्दार्थ—रक्त=खून। उत्तप्त=गर्म। परिधि=सीमा। व्योम=आकाश। रेख=रेखा।

अर्थ—खून की गर्म लहरों की सीमा के पार अर्थात् उत्तेजना के अतिरिक्त यदि कहीं कोई सत्य है तो मैं चाहता हूं कि उसके भेद का पता लगा लूं। सौन्दर्य की पूजा का मार्ग यदि आकाश में भी है तो मैं वहां से ही उसकी सूनी रेखा को पहचानना चाहता हूं। कहने का भाव यह है कि मैं यह जानना चाहता हूं कि प्रेम की पूजा का क्या मार्ग है। फिर वह मार्ग चाहे कितना कठिन हो मैं अवश्य उसको प्राप्त करके रहूंगा।

पर वहीं तक   उत्तर नहीं है।

शब्दार्थ—मृत्ति=मिट्टी मर्त्यलोक का प्राणी। महदाकाश=विशाल आकाश।

अर्थ—लेकिन चाहे जहां तक मैं उड़ूं इस प्रश्न का कि सौन्दर्य की आराधना का मार्ग क्या है, कोई उत्तर नहीं है। मिट्टी—संसार का प्राणी—

आखिर विशाल आकाश में कब तक ठहर सकता है ? उसके लिए तो सब शून्य ही शून्य है और इस मर्त्यलोक में भी सन्तोष नहीं होता, क्योंकि सांसारिक प्राणी के मन से मंगलमय की कल्पनाएँ उड़ानें कभी दूर नहीं होतीं।

इस व्यथा को ... लौट आता।

शब्दार्थ—निस्सीमता में=असीमता में। विभ्रांत=भटका हुआ। श्रवस्=कान।

अर्थ—आकाश की इस असीमता में इस पीड़ा को सहन करता हुआ मैं विकल और भटककर घूमता हूँ लेकिन कुछ भी प्राप्त नहीं होता। मेरे मन में जो प्रश्न उत्पन्न होता है वह सब ओर से गगन के सूनेपन में घूमकर भी वापिस मेरे कानों में लौट आता है।

और इतने में ... स्वच्छन्द मिलते हैं।

शब्दार्थ—हरित=हरा। कंटकित=रोमांचित।

अर्थ—और इतने में पृथ्वी का यह गीत सुनाई देता है कि पृथ्वी पर भी ऐसा संसार बसा हुआ है जहाँ पर फूल खिलते हैं। हमारे देवता की शैया हरी-हरी दूब है और यहीं पर फूलों के वे कुंज मंदिर हैं जहाँ प्रकृति के शीतल हरे और एकान्त मंडप में रोमांचित युवती और युवक निर्बंध होकर आपस में मिलते हैं।

इन कपोलों की ... ढली सी ?

शब्दार्थ—ललाई=लालिमा। चंपक-यष्टि-सी=चम्पा की लता के समान। श्लथ=शिथिल। पुष्पाभरण=फूलों के गहने।

अर्थ—पृथ्वी के गीत में मुझे यह भी सुनाई पड़ता है कि इन कपोलों की लाली देखते हो ? इन अधरों की कुन्द-सी जूही की कली के समान हँसी देखते हो ? इस गोरी चम्पा की लता के समान फूलों के गहनों के भार से शिथिल हुई तथा कला के स्वप्न के सांचे में ढली हुई-सी सोने की मूर्ति के समान इस देह को देखते हो ?

शिल्प—उपमा अलंकार।

यह तुम्हारी कल्पना ... शृंगार कर लो।

शब्दार्थ—रूपसी=रूपवती। मधुमास=बसन्त ऋतु। कर्पूर=कपूर।

कुंकुम=केसर रोली। कुञ्ज=ढेर को।

अर्थ—पृथ्वी के गीत में मुझे यह सुनाई पड़ता है कि जैसे मेरे लिए सम्बोधित करके कहा जा रहा है कि यह तुम्हारी कल्पना है। अपनी कल्पना को छोड़ो नहीं बल्कि प्यार से समाप्त कर रक्खो। रूपवती नारी इस सृष्टि का सबसे मनोहर चित्र है। ओ आकाश में विचरण करने वाले! यहाँ पृथ्वी पर वसन्त ऋतु की छाया है। इसलिये महदाकाश की कल्पना छोड़कर भूमि पर उतरो और कमल कपूर केसर तथा कस्तूरी से इस अपार सौन्दर्य का शृंगार कर लो।

गीत आता है   पड़ते त्वचा में।

शब्दार्थ—मदिर=मादक। उन्माद=हर्ष। तरंगित=यौवन की लहरों से भरे हुए। स्वर्णवर्णा=सोने के समान रंगवाली। वल्लरी=लता। त्वचा=चाम यहाँ शरीर से तात्पर्य है।

अर्थ—मुझे यह ज्ञान नहीं होता कि यह गीत पृथ्वी से फूटता है या मेरे ही मन का गीत आकाश में गूंजने लगता है। इस गीत के सुनते ही हृदय में बुलबुलों के समान मधुर स्मृतियां फूटने लगती हैं। मादक रूप में फूला हुआ वन याद आ जाता है। अंग के रोमांच और कंपन याद आने लगते हैं और सोने के समान रंग वाली लता में फूल की भांति खिलते हुए मुख का स्मरण हो आता है तथा रात्रि की गहनता में उन्माद का सुख याद आने लगता है।' तब कामनाएं प्राणों को झकझोरने लगती हैं और शरीर में चुम्बनों के चिन्ह उभर आते हैं।

फिर किसी का   याद में।

शब्दार्थ—तृण=घास। पिपासित=प्यासा। कुंठित=निर्बाध।

अर्थ—इस प्रकार की घटनाओं की याद आते ही मेरे मन की प्यास फिर किसी का स्पर्श पाने के लिये चीत्कार कर उठती है। लेकिन मैं कहीं भी तो नहीं रुक पाता और शून्य से साकार छाया के भुवन में प्यासा ही लौट आता हूँ। युद्ध से भागे हुए बरछा से विहीन उस युवक की भांति जो कहीं भी नहीं रुकता बल्कि निर्मम गति से बर्बर होकर सीधा तीर की भांति अपनी प्रिया की गोद में जा गिरता है।

विशेष—उपमा अलंकार।

चूमता हूं ... डूब जाता हूं।

शब्दार्थ—प्रसूनों को=फूलों को। पल्लवों को=पत्तों को। वल्लरी=बेल। निस्तब्धता=खामोशी।

अर्थ—तब मैं भावावेश में आकर दूब को वन को फूलों को पत्तों को चूमता हूं और लता को बांह में भर कर हृदय से लगाता हूं। फिर बालकों की तरह तुम्हारे वक्ष में अपना मुंह छिपाकर मैं नींद की खामोशी में डूब जाता हूं।

नींद जल का ... जलना पड़ा हो।

शब्दार्थ—स्रोत=झरना। श्यामल=काला। वर्तिका-सी=बत्ती के समान।

अर्थ—नींद पानी का झरना गहरी छाया काला मेघ और शीतल पवन के समान है। लेकिन जब मैं जग जाता हूं तो देखता हूं कि मेरी इच्छाएं बत्ती के समान जल रही हैं और वे अभी भी प्यास से व्याकुल होकर उसी प्रकार जल रही हैं जैसे पहले भी वे प्यास से व्याकुल थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उन्हें रात भर दीपक के समान जलना पड़ा हो या नींद में उन्हें किसी मरुदेश में चलना पड़ा हो।

विशेष—उल्लेख उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकार।

फिर क्षुधित ... डूब जाती है।

शब्दार्थ—क्षुधित=भूखा।

अर्थ—फिर कोई भूखा अतिथि (मन से तात्पर्य है) आवाज देता है अर्थात् मन में उत्तेजना आ जाती है और फिर चुम्बन के लिए अधर अधर को खोजने लगते हैं। फिर कामना शरीर को छूकर जागृत कर देती है और खून में सोये के सैकड़ों सांप रेंगने लगते हैं। तब चेतना रस की लहर में डूब जाती है।

और तब सहसा ... सप्रीत चूमता हूं।

शब्दार्थ—भुज=बांह। अपलक=निर्निमेष दृष्टि से। उद्गम=उत्पत्ति का स्थान। वीचियों से=लहरों से।

अर्थ—हे सर्वेश्री ! और तब न जाने कि सहसा मेरा ध्यान कहाँ पर खो जाता है। यह सत्य है कि उस समय मुझे यह ध्यान नहीं रहता कि तुम कविता हो, कामिनी हो या कुसुम हो। मैं तुम्हें भारती की ज्योति के समान अपनी भुजाओं में लपेट कर एकाग्र मन से तथा निर्निमेष दृष्टि से देखता रहता हूँ और तुम्हारे अगम्य रूप की उत्पत्ति के स्थान के विषय में सोच विचार करता हूँ। तुम्हारे साँसों में सुगन्धि, रूप में सर्वात्म भरा हुआ है। तुम्हारी साँसों से निकली हुई लहर की भीनी सुगन्धि से मैं अपने प्राणों को सींचता हूँ और अंगों की शोभा की लहरों से एकरूप होकर तुम्हारे रंग का संगीत सुना करता हूँ।

और फिर यह बहला रही हूँ ?

शब्दार्थ—भारती=अप्सरा। अंक=गोद।

अर्थ—तुम्हारे रूप रंग में स्वयं को भुलाकर मैं फिर यह सोचने लगता हूँ कि न जाने इस समय मैं किस लोक में हूँ। यह सघन हरियालियों का वन कौन है जिसमें मूलत हुए फूल तथा लचकती हुई डालियाँ हैं ? यह देश कौन है जिसकी स्वामिनी मुझे निरन्तर शराब की धारा से नहलाती है; अर्थात् मुझे सदैव मन्त्रोन्मत्त बनाये रखती है ? यह जगत कौन है जिसमें अपनी गोद में ज्वालामुखी को समेट कर चाँदनी पुचकार बहला रही है ?

कौमुदी के इस रहा हूँ ?

शब्दार्थ—कौमुदी=चाँदनी। उड्डीन=उड़ान। प्रभंजन=तूफान। उद्दाम=प्रबल। संबल=सहारा।

अर्थ—जब मैं चाँदनी के इस सुनहले जाल का बन सोचता हूँ तो मुझे इसके प्रति ऐसा आकर्षण होता है कि मैं एक पल के लिए इसमें उड़ान भरने के लिये अपने पंखों का खोल लेता हूँ। लेकिन तूफान इस प्रकार के रस आमोद में बाधक होता है इसलिए मैं उसकी बाधा के कारण उड़ नहीं पाता और लौटकर फूल की गोद में गिर पड़ता हूँ। विस्मयों का दाम तोड़े से नहीं टूटता और फूलों की जो लड़ी बँध जाती है वह फिर खोले से नहीं खुला करती। कामनाओं के झोंके मेरी राह रोकते रहते हैं और प्यास (काम-प्यास)

मेरी बांह पकड़ कर मुझे पीछे की ओर खींच लेती है। सागर की तरह से प्रबल मेरा बल भी नहीं है। जिस शक्ति का जय जयकार हर जगह गूंजता रहता है उस अटल शक्ति का सहारा कहां है ?

यह शिला-सा ... बजाता हूं।

शब्दार्थ—वक्ष=छाती। आलोक=ज्योति प्रकाश। समुन्नत=उभरा हुआ। व्याल=सर्प। मारुत=पवन। तूर्य=विजय-वाद्य। पावक=आग। स्यन्दन=रथ।

अर्थ—मेरी छाती शिला के समान कठोर है, मेरी भुजाएं चट्टान के समान हैं। मेरा उभरा हुआ भाल सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होता है। मेरे प्राणों का सागर अगम उत्ताल और निरन्तर छलकने वाला है। मेरे सामने सिंह नहीं ठहरते। मेरे भय से पर्वत हिलने लगते हैं। काल रूपी सर्प फुंकारी मारकर कांपने लगता है। मेरी भुजाओं में पवन गरुड़ और गजराज का बल है।

मैं मर्त्यलोक के निवासी मानव की विजय का तूर्यनाद हूं। हे उर्वशी! मैं अपने समय का सूर्य हूं। मैं अन्धकार के मस्तक पर अग्नि जलाता हूं और बादलों के सिरों पर रथ चलाता हूं।

कहने का भाव यह है कि मुझमें अपार शक्ति है।

पर न जाने ... मुसकान से।

शब्दार्थ—आयुध=शस्त्र। कुसुम=नारी-सौन्दर्य। वंकिम=तिरछे।

अर्थ—लेकिन मेरी समझ में यह नहीं आता कि यह क्या बात है कि जो पुरुष (मैं) इन्द्र के शस्त्र के कठिन प्रहार को झेल सकता है सिंह से बाँहें मिला कर खेल सकता है वही नारी-सौन्दर्य के आगे असहाय हो जाता है। और अपार शक्ति के रहते हुए भी निरुपाय हो जाता है। वह तिरछे नयनों के बाणों से आसानी से बिंध जाता है और रूपवती नारी उसे अपनी मुस्कान से जीत लेती है।

मैं तुम्हारे बाण ... चाहता हूं।

शब्दार्थ—खग=पक्षी। सर=तालाब।

अर्थ—मैं तुम्हारे बाण के द्वारा बिंधा हुआ पक्षी हूँ इसलिए तुम्हारे ही धनु पर अपना शीश रखकर मरना चाहता हूँ। मैं तुम्हारे हाथ का लीला कमल हूँ इसलिए मेरी इच्छा है कि मैं तुम्हारे प्राणों के तालाब में उतर जाऊं।

कौन कहता है   पाते हैं।

शब्दार्थ—वलय=पाश। गात=शरीर। दाम=फंदा।

अर्थ—यह सब झूठ है कि मैं तुम्हें छोड़कर आकाश में विचरण करूंगा। वास्तविकता तो यह है कि तुम्हारी भुजाओं के इस पाश में केवल मेरी देह ही नहीं सोती बल्कि मेरे व्यग्र और व्याकुल प्राणों को भी यहां विश्राम मिलता है।

मर्त्य नर को   गार हूँ।

शब्दार्थ—मर्त्य=नश्वर। मृषा=झूठ। घूर्णियां=लपटें। वह्नि=आग। अनल=आग।

अर्थ—नश्वर मनुष्य को देवता कहना झूठ है क्योंकि देवता तो शीतल होते हैं, जबकि मनुष्य दहकते हुए अंगारे के समान होता है। देवताओं की नदी में ताप की लहरें नहीं उठा करतीं जबकि मनुष्य के खून में ज्वालामुखी सुलगा करता है, चिनगारियों की लपटें आया करती हैं। हवा में पत्तों से आग के टुकड़े नाच-नाचकर उड़ा करते हैं। आदमियों का मन आग की धार के समान होता है जो जलता और पिघलता रहता है।

चाहिए देवत्व   उत्तर नहीं है।

शब्दार्थ—विसर्जित करना=छोड़ना। व्योम=आकाश।

अर्थ—यह सच है कि मैं भी देवत्व चाहता हूं किन्तु मुझमें जो मानव सुलभ आग है उसे कहां पर रख दूं। कामनाओं को किस आकाश में त्याग कर रख दूं। बताओ तो सही कि आग का यह रस-कोष मुझसे कौन ग्रहण करेगा और कौन मेरी आग के बदले मुझे सन्तोष देगा? मेरे इन प्रश्नों को सुनकर दिशाएं फिर से मौन हो गई हैं और फिर उनके पास इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है।

प्राण को जलते रहो।

शब्दार्थ—वह्नि=आग।

अर्थ—प्राण की इस चिर-संगिनी आग को साथ लेकर भूमि से आकाश तक जलते रहो। इस मर्त्यलोक के प्राणी का यह कैसा दुर्भाग्य है कि जब तक उसे प्रेम की धारा नहीं मिलती तब तक वह अपनी ही आग में जलता रहता है। कहने का भाव यह है कि मनुष्य को जब तक मनचाहा प्रेम नहीं मिलता तब तक वह अत्यन्त वेदना से छटपटाता रहता है।

एक हो आशा तुम्हारी बाँह है।

शब्दार्थ—सजल=जल से भरी हुई। कादम्बिनी=मेघमाला। ग्रीव=ग्रीवा गर्दन।

अर्थ—ओ पानी से भरी हुई मेघमाला! इस मरुस्थल की तपन में केवल एक ही आशा है और वह मेरे सिर पर तुम्हारी छाया है अर्थात् इस जीवन के दुखों से छुटकारा पाने के लिए तुम्हारे सहारे के अतिरिक्त मेरी और कोई आशा नहीं है। केवल एक ही स्थान पर मुझे सुख मिलता है और वह स्थान है तुम्हारे उर-स्थल से लगना अथवा अपनी गर्दन के नीचे तुम्हारी बाँह का होना।

इन प्रफुल्लित जाना चाहता हूँ।

शब्दार्थ—प्रफुल्लित=खिले हुए, प्रसन्न। षट्पद=भ्रमर।

अर्थ—हे उर्वशी! अपने फूलों के समान खिले हुए प्राणों में तुम मुझे भ्रमर धारण करो क्योंकि मैं गन्ध के लोक से बाहर जाना नहीं चाहता। मैं चाहता हूँ कि तुम्हारे रक्त के कणों में समा जाऊं और आवेगों के बीच जाऊं।

उर्वशी

स्वर्गंगी सत्य ही स्पन्दन तेरा।

शब्दार्थ—ऊर्मियाँ=लहरें। खर=प्रखर प्रबल। ताप=गर्मी। परिताप=दुख। चटुल=चपल। कातर=दुखी। वैश्वानर=अग्नि। स्पन्दन=रव।

अर्थ—उर्वशी महाराज पुरुरवा को सम्बोधित करते हुए कहती है कि निश्चित रूप से वह स्वर्गों का सत्य है जिसमें लहरें नहीं होतीं और प्रखर गर्मी नहीं होती। वही यथार्थ रूप में देवता है जिसके मन में कामना द्वन्द्व और दुःख नहीं होते। हे जीवन के चंचल मेघ! तू क्यों इतना दुःखी हो रहा है। तू तभी तक पुरुष है जब तक तेरे भीतर प्रेम की आग जल रही है।

जब तक यह आग शेष है तभी तक त्रिभुवन तेरा सखा है और तभी तक तेरा रथ पृथ्वी को छोड़कर बादलों के ऊपर चलता है।

जब तक यह   चुम्बन पाने को।

शब्दार्थ—समादर=आदर। अरण्यानी=वन। प्रांशु=ऊँचा।

अर्थ—हे मनुष्य! जब तक तेरे जीवन में प्रेम की आग शेष है तभी तक सागर उसका आदर करता है और अपना समस्त मणि और रत्नों का खजाना उसे समर्पित करता है। तभी तक घर उसका मार्ग नहीं रोकते तथा वन अपने बीच में उसके लिए रास्ता छोड़ देते हैं। तभी तक सामने खड़े हुए अधिकारी तथा ऊँचे पर्वत उसे सिर झुकाते हैं। तब तक ही इन्द्र भी सावधान होकर उसे अपनाने के लिए तैयार रहते हैं और तभी तक उसके अधरों का चुम्बन प्राप्त करने के लिए स्वर्ग से उसके पास अप्सराएं आती हैं।

जब तक यह   घिर जाती हूं।

शब्दार्थ—द्वन्द्व=संघर्ष। फुल्ल प्रसूनों के=खिले हुए फूलों के। देवालय=मंदिर अथवा स्वर्गलोक।

अर्थ—हे मनुष्य! जब तक तेरे मन में प्रेम की आग शेष है तभी तक तेरे मन में संघर्ष के भाव उठते हैं। तभी तक बारी-बारी से पृथ्वी और आकाश—भूलोक तथा स्वर्गलोक—सुन्दर दिखाई देते हैं। खिले हुए फूलों के वन में तभी तक मरघट की याद आती है सूने मरघट को देखकर तभी तक मन में चमेली और जूही की कल्पना साकार हो उठती है। देवालय में तभी तक तुझे देह की याद आती है और तभी तक शयनकक्ष में देवता की मूर्ति मन में बसती है।

प्राण की ... जलते रहो ।

शब्दार्थ—वह्नि=आग ।

अर्थ—प्राण की इस चिर-संगिनी आग को साथ लेकर भूमि से आकाश तक जलते रहो । इस मर्त्यलोक के प्राणी का यह कैसा दुर्भाग्य है कि जब तक उसे प्रेम की धारा नहीं मिलती तब तक वह अपनी ही आग में जलता रहता है । कहने का भाव यह है कि मनुष्य को जब तक मनचाहा प्रेम नहीं मिलता तब तक वह अत्यन्त वेदना से छटपटाता रहता है ।

एक ही आशा ... तुम्हारी बाँह है ।

शब्दार्थ—सजल=जल से भरी हुई । कादम्बिनी=मेघमाला । ग्रीव=ग्रीवा गर्दन ।

अर्थ—ओ पानी से भरी हुई मेघमाला ! इस मरुस्थल की तपन में केवल एक ही आशा है और वह मेरे सिर पर तुम्हारी छाया है अर्थात् इस जीवन के दुःखों से छुटकारा पाने के लिए तुम्हारे सहारे के अतिरिक्त मेरी और कोई आशा नहीं है । केवल एक ही स्थान पर मुझे सुख मिलता है और वह स्थान है तुम्हारे उर-स्थल से लगना अथवा अपनी गर्दन के नीचे तुम्हारी बाँह का होना ।

इन प्रफुल्लित ... जाना चाहता हूँ ।

शब्दार्थ—प्रफुल्लित=खिले हुए, प्रसन्न । शाश्वत=अमर ।

अर्थ—हे उर्वशी ! अपने फूलों के समान खिले हुए प्राणों में तुम मुझे अमर वरण दो क्योंकि मैं गन्ध के लोक से बाहर जाना नहीं चाहता । मैं चाहता हूँ कि तुम्हारे रक्त के कणों में समा जाऊं और प्रार्थना के गीत गाऊं ।

उर्वशी

स्वर्गंगी सत्य हो ... स्पन्दन तेरा ।

शब्दार्थ—उर्मियाँ=लहरें । ज्वार=प्रखर प्रवाह । ताप=गर्मी । परिताप=दुःख । चटुल=चंचल । कातर=दुःखी । वैश्वानर=अग्नि । स्यन्दन=रथ ।

अर्थ—उर्वशी महाराज पुरूरवा को सम्बोधित करते हुए कहती है कि निश्चित रूप से यह स्वप्नपुरी सत्य है जिसमें लहरें नहीं होतीं और प्रकार भी नहीं होती। वही यथार्थ रूप में देखता है जिसके मन में कामना तथा और दुःख नहीं होता। हे जीवन के चंचल प्रेम ! तू क्यों इतना दुःखी हो रहा है। तू तभी तक पुरुष है जब तक तेरे भीतर प्रेम की आग जल रही है।

जब तक यह आग शेष है तभी तक त्रिभुवन तेरा अपना है और तभी तक तेरा रथ पृथ्वी को छोड़कर बादलों के ऊपर चलता है।

जब तक यह   चुम्बन पाने को।

शब्दार्थ—रत्नाकर=सागर। अरण्यानी=वन। प्रांशु=ऊँचा।

अर्थ—हे मनुष्य ! जब तक तेरे जीवन में प्रेम की आग शेष है तभी तक सागर उसका आदर करता है और अपना समस्त मणि और रत्नों का खजाना उसे समर्पित करता है। तभी तक वन उसका मार्ग नहीं रोकते तथा वन सघन बीच में उसके लिए रास्ता छोड़ देते हैं। तभी तक सामने खड़े हुए अधिकारी तथा ऊँचे पर्वत उसे सिर झुकाते हैं। तब तक ही इन्द्र भी सावधान होकर उसे अपनाने के लिए तैयार रहते हैं और तभी तक उसके अधरों का चुम्बन प्राप्त करने के लिए स्वर्ग से उसके पास अप्सराएं आती हैं।

जब तक यह   घिर जाती है।

शब्दार्थ—द्वन्द्व=संघर्ष। कुसुम प्रसूनों के=खिले हुए फूलों के। देवालय=मंदिर अथवा स्वर्गलोक।

अर्थ—हे मनुष्य ! जब तक तेरे मन में प्रेम की आग शेष है तभी तक तेरे मन में संघर्ष के भाव उठते हैं। तभी तक बारी-बारी से पृथ्वी और आकाश—भूलोक तथा स्वर्गलोक—सुन्दर दिखाई देते हैं। खिले हुए फूलों के वन में तभी तक मरघट की याद आती है शून्य अम्बर को देखकर तभी तक मन में चांदनी और जूही की कल्पना साकार हो उठती है। देवालय में तभी तक तुझे सेज की याद आती है और तभी तक शयनकक्ष में देवता की मूर्ति मन में बसती है।

किल्बिष के मल ... पीने आयी।

शब्दार्थ—किल्बिष=पाप। मल=कलंक। शुभ्र=पवित्र। अनल-
=आग का प्रवाह। शोणित=खून। मधुर=हल्का।

अर्थ—यह प्रेम की शिखा केवल पवित्र आग है इसमें तनिक भी
का कलंक नहीं। यही आग मुझे प्रति क्षण जलाकर और अधिक उज्ज्वल
जा रही है। इस आग का प्रखर प्रवाह जितना अधिक मेरे खून में उठ
है उतना ही अधिक मेरा हल्का यौवन दीप्त होकर जलता है। मैं इसी
वेदना की सिहरन को प्राप्त करने के लिए तथा मधुमयी गन्ध पीने के
निर्जीव स्वर्गलोक को छोड़कर इस भूमि पर इसी आग को लिए पीने के
आई हूं।

तुम जाय ... कहां पाये ?

शब्दार्थ—भूमि का अनल=मर्त्यलोक की प्रेम की आग। दीप्ति=ज्वा

अर्थ—उर्वशी महाराज पुरूरवा को समझाती हुई कहती है कि
महाराज! तुम यह चाहते हो कि मर्त्यलोक की प्रेम की आग तुम जाने
बात का तथा स्वर्गलोक का तुमको ध्यान नहीं करना चाहिए। यही
जो तुम्हें प्रकाश से भरती है, इसलिए तुम्हें इस आग का अपमान नहीं क
चाहिए। तुम इस आग के स्वरूप को नहीं समझ सके हो। इस प्रेम
आग में जिस वस्तु का जन्म होता है वह देवता तो क्या इन्द्र के भाग्य
में भी कभी प्राप्त नहीं होती। इस प्रेम के कारण मेरे मन में जो विभ
व्यग्रता विह्वलता तथा हर्ष के विविध भाव आ रहे हैं वे देवताओं
सुन्दरियों को कभी नहीं मिल सकते। स्वर्गलोक में रहने वाली अप्सरा
हुए खून का मधुर स्पर्श पा भी कहां सकती है ?

वे रक्तहीन ... करने वाला।

शब्दार्थ—रक्त-हीन=खून से रहित अर्थात् निर्जीव से। शुचि=पवि
अम्बरपुर=स्वर्गलोक। लोहित=लाल खून से भरे। कंदर्प=कामदे
ललित=सुन्दर।

अर्थ—देवताओं और मनुष्यों की पारस्परिक तुलना करती हुई उर्व
महाराज पुरूरवा से कहती है कि हे महाराज! देवता निर्जीव-से पवि

अन्य स्वर्ग के फूल शीतल तथा सुन्दर अवश्य होते हैं किन्तु उनके स्वप्न मोहित सतप्त और प्रखर होते हैं अतः उन्हें हम किस प्रकार प्रेम का दान दें। इसके विपरीत, मनुष्यों में एक ही साथ शीतलता और आग होती है। वे मन्दिर में साधक व्रती होते हैं तो पुष्पवन में सुन्दर कामदेव के समान होते हैं। वे योगी हैं जो अगम्य चिन्मय तथा अरूप ब्रह्म को साकार बनाने वाले होते हैं। वे ध्यानस्थ योगी बनकर रमणी के मुख पर अधीरता से चुम्बन अंकित करने वाले भी होते हैं।

कहने का भाव यह है कि मनुष्य देवताओं से प्रेम-जगत् में अत्यधिक श्रेष्ठ होते हैं। देवता केवल शीतलता के प्रतीक हैं जबकि मनुष्यों में सम तथा विषम सभी प्रकार के गुण उपलब्ध होते हैं।

मन की असीमता'   क्षर-अक्षर भी है।

शब्दार्थ—निबद्ध=बँधे हुए। रसस्विनी=प्रेम नदी। अमृतनंदन=अमृत के समान आनन्द देने वाला। जल अनल=पानी और आग। मृत्ति महदम्बर=मिट्टी और विशाल आकाश। क्षर-अक्षर=नश्वर तथा अमर।

अर्थ—मनुष्य के मन की असीमता में नक्षत्र पिंड गृह और दिशा तथा आकाश बँधे हुए हैं। तन में प्रेम की नदी की धारा बहती है जिसमें मिट्टी की सुन्दर और सौंधी सुगंधि बसी हुई है। मानव मानव ही नहीं बल्कि आनन्द देने वाला वह एक अमर देव भी है। वह एक ही साथ पानी आग, मिट्टी और विशाल आकाश तथा नश्वर और अमर भी है।

तू मनुज नहीं   खो जाऊँ।

शब्दार्थ—कान्ति=शोभा। विटपों के=वृक्षों के। महीध=पर्वत।

अर्थ—तू मनुष्य नहीं देवता है इसलिए अपनी शोभा से मुझे मंत्र मोहित कर ले (क्योंकि देवता मन्त्रों से ही मोहित करते हैं) फिर मनुष्य रूप धारण करके और मुझे उठाकर अपने गाढ़े आलिंगन में भर ले। तुम्हारी भुजा रूपी दो वृक्षों के बीच झुककर मैं छोटी-सी बेल के समान सो जाऊँ और छोटी लहर के समान टूटकर तुम्हारे हृदय के पर्वत में खो जाऊँ।

कहने का भाव यह है कि मैं तुम्हारे बाहु-पाश में बँधकर अपने को भूल जाऊँ।

विशेष—अपन्हुति और उपमा अलंकार।

आ मेरे प्यारे ... सुधा पिलाऊँगी।

शब्दार्थ—तृषित=प्यासा। श्रान्त=थका हुआ। मन्स-सर=मन रूपी तालाब। मज्जित करके=स्नान कराके।

अर्थ—उर्वशी राजा पुरूरवा को सम्बोधित करते हुए कहती है कि हे मेरे प्रेम-प्यास से प्यासे प्रियतम! तुम थके हुए हो इसलिए मैं तुम्हें अपने मन रूपी तालाब में स्नान कराके और चाँदनी तथा फूलों से सजा करके तुम्हारे मन की गर्मी (दुःख) को दूर कर दूँगी। मैं पानी से भरी हुई बदली बनकर तुम्हें चारों ओर से घेर कर तुम पर छा जाऊँगी और फूलों की छाया के नीचे अपने होठों का अमृत तुम्हें पिलाऊँगी।

कहने का भाव यह है कि मैं तुम्हारे सभी दुःखों का निवारण कर दूँगी।

पुरूरवा

तुम मेरे बहुरंगे ... उक्तियों से भी।

शब्दार्थ—मणि-कुट्टित=मणि से काटी अथवा पीसी गई। द्युति=शोभा। भंगिमा-लहर=हाव भावों की लहर। किलकिंचित=संयोग शृंगार का एक भाव जिसमें नायिका एक बार में कई भाव प्रकट करती है।

अर्थ—राजा पुरूरवा उर्वशी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे उर्वशी! तुम मेरे बहुरंगे स्वप्नों की मणि से पीसी गई मूर्ति हो। तुम केवल अपने तन की अत्यधिक शोभा से ही मेरे मन को नहीं हरती हो बल्कि गति (चाल) में हाव भावों की लहर से, अपने मधुर स्वर से, अनेक प्रकार के भावों से गूढ़ दर्शन-चिन्तन से भरी हुई उक्तियों से भी मुझे अपनी ओर खींचती हो।

कहने का भाव यह है कि तुम केवल शरीर से ही सुन्दर नहीं हो, वरन् कामशास्त्र और दर्शनशास्त्र में भी पारंगत हो।

किन्तु पागल की   जा जाती है।

शब्दार्थ—प्रवाल=नव पल्लव। पाटल=कमल। आसुरी शक्ति=काम-वासना।

अर्थ—किन्तु मेरे मन में प्रेम की जो आग दहक रही है उसकी लपट को तुम्हारे शरीर का कोमल शान्त नहीं कर सकता। उस को केवल तुम्हारे ये दोनों नैन ही शान्त कर सकते हैं जिनके सुख असीम नील आकाश में प्रवेश करते ही—अर्थात् जिनमें झाँकते ही—मन के सारे द्विधा द्वन्द्व चिन्ता और भ्रम आदि तुरन्त नाश मिट जाते हैं। या नव पल्लव के समान चमकते हुए तुम्हारे ये अधर दूर कर सकते हैं जिनका चुम्बन मन ही सारी थकान मिट जाती है और भाग्य के कमल खिल उठते हैं तथा तन में फिर से अपार काम-वासना उमड़ पड़ती है।

किन्तु हाय री   ले जाती है।

शब्दार्थ—वह्नि=आग। अविच्छिन्न=अटूट। कर्पूरित=कपूर से भरा हुआ। निभृत=अकेला। निलय=स्थान।

अर्थ—किन्तु मनुष्य के शरीर में दौड़ती हुई आग की लहर जिसे खून कहते हैं और मनुष्य के मन की अटूट चेतना इन दोनों को ही धिक्कार है क्योंकि इनके कपूर से भरे हुए पागल बना देने वाले सुन्दर और रंगीन कुए में ये जाने मनुष्य को कितनी पुष्पमुखी रमणियों की याद दिलाती है। इस स्मृति के कारण मादकता को व्याकुल बना देने वाली गन्ध के कारण मनुष्य किंकर्तव्य-विमूढ़ हो जाता है। वह चाहे जितना भागे, उसे कोई रास्ता नहीं सूझता है। यदि कभी मनुष्य कुछ देर के लिए किसी एकान्त स्थान में जाकर छिप भी जाता है तो शरीर की यही आग उसे फिर से खींच कर मधुवन में—प्रेम के लोक में—ले जाती है।

अप्रतिहत यह पागल   मरा करता है।

शब्दार्थ—अप्रतिहत=निर्बाध लगातार। दाहकता=उष्णता। घूर्णि-चक्र=चक्कर। झंझा=तूफान। शीर्ण-विशीर्ण=बीतते रहते हैं। तिमिर=अन्धकार। क्षुब्ध=व्याकुल। व्यापक-पथ=शान्ति का अथवा विनाश का

यह (तर्कमयी बुद्धि) अपने साथ पर अग्रसर होने वाले पथिकों को प्रवंचना द्वारा ऐसे स्थान पर जाकर छोड़ देती है जिसका कोई अस्तित्व ही नहीं होता है।

अर्थ—भाव यह है कि बुद्धि तर्क का विषय है। कल्पना इसका सूत्र है। ठोस धरातल को छोड़कर बुद्धि रूपी अप्सरा अपने कल्पना के लोक में विचरण करने के लिए निकल जाती है। कल्पना की रंगीनियों में वह इतनी बेसुध हो जाती है कि मनुष्य को दिग्भ्रमित करके उसे उसके सत्य रूपी मन्दिर भटका देती है।

अलंकार—रूपक।

...र शोणित ... रहा है।

शब्दार्थ—अभिप्रेत=संचित इच्छित। प्रसून=फूल। यौवनात्फुल्ल= यौवन से मदमस्त। विकल-व्यग्र=व्याकुल और उत्सुक। मधुकर=(प्रेमी) भँवरा। रस-आमंत्रण=प्रेम रूपी रस के भोग का निमंत्रण।

अर्थ—अभिन्न यह रक्त (हृदय का भाव) जिस क्षेत्र म भी अपने ...रण रखता है उस क्षेत्र (दिशा) में वह निश्चय ही (ऐसा लगता है जैसे) कोई यौवन स युक्त वासन्ती यौवन म खिलो पुष्प व्याकुल भवरे को रस-पान करने का आमंत्रण दे रहा हो।

भावार्थ—भाव यह है कि मनुष्य भावना का आधार लेकर जिस किसी भी कलाकृति (वास्तुकला मूर्तिकला, चित्रकला संगीत-कला तथा काव्य कला) की रचना करता है उसमे अपने आपको खोल देता है। परिणाम स्वरूप उस सजीव कृति पर मधुकर रूपी प्रेमी मँडराने लगते हैं क्योंकि उनकी कृति में एक संजीवनी होती है। एक सजीव आत्मा प्रतिबिम्बित होती है। उससे आकर्षित होकर भावुक उसमें डूब जाता है।

अलंकार—अन्योक्ति उदाहरण।

...या वासकसज्जा ... रही है।

शब्दार्थ—वासकसज्जा=वस्त्रों (आभूषणों) से सज्जित रमणी। जाह्नवी —[illegible]ती। संकेत-स्थल=प्रेमी-युगल के मिलने का स्थान अर्थात् भावना का

अभिप्रेत स्थल । पद्मरागमणि नूपुर=एक विशेष प्रकार की मणि से निर्मित पायजेब । समुत्सुक=उत्सुक होकर ।

अर्थ—अथवा सोलह शृंगार किए हुए कोई नायिका (भावना) पुष्पों से निर्मित वाटिका में (हृदय के सहज भाव) किसी की (भाव) राह देख रही है । (उसका प्रियतम कहीं अभिप्रेत स्थल न भूल जाय) इसलिये संकेत-स्थल (हृदय) को सूचित करने के लिए पद्मरागमणि की पायजेब (प्रेम का संदेश) बजा रही है (जिससे प्रेमी कहीं बुद्धि के तर्कजाल में न फँस जाय) ।

भावार्थ—भाव यह है कि कवि की भावना कला का आवरण पहन कर प्रेम रूपी पद्मरागमणि की पायल बजाकर भावुक प्रेमी को अपनी ओर आकर्षित करती रहती है जिससे वह बुद्धि के तर्कजाल में फँसकर कहीं भावना की स्वप्नमयी बस्ती को छोड़ न बैठे ।

अलंकार—सन्देह ।

या कोई सजाकर ।

शब्दार्थ—उन्मना=उन्माद से भरी हुई । मिलिन=मिलन-स्थल । विद्रुम=मूँगा । अरुणाई=लाली । निद्राकलश=उरोज ।

अर्थ—अथवा कोई रूपसी (जो प्रेम और प्रिय के मिलन से उत्पन्न लज्जा के कारण) मूँगे के समान लालिमामय हुई अपने चन्द्र के समान मुखमण्डल तथा बेसुध करने वाले अपने उरोजों को सज्जित करके मिलन-स्थल पर प्रणय-सेज सजाकर, उन्मन-सी होकर निर्निमेष दृष्टि से अपने प्रियतम की प्रतीक्षा कर रही है ।

अलंकार—उपमा तथा अन्योक्ति एवं सन्देह ।

श्रुति-पुट सकती है ।

शब्दार्थ—श्रुतिपुट=कान के परदे । उत्तप्त=गर्म । रसना=जिह्वा । अदीपित निशा=अंधियारी रात अमावस । निगूढ़=गहरे ।

प्रसंग—कवि यहाँ तर्कमयी बुद्धि तथा भावमय हृदय में स्पष्ट अन्तर दर्शाता हुआ कहता है—

अर्थ—(प्रेमी अथवा प्रेयसी के) कानों के परदों पर (भावासक्त)

गर्म-गर्म श्वासों का स्पर्श (रसमयी) होठों का जिह्वा द्वारा चुचुकाना, रात्रि के एकान्त एवं गहन तमस में युगल-दम्पति का परस्पर प्रेम में विभोर होकर एक-दूसरे की कोमल त्वचा पर उंगलियों का सपरण करना आदि जो ये निगूढ़तम प्रेममयी क्रीड़ाएँ हैं वे बुद्धि की सीमा से परे हैं। अर्थात् इस भाव जनित आनन्द का क्या स्वरूप है बुद्धि इसे समझने में असमर्थ है।

भावार्थ—भाव यह है कि बुद्धि का काम है विचार करना और तर्क। शरीर को एक बुद्धिवादी सृष्टि की रचना के अतिरिक्त कुछ नहीं मानता है। वह एक नीरस वैज्ञानिक की भांति उसके स्थूल-तन्तुओं का अध्ययन करता है और इसी तर्कजाल में अपने अनमोल जीवन को समाप्त कर देता है। मगर दूसरी दिशा में भावप्रवण एवं राग से युक्त हृदय प्रधान जीव प्रकृति के प्रत्येक अंग में उसकी आत्मा को ढूंढता है। फूल का मुरझाना उसके चाहती जीवन का पतझड़ एवं बादलों का बरसना उसके विरह का प्रारम्भ है। सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में वह अपने हृदय के सुख-दुःख का विस्तार कर देता है और उनके दुःख से दुःखी तथा सुख से रोमांचित होता है। शैव-दर्शन में इसे समरसता की पावन भूमिका कहा गया है।

विशेष—रस के साधारणीकरण में आश्रय और आलम्बन का संयोग ही आवश्यक नहीं है बल्कि 'उद्दीपन' का भी तदनुकूल होना परमावश्यक है। प्रेमी-युगल जब परस्पर मिलें तो वातावरण निस्तब्ध होना चाहिए एकान्त होना चाहिए। यहाँ तक कि रात्रि का ऐसा घोर अन्धकार होना चाहिये कि परस्पर प्रेमी भी एक दूसरे को चर्म चक्षुओं से न देखकर आभ्यन्तर नेत्रों द्वारा उस अमित आनन्द का अनुमान एवं भान कर सकें। इस दृष्टि से 'अतीन्द्रिय निशा के अंधियारे में' उद्दीपन-विभाव रस-परिपाक में काफी सहायता देता है।

उसे समझता पर भी।

शब्दार्थ—दूब=हरी घास। फुनगी=ऊपर की नोक। औचक=अचानक।

अर्थ—अचानक ही हरी-हरी दूब के अग्रभाग (फुनगी) के छू जाने

स हृदय में जो एक प्रकार का कम्पन पैदा होता है वह तो केवल रस ही समझ सकता है (बुद्धि भला इससे उत्पन्न आनन्द की गहराई तक कैसे पहुँच सकती है) ।

भावार्थ—भाव यह है कि संवेदनशील जीव जब [illegible] की फुनगी का स्पर्श पाता है तो वह भी अपनी प्रियतमा का स्पर्श मानकर रोमांचित हो उठता है इसी को चित्त का विगलीकरण कहते हैं । बुद्धि इसके आनन्द से परे है ।

बुद्धि बहुत [illegible] करतों की ।

शब्दार्थ—सिकता=सूखी रेत । सिहरित=रोमांचित ।

अर्थ—(बुद्धि एवं हृदय की परस्पर तुलना करते हुए कवि कहता है कि) सागर के तट पर फैली हुई सूखी रेत का भी बुद्धि काफी मनन करती है अर्थात् उसकी उत्पत्ति एवं उद्भव पर काफी विचार करती है मगर इससे परे जब समुद्र की लहरें उस उत्तप्त सिकता का आलिंगन कर उसे शीतल बनाकर वापिस लौट जाती हैं तब इसका क्या महत्व भाव हो सकता है इसे तो केवल वही जान सकती है जो संवेदनशील एवं रोमांचित होने वाली हो अर्थात् भावप्रवण व्यक्ति मैं उस को विरह से उत्तप्त प्रेमी तथा लता को प्रेमिका समझता है । दोनों के परस्पर मिलन व संयोग का शीतल हो जाना उसकी क्षुधा का शान्त हो जाना है । सिहरित करने वाले ऐसे भाव बुद्धिवादी के अन्दर भला कैसे प्रस्फुटित हो सकते हैं ।

तुम निरखते [illegible] कीर हैं ।

शब्दार्थ—निरखते=देखते हो बताते हो । विराग=वैराग्य बोध । भीषिका=डर । पुञ्ज-भाव=पुष्प का एकत्रीकरण । कुलिश=वज्र ।

प्रसंग—इन पंक्तियों में उर्वशी भावतत्त्व की प्रथम महत्ता का निर्णयात्मक उद्घोष करती है । उर्वशी का कथन है कि सभी भाव चाहे वे किसी पन्थ अथवा दिशा से आएँ सत्य का बोध करते हैं । बोध की अथवा वैराग्य की भयंकर विभीषिकाएँ हों या प्रेम की पीयूष धारा दोनों का लक्ष्य सत्य का अनुसन्धान है । अतः भरी शक्ति तो उस शोणित में ही है ।

अर्थ—उर्वशी पुरूरवा से कहती है कि तुम मुझे वैराग्य (योग) का उपदेश कर रहे हो और (उसकी साधना की कठोरता दिखाकर) उसकी विभीषिका सुनाना चाहते हो मगर मेरे लिए तप्त शोणित (प्रेममूलक भावना) ही श्रेष्ठ है (क्योंकि इसका मार्ग सरल है और सत्य उसी सत्य का अनुसन्धान करता है जो योग का कठिन पन्थ करता है।) अतः रक्त की भाषा को पढ़ो अर्थात् प्रेममय हृदय का अध्ययन करो और इसके अन्तर से निकली हुई ध्वनि का विश्वास करो। हृदय से निकली हुई भाषा का उल्लेख मानव को कभी भी भ्रमित नहीं कर सकता। (यह पथ) छलना-मयी बुद्धि की भांति नहीं है जो सुख-दुःख से पूरित इस जगत में जहां सर्वत्र सौन्दर्य स्फुरित होता है पाप के ही दर्शन करती है और जहां कंकाल कुलिश और कांटे हैं वहां उसे पुष्प संचयन का उद्भास होता है।

विशेष—इन पंक्तियों में एक प्रकार से प्रेम की उपयुक्तता और योग अथवा वैराग्य की अनुपयुक्तता का भाव है। योग के अनुसार यह विभिन्न सौन्दर्य से युक्त सुख-दुःखमयी जगत मिथ्या तथा पापमय है। और योग साधना के द्वारा अपने शरीर को 'कंकाल' 'कुलिश' अथवा 'कांटा' बना लेना पुष्पों का चयन है। उर्वशी कृष्ण की गोपियों की तरह इस भाव की निन्दा करती है और इसी भाव को लक्ष्य करती है कि— हमारे सुन्दर श्याम प्रेम को मारग सीखो।" (भ्रमरगीत नन्ददास)

पुरूरवा

द्वन्द्व सूंघते उद्गम की।

शब्दार्थ—द्वन्द्व=सुख-दुःख का संघर्ष। सूंघते=दर्शित करते हैं। मदमैली =मलसी (गुण-दोष से युक्त)। सर=तेज। पटुल= चपल।

प्रसंग—देवता और मनुष्य की परिभाषा बताकर पुरूरवा मानव को जो संघर्ष के थपेड़ों से टकरा लेना अधिक श्रेयस्कर समझता है महान दर्शित करता है। पुरूरवा की दृष्टि में देवता मानवत्व तक पहुंचने की पहली सोपान है।

अर्थ—वास्तव में मनुष्य वह है जो (अहर्निश) संघर्ष द्वारा दोलित होता रहता है और देवता वह है जो संघर्ष से शून्य है। फिर भी मानव जब इस

धरा पर जन्म लेता है तब सरिता के उद्गम-स्रोत की तरह पवित्र निर्मल प्रशान्त तुम्हारी तरह दिव्य तथा लोकोत्तर होता है मगर आगे बढ़ने पर उसमें और भी विशेषताएं जन्म ले लेती हैं जैसे मटमैला (सुख-दु:ख आशा निराशा विरह-मिलन भोग-वियोग तथा आसक्ति और विरक्ति से मिश्रित मटमैला जीवन) तीव्रता चचलता आदि स्रोतों का समावेश। अत: देवों की विशेषताओं के अतिरिक्त मनुष्य में अन्य देवातर विशेषताएं होती हैं जिनके कारण वह देवों से महान है।

विशेष—मेरी नजर में इस पद की दूसरी पंक्ति दोषपूर्ण है। पंक्ति इस प्रकार है—

'देवी वह जिसके मन में
कोई संघर्ष नहीं है।'

जबकि होना यह चाहिए था—

देव वही जिसके मन में,
कोई संघर्ष नहीं है।'

—कारण मनुज की देव से तुलना की जा रही है। अत: देवी शब्द के प्रयोग से एक तो कविता में लिंग-दोष आ जाता है और दूसरे 'देवी' शब्द की मनुज की तुलना में कोई सगति नहीं बैठती।

रसवृद्धि 'कलरव में।

शब्दार्थ—अव्यय=अक्षर शाश्वत। सविता=सूर्य (पूर्ण गुणों से युक्त दिव्य ईश्वर)। मालती-किरणें=वासन्ती किरणें काम जन्य प्रेम की उत्तेजना अथवा आवेग।

अर्थ—प्रेम मूलक भावना वृद्धि से अधि अमदासी तथा अधिक समझ है। परिणामस्वरूप हमारा अपने उद्गम-स्थान (पवित्र निर्मल तथा शान्त) पर सहज रूप से पुन लौट आना सम्भव नहीं है (क्योंकि पवित्रता निर्मलता एवं शीतलता तो भाव मूलक प्रेम तक पहुँचने की प्रथम सोपान है। ये तत्त्व प्रेम के लिये ठोस धरती का काम करते हैं। दूसरी सोपान है सवर्ग तथा अन्तिम सोपान है—अन्य-रूप प्रेम की आभ्यन्तरिक चरम परिणति)।

(कामजन्य प्रेम की उत्तेजना अथवा आवेग की) वासन्ती किरणें एवं उसके कलरव में इतने अचेत और खो जाते हैं कि उस शाश्वत सर्वगुण-सम्पन्न पूर्ण-सूर्य (ब्रह्म) तक नहीं पहुंच पाते हैं।

[illegible] किरणें ... जायेगा।

शब्दार्थ—सोपान=सीढ़ी। स्यात्=शायद। ऊर्ध्व=ऊपर। भूमिका विहार=सांसारिक वैभव।

प्रसंग—पार्थिव शरीर एवं मृण्मय जगत आनन्द का चरम लक्ष्य नहीं है। मनुष्य को इनसे बहुत ऊपर उठना पड़ता है। दिनकर जी ने अपनी भूमिका में इस बात को स्पष्ट भी किया है— प्रेम की एक उदात्तीकृत स्थिति वह भी है जो समाधि से मिलती-जुलती है। जिसके व्यक्तित्व का देदीप्यमान विकास हुआ है जिसके स्नायविक तार चेतन और सजीव हैं तथा जिसका मन स्वभाव से ही ऊर्ध्वगामी और ऊर्ध्वप्रयत्नशील है उसे काम के स्पर्श मात्र से इस समाधि का बोध होता है।

> तत्त्वाभिन्नसंसौख्यं परमनुभवति [illegible] सच्चिदानन्दरूपम्
>
> तस्मादीत् बाह्यभिन्ना रमणरतिपते योगनिद्रां गतेव।

मनुष्य के इस द्वन्द्व का साकार से ऊपर उठकर निराकार तक जाने की इस आकुलता अथवा ऐन्द्रियता से निकलकर अतीन्द्रिय जगत में सांस खोलने की इस उमंग का प्रतीक पुरूरवा है।"

अर्थ—प्रेम के क्षेत्र में मनुष्य के लिए ये किरणें (सांसारिक काम का प्रकाश) तथा फूल (सांसारिक पार्थिव सुख) ही अन्तिम सीढ़ी नहीं है। प्रेमी को इस सीमा से बहुत ऊपर उठकर तारों के देश (शून्य) में जाना होगा। कवि का अनुमान है कि आकाश के इस ऊर्ध्वलोक पर पहुंच कर मनुष्य को दिव्य किरणों वाला सांसारिक भवन हीन लगेगा।

विशेष—उपरोक्त पंक्तियों में 'ऊर्ध्व' तथा 'अम्बर' द्रष्टव्य है। कवि ने प्रतीक योजना का आश्रय लेकर 'ऊर्ध्व' को हृदय के उदात्तीकरण तथा अतीन्द्रियता का प्रतीक माना है एवं 'अम्बर' हृदय का प्रतीक है। साहित्य में 'प्रतीकवाद' का बड़ा महत्त्व है। सफल कवि प्रतीक योजना द्वारा ही अपने

भावों का सूक्ष्म वर्णन करता है। 'हिन्दी साहित्य कोश' में प्रतीकवाद की व्याख्या इस प्रकार है।

"किसी अन्य स्तर की समान रूप वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तर के विषय का प्रतिनिधित्व करने वाली वस्तु प्रतीक है। अमूर्त अदृश्य अगम्य अप्रस्तुत विषय का प्रतीक प्रतिविधान मूर्त दृश्य गम्य प्रस्तुत विषय द्वारा करता है। (जैसे उपर्युक्त पद में हृदय के उदात्तीकरण के लिए 'कमल' तथा 'भ्रमर' का प्रतीक लिया गया है।) 'साहित्य और कला के क्षेत्र में प्रतीकवाद एक विशिष्ट भावधारा का आन्दोलन और अभिव्यक्ति है'। 'प्रतीकीकरण मनुष्य का सहज स्वभाव होता है'। 'प्रतीकों की दो विशेषताएं होती हैं—(i) प्रतीक सदा किसी न किसी अव्यक्त प्रकार के व्यापार का प्रतिनिधि होता है। (ii) प्रतीक शक्ति को वशीभूत कर लेता है।' 'मनुष्यों का समस्त जीवन प्रतीकों से पूर्ण है।' 'रहस्यवादियों ने प्रतीकों का विपुल प्रयोग किया है।' 'प्रतीक पाँच कार्य कर सकते हैं—१ किसी विषय की व्याख्या करना २. उसको स्वीकृत करना ३ पलायन का पथ प्रस्तुत करना ४ गुप्त या दमित अनुभूति को जागृत करना और ५ अलंकरण या प्रसाधन का साधन होना।'

भावना भाव' करती है।

शब्दार्थ—रोमित=पुलकना, सकम्पना। भनक कबिर में=भावों में सम्पृक्त।

प्रसंग—यदि तो कवि नैसर्गिक प्रतिभासम्पन्न होता ही है मगर उसके भावबोध को 'कान्त' एवं द्विगुणित करने के लिए किसी महत्त्वपूर्ण साधन को अपना पार्ट अदा करना पड़ता है। यहाँ पर कवि निराकार नारी के उदात्त प्रेम से कवि का काव्य भावना है। बात ठीक भी है। नारी भावना है और कविता की शैया पर भी भावों का आसन विराजता है अतः मानव की सूक्ष्म बुद्धि और नारी की भावना से कवि का काव्य कमनीय हो उठता है।

अर्थ—प्रेम केवल अलग भाव नहीं है। यह (जीवन) अमृत-पिपासा भी

में उष्णता और उद्वेलन ही नहीं लाता अपितु वह उसके हृदय में किसी काम्य कवि को भी जन्म दे देती है।

विशेष—केशवदास ने अपनी कविप्रिया (८।२) में कवियों के तीन भेद किए हैं—१ उत्तम मध्यम और ३ अधम। यथा—

उत्तम मध्यम अधम कवि उत्तम हरि रस लीन।
मध्यम मानत मानुषनि दोषनि अधम प्रवीन॥

हमारी दृष्टि में उपरोक्त भूमिका में जिस काम्य कवि का जन्म होता है वह मध्यम कोटि अथवा 'मानुषनि कोटि का कवि कहलाता है जो धीरे-धीरे अन्तर्मुखी होकर उत्तम कवि की कोटि तक पहुंचने का प्रयास करता है।

मत समेट' झंकारों में।

शब्दार्थ—स्थूल=पार्थिव। आभा-तरंग=प्रेम की ज्योति। कवि क्रीड़ा =प्रेम के भावों का सूक्ष्म आख्यान।

प्रसंग—इन पंक्तियों में कवि दिनकर साधारण मनुष्य के पार्थिव प्रेम तथा कवि के भाव-निर्मित प्रेम का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहता है—

अर्थ—जहाँ मनुष्य नारी की स्थूल देह को ही अपनी भुजाओं में समेट कर आनन्द का अनुभव करता है। वहां कवि नारी के आन्तरिक सौन्दर्य को अपनी भाव-भूमिका से रंगकर आनन्द की क्रीड़ा करता है। और जिस समय मनुष्य किसी नारी के कोकिल-कंठ का स्वर सुनकर प्रसन्न हो जाता है उस समय कवि उसके स्वर में निहित भीतरी रूप की उज्ज्वल झंकृति में अपने आपको लीन कर लेता है।

विशेष—वैसे तो कवि भी मनुष्य ही होता है। उसे कोई सुरखाब के पर नहीं लगे होते हैं। मगर दोनों में एक तात्त्विक भेद है जिसको दिनकर ने ऊपर की पंक्तियों में स्पष्ट किया है। साधारण मनुष्य भौतिकवादी होता है। वह अपने एक विशिष्ट दृष्टिकोण से वस्तु तत्व की व्याख्या करता है। इसी लिए 'आचार्य मम्मट' ने कवि की कविता को 'नियति के नियमों से रहित, दूसरे की परवशता से रहित तथा नव रसों से सुशोभित माना है। कवि के सम्बन्ध में 'अग्नि पुराण' का यह श्लोक दर्शनीय है—

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥

नर चाहता करता है।

शब्दार्थ—सदेह=देह-सहित। अतिक्रमण=लांघ जाना।

अर्थ—मनुष्य नारी को पार्थिव शरीर-सहित अपने हृदय में बिठाना चाहता है जबकि कवि नारी के उस सदेह रूप का अतिक्रमण करके (अदृश्य प्रेम पर पहुंचने की याचना करता है)।

विशेष—इस सम्बन्ध में 'उर्वशी की भूमिका का एक स्थल द्रष्टव्य है—"कला, साहित्य और विज्ञान" काव्य में भौतिक सौन्दर्य की महिमा प्रकट है। फिर भी श्रेष्ठ कविता बराबर भौतिक से परे भौतिकोत्तर सौन्दर्य का संकेत देती है फिजिकल को लांघ कर 'मेटा-फिजिकल' हो जाती है।

'कवि प्रेमी सत्ता से।

अर्थ—कवि तथा प्रेमी की समानता का वर्णन करते हुए दिनकर जी कहते हैं कि कवि तथा प्रेमी एक ही तत्त्व हैं अर्थात् दोनों में समान विशेषताएँ हैं। अपनी प्रेयसी के आन्तरिक सौन्दर्य पर तो दोनों ही मुग्ध रहते हैं मगर देहवादी प्रेम से वे दोनों दूर हैं। (पार्थिव प्रेम की सीमा को छोड़कर दोनों) अपने प्रेम को भावना के सूक्ष्म तन्तुओं से जोड़ लेते हैं। प्रेमिका की सभी मृगमायाओं एवं दृश्यों का सम्बन्ध अविगत एवं अदृश्य सत्ता से स्थापित कर लेते हैं।

विशेष—प्रेमी तथा कवि का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। विद्वानों का कहना है कि प्रेमी की गणना कवि की कोटि में की जानी चाहिये। कारण सच्चा प्रेमी प्रेमिका के पार्थिव शरीर एवं स्थूल इन्द्रियजन्य प्रेम से परे हटकर उससे आत्मिक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। उदाहरण के लिये लैला-मजनू का किस्सा लीजिये। लैला भैंस की तरह काली थी मगर फिर भी मजनू उसे अनिंद्य सुन्दरी समझकर अप्सराओं को भी उसके सामने तुच्छ समझता था। लैला का सात्त्विक आत्मा का सौन्दर्य ही उसके लिये सर्वस्व था। और यही मूल तत्त्व कवि में विद्यमान है। अतः कवि और प्रेमी में तात्त्विक समानता है।

देह प्रेम करता है।

शब्दार्थ—रुधिर-स्नायु=मांस-पेशियां। प्रसरित=फैली हुई। गुह्य लोकों=छिपे हुए लोक में अनुभूति। विभासित=चमकने वाले। अव्यक्त कमल=आभ्यन्तरिक कमल जो शाश्वत रूप में वासन्ती रहता है।

प्रसंग—जिस प्रकार एक भक्त भगवान की एक प्रतिमा को ध्यान की भूमिका बनाकर परमोन्मुख होता है उसी प्रकार कवि अथवा प्रेमी को भी सूक्ष्म प्रेम को पाने के लिए एक ठोस धरती बनानी पड़ती है। वह ठोस धरती है—नारी की देह। इसी से कवि अथवा प्रेमी प्रेम की प्रथम सोपान पर कदम रखता है और धीरे धीरे वही पार्थिव सौन्दर्य उसकी दृष्टि में व्यापक रूप धारण कर लेता है। तभी वास्तविक आनन्द की सृष्टि होती है।

अर्थ—कवि तथा प्रेमी के लिए शरीर प्रेम की जन्म भूमि है। अर्थात् उनके हृदय में प्रेम शिशु का जन्म नारी की देह से ही होता है। मगर उसके विचरण के लिए लीला-भूमि का क्षेत्र मांस-पेशियों तक ही सीमित नहीं है। इसकी सीमा भूमि काफी विस्तृत है जो मन के गहन एवं रहस्यमयी लोकों तक फैली हुई है। (इस गुह्य लोक में पहुंच कर) कवि अथवा प्रेमी चर्म रूप से परे हटकर अरूप सौन्दर्य का मनन करता है। ऐसी अवस्था में जब पुरुष नारी के प्रत्यक्ष जाज्वल्यमान मुखमण्डल को देखता है तथा उस मुखमण्डल में वह किसी दिव्य तथा अव्यक्त कमल के दर्शन करता है और उस शाश्वत कमल के सौन्दर्य के समक्ष नतमस्तक हो जाता है।

विशेष—प्रेम के अध्याय में उपरोक्त पंक्तियां बड़ी महत्वपूर्ण हैं। इस पद्यांश में मन के गहन गुह्य लोकों में तथा 'दिव्य, अव्यक्त कमल' शब्द दर्शनीय हैं। प्रथम अंश का अभिप्राय उनकी अनुभूति एवं दूसरे का 'हठयोग' की साधना से है। मन का गहन एवं गुह्य लोक केवल हृदय की अनुभूति है। "मनोविज्ञान में यह एक आन्तरिक क्रिया है जो बाह्य परिणाम उत्पन्न नहीं करती। अनुभूति सुखात्मक भी हो सकती है और दुःखात्मक भी। साहित्य के क्षेत्र में कई प्रकार की अनुभूतियों का वर्णन होता है। यथा—१ काव्यानुभूति २ रसानुभूति ३ भावानुभूति ४ प्रातिभ अनुभूति, ५. चिन्तन अनुभूति ६ रहस्यानुभूति, ७ समानानुभूति, ८. सौन्दर्यानुभूति

एवं १. सहानुभूति। उपरोक्त पंक्तियों की अनुभूति 'काव्यानुभूति' के अन्तर्गत आती है जिसमें लौकिक सुख-दुःखात्मक प्रेम सूक्ष्म एवं शुद्ध रूप धारण कर लेता है।

'दिव्य अम्बरुह कमल' हठयोग की शब्दावली है। मेरुदण्ड में छः चक्र माने गये हैं जिन्हें आकार की समता के कारण 'कमल' कहा जाता है। जैसे मूलाधार चक्र, स्वाधिष्ठान चक्र आदि। इन छः चक्रों को भेदकर कुण्डलिनी अन्तिम चक्र में पहुंचती है जिसमें सहस्रदल है। इसलिए इसे सहस्रार चक्र या कमल कहते हैं। इसी को शून्यचक्र गगनमण्डल आदि भी कहते हैं। इसमें शिव का वास होता है। इस अवस्था में चित्त निर्लिप्त हो जाता है। भक्त प्रेमी तथा योगी के इस सोपान पर पहुंचने के मार्ग अलग-अलग हैं। प्रेमी इसे प्रेममूलक भावना तथा योगी कठोर साधना से प्राप्त करता है।

जनता प्र म' गगन की।

शब्दार्थ—सोपान=मेम। तरंग-विभ=प्रखर उमंग। एकदेही=एक शरीर वासी। वायव्य=वायु-सम्बन्धी व्याप्ति-प्रधान।

अर्थ—सबसे पूर्व प्रेम आँखों में पैदा होता है। उसके पश्चात् मन में प्रखर-तरंग पैदा होती है। सर्वप्रथम प्रेमी को प्रेमिका एक शरीर वासी दिखाई देती है (अगर धीरे धीरे उसके चित्त का विकास होता है और प्रेमिका का स्वरूप) सम्पूर्ण संसार में व्याप्त हो जाता है अर्थात् प्रेमी जगत के स्थावर-जंगम पदार्थों में केवल उसी का दर्शन-ध्यान करता है। पहले प्रेम में शरीर के स्पर्श से आनन्द का भोग किया जाता है मगर तदुपरान्त उससे उद्भूत रोमांच से चिन्तन का जन्म होता है। इस प्रकार पूर्वावस्था में प्रेम कठोर धरती है (जिसमें प्रेम का बीज जन्म लेता है और पल्लवित होता है) और उसके पश्चात् हृदयाकाश में वायु के समान प्रसारित होकर व्यापक रूप धारण कर लेता है। (इस प्रकार समष्टिगत प्रेम के लिए पहले व्यष्टिगत प्रेम की परमावश्यकता है। ये परस्पर अन्योन्याश्रित हैं)।

अलंकार—रूपक अन्योक्ति, समासोक्ति।

मुझमें जिस .... तुम्हारी ।

शब्दार्थ—निरभ्र=बादलों से रहित । आभा-ऊर्मियां=प्रेम रूपी ज्योति की लहरें ।

अर्थ—पुरूरवा उर्वशी से कहता है कि पार्थिव देह से परे तुमने मेरे अन्दर एक 'रहस्य-चिंतक' को भी जन्म दे दिया है । मेरा यह 'भावुक रहस्य-चिंतक' निरभ्र (द्वन्द्व रहित) आकाश में उड़ना चाहता है । यह (रहस्य चिंतक) अपनी स्निग्ध विभा से तुम्हें चारों तरफ से घेर रहा है अर्थात् अपने आलिंगन पाश में बद्ध कर रहा है और मेरे इस रहस्य चिंतक' हृदय में तुम्हारी अलक्ष्य उज्ज्वल लहरें समा रही हैं ।

विशेष—इस पद्यांश में 'रहस्य चिंतक शब्द द्रष्टव्य है । यदि केवल यही शब्द होता तो सम्भवत इसका सम्बन्ध निर्गुण ब्रह्म से हो जाता । मगर दूसरी पंक्ति में एक 'भावुक' शब्द भी है । अतः इसका तात्पर्य हुआ प्रेम परक रहस्य चिंतक' । 'रहस्य चिंतक अपरोक्ष अनुभूति द्वारा सत्य परमतत्त्व अथवा ईश्वर के समान अपने प्रेमी का साक्षात्कार करता है । रहस्यानुभूति सम्भवतः मनुष्य की श्रेष्ठतम एवं उदात्ततम अनुभूति है । 'रहस्य-चिंतक' किसी जाति धर्म या देश विशेष में सीमित नहीं रहता । उसकी मर्मानुभूति की असीमता और चिरन्तनता देश-काल के परे है । मनुष्य की यह प्रवृत्ति अद्वितीय है । यह उसको सामान्य जीवन के विषयों से विमुख एवं विरक्त कर देती है । इस अवस्था में रहस्यदर्शी एक नूतन और असीम आनन्द से आक्रान्त और अभिभूत एक अनन्त सुन्दर शिव और सुन्दर तत्त्व में निमज्जित मुग्ध और पविभीकृत आनन्द का अनुभव करता है । ऐसी मर्मानुभूति में एक अलौकिक ज्योति अथवा रूपों के दर्शन होते हैं । रहस्य-चिंतक' के इसी स्वरूप का हृदयग्राही चित्रण उपरोक्त पंक्तियों में हुआ है ।

यह अंबर .... अपने में ।

शब्दार्थ—अम्बर=आकाश यहां पर इसका अर्थ होगा 'हृदयरूपी आकाश' । पावस=वर्षा का जल अर्थात् प्रेम का संघर्षकालीन समय । नीलिमा शरद की=शुभ्र एवं सात्त्विक हृदय । निरभ्र=बादलों से रहित । समाहित=अन्तर्निहित ।

प्रसंग—प्रेम की प्रथम भूमिका में उत्कण्ठा एवं संघर्ष आता है। प्रेमी साधक जब इस अवस्था को लाँघ जाता है और उसके हृदयाकाश में प्रेम की चिन्मय ज्योति समा जाती है तब वह सुख-दुःख से परे हटकर शाश्वत आनन्द की सोपान पर प्रतिष्ठित हो जाता है। ऐसे क्षण में साधक को उसकी प्रिय अमर ईश्वरत्मा एवं प्रेम की ज्योतिपुंज लगती है। एक मुस्लिम शायर के शब्दों में—

मेरे महबूब की शक्ल
खुदा जैसी है।
मुहब्बत की मुहब्बत है
इबादत की इबादत (पूजा) है॥

अर्थ—(मेरे हृदय रूपी) आकाश से (सुख-दुःख रूपी) पावस ऋतु उतर चुका है। अब तो इस आकाश में नहाई-धोई शरद् ऋतु की नीलिमा (प्रेम की उज्ज्वलता) प्रतिभासित हो रही है। अर इस निरभ्र आकाश में तुम चन्द्रमा के समान दीप्त बनकर प्रकाश-प्लावन में तैर रही हो और मैं किरण के रूप में तुम्हारे अमित ज्योति-पुंज में समाहित हूं।

विशेष—'किरण बन तुममें मैं'—इस पंक्ति से प्रेमी (पुरूरवा) तथा प्रेमिका (उर्वशी) का परस्पर अंश-अंशी भाव स्पष्ट होता है। आचार्य वल्लभाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद सिद्धान्त के पुष्टिमार्ग के अनुसार हम सब अंशी (ब्रह्म) के अंश हैं। यहाँ पर उर्वशी चन्द्रमा है तो पुरूरवा उसकी एक किरण है जिसका बाह्य-अभ्यान्तर तक अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। आत्मा परमात्मा के अंश अंशी भाव को निर्गुण कवियों ने तो विस्तार से वर्णित किया है मगर संस्कृत में तथा आधुनिक कवियों के काव्य में भी इसकी कमी नहीं है। यथा—

"वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा,
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥"

× × ×

"दरियाव की लहर दरियाव है जी,
दरियाव और लहर भिन्न कोयम।
उठे तो नीर है बैठता नीर है
कहो किस तरह दूसरो होयम।

—कबीर

× × ×

'तुम तुङ्ग हिमालय शृंग
मैं चंचल गति सुरसरिता।
तुम विमल हृदय उच्छ्वास
मैं कान्त कामिनी कविता।

—निराला : तुम और म

'अम्बर तथा पावस' आदि शब्दों में 'श्लेष' तथा 'अन्योक्ति' एव
मा-सी' में उपमा अलंकार है।

नह नभ तृषा को।

शब्दार्थ—नभ=आकाश (हृदय)। अम्बर=वस्त्र (रजोगुणी एवं
गुणी आवरण)। तृषा=प्यास।

अर्थ—पुरूरवा कहता है कि मेरे हृदय रूपी आकाश से जो रहस्यमयी
ा से परिपूर्ण है, रजस एवं तमस के आवरण विलीन हो गये हैं और
ों की प्यास उदात्त भावना से शान्त हो गई है तथा रसानुभूति की
सिक तीव्रता भी शान्ति के पथ पर आरूढ़ हो गई है।

विशेष—उक्त पद्यांश में नायक के अपने मन में हुई भावनाओं का स्फीति
प वर्णित होता है। पुरूरवा लौकिक भावनाओं के प्रति वैराग्य तथा
किक प्रेम की व्यापकता को महत्त्व देता हुआ दीख पड़ता है।

'नभ' और 'अम्बर' शब्दों में 'पुनरुक्तवदाभास' अलंकार है। मम्मट
पने काव्य-प्रकाश में इसकी परिभाषा इस प्रकार की है—

पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा एकार्थतेव।'

—मम्मट काव्यप्रकाश उल्लास ९ प१७

यह निरभ्र   नारी है ।

शब्दार्थ—निरभ्र=बादलों से रहित स्वच्छ । निर्विकल्प=विकल्प रहित निश्चित । सुषमा=सौन्दर्य । प्रतिमान=प्रतिरूप ।

प्रसंग—साधक पुरूरवा भावनाओं के उदात्त रूप को व्यक्त करते हुए स्त्री और पुरुष के लौकिक रूप की अपेक्षा अलौकिक रूप को महत्व देते हुए लौकिक शरीर और लौकिक बुद्धि से ऊपर उठकर 'आत्मतत्व' की ओर अग्रसर हो रहे हैं ।

अर्थ—पुरूरवा कहते हैं कि उस स्वच्छ आकाश (हृदय) में जहां कलुषित कल्पनाओं का सर्वथा अभाव है और विशुद्ध सौन्दर्य कूट-कूट कर भरा हुआ है वहां न तो वह वासना प्रधान पुरुष, पुरुष है और न नारी नारी । अपितु ये दोनों उस पुरातन पुरुष परमेश्वर के प्रतिनिधि के रूप हैं जिन्हें प्राप्त करने के लिये देहाभ्यास और बुद्धिवाद के बन्धनों को तोड़कर मानव आत्मचेतना' के चौराहे पर पहुंच जाता है । अर्थात् जिस आत्मचेतना से आत्मज्ञान की पृष्ठ-भूमि पर अज्ञान में आत्मभ्रांति का मिथ्याभिमान ध्वस्त हो जाता है और उस सही रास्ते का पूर्ण ज्ञान हो जाता है जिससे मानव को मानव होने का सत्व प्राप्त हो जाता है । निदान वह 'अन्नमय' व प्राणमय' कोष से निकल कर 'मनोमय कोष में चला जाता है ।

अम्बर को   अतिक्रमण है ।

शब्दार्थ—द्युतिमान=कान्तिमान, प्रकाशवान । मनोमय=मन्तश्चेतना के कोष भेद, पंचकोषों में एक भेद । अतिक्रमण=सीमा का उल्लंघन ।

प्रसंग पूर्वोक्त पद्य के प्रसंग में ही पुरूरवा कह रहे हैं कि हम शरीर सत्ता के मोह-बन्धन को तोड़कर किस प्रकार आत्मसत्ता से सम्बन्ध जोड़ सकते हैं । इसी भाव को यहां दार्शनिक शब्दावली द्वारा व्यक्त किया गया है ।

अर्थ—उन्नत पथ पर अग्रसर होने वाले मानव के लिए जो उज्ज्वल, प्रशस्त मनोमय जीवन चमक रहा है उसे यदि हम उपलब्ध करना चाहते हैं तो विषय-वासना से बंधे हुए अन्नमय और प्राणमय' कोषों में विषय रूप से संश्लिष्ट इस पांच भौतिक स्थूल शरीर के मोह परित्यागन और संरोपण

की लौह प्राचीर को भंग करना पड़ेगा तब कहीं हमें प्रकाशपूर्ण मनोमय जगत की झलक मिलेगी।

विशेष—शरीर-विज्ञान के आधार पर पांच कोश माने गये हैं जो मोक्ष प्राप्ति की सोपान हैं। आधुनिक शब्दावली में उनके नाम इस प्रकार हैं— १ अन्नमय २ प्राणमय ३ मनोमय ४ विज्ञानमय तथा ५ आनन्दमय कोश।

'मनोमय कोश' का निर्माण १० इन्द्रिय+मन+पंच-तन्मात्राओं सहित १६ तत्वों के संगठन से होता है। यह विशेष रूप से 'क्रिया प्रधान' कोष है।

यद्यपि यह मानव-देह सब कोशों का आधार तथा धारक है किन्तु 'अन्नमय' तथा 'प्राणमय' कोशों के विज्ञान मात्र से ही मोक्ष नहीं मिल जाता। मोक्ष प्राप्ति में साक्षात्-हेतु तो विवेक ज्ञान है। यह निर्विवाद सर्वसम्मत सिद्धान्त है।'

—स्वामी व्यासदेव Science of Soul पृष्ठ १८७

' तन का विला रही है।

शब्दार्थ—मुखर=मुखर। वातायन=गवाक्ष झरोखा। अद्दृश्य=अधि प्रत्यक्ष से परे, परोक्ष। मृण्मय=पार्थिव। विला=विलीन अन्तर्मुक्त।

अर्थ—जब हम शारीरिक मोह को अतिक्रमित कर जाते हैं तो हम दोनों नैनों के दूरवीक्षण-यन्त्र से उस अप्रत्यक्ष ज्ञानमय मूल सत्ता-रूप परब्रह्म को भांप लेते हैं जहां इस पार्थिव जगत की चकाचौंध अथवा मोहक गति-विधि शान्तिपूर्ण वातावरण से ओत प्रोत परब्रह्म में विलीन होती हुई दिखाई देती है। अर्थात् मानव लौकिक मोह-जाल से ऊपर उठकर अलौकिक ब्रह्म की प्रेम मयी गलियों में भ्रमण करने लगता है।

तन का इंगित करते हैं।

शब्दार्थ—मांसल=मांस प्रधान। आवरण=पर्दा। गोपन=छिपाना। इंगित=संकेत।

प्रसंग—पुरूरवा शरीर के मोह-त्याग की बुद्धि का वर्णन करते हुए स्पष्ट करते हैं कि हमें अपनी आंखों के सामने से वह परदा हटा देना चाहिये जिससे हमारी दर्शन-शक्ति वास्तविक पदार्थ के दर्शन में असमर्थ हो जाती है और जहां हृदय की अपेक्षा चर्मचक्षु ही अधिक क्रियाशील रहते हैं और 'अस्थि

चर्ममय देह में अधिक प्रेम मानते हैं। यही नहीं वे लौकिक प्रेम-प्रधान कम निरक्षर ग्राम बातें को सुनने वाले कर्ण-कुहरों को भी अपना अधीन दास बना लेते हैं जिससे उन प्रेम-कथाओं के श्रवण करने में और लौकिक प्रेमपूर्ण भावों को भरने में उनका वे सहयोग देते हैं तथा इतने प्रभावित हो जाते हैं कि स्पष्ट रूप से अपने भावों को व्यक्त नहीं कर सकते और नेत्रों के इशारे पर ही नाचते हैं।

अतः—मनुष्य को इन्द्रिय जनित वासनाओं से हटकर तथा अपने सम्पूर्ण मोहक आवरण हटाकर अपने अन्तश्चक्षुओं से अपने वास्तविक हृदय को जिसमें प्रेम की पवित्र निर्झरिणी एवं शाश्वत पीयूष धारा बहती है देखना चाहिए। कानों से बाहरी ओर से हटाकर उन नादों का श्रवण करना चाहिए जो प्रत्यक्ष जगत में ध्वनित नहीं होते अपितु जिनका ध्यान से श्रवण आभ्यन्तरिक श्रवण यन्त्रों से ही सम्भव है तथा उनका संकेत भी इतना रहस्यमयी होता है कि पार्थिव शरीर इस बोध करने में असमर्थ है।

का कुछ जपती है।

शब्दार्थ—अटकल-अनुमान-अप्पू = आँख मीचकर अन्दाजा लगाना। बिम्बित = प्रतिबिम्बित। अन्तरस्थ = भीतर में बसा हुआ।

प्रसंग—पुरुरवा तन और मन के ताने-बाने से बने हुए जगत की आस्थाओं को मिथ्या सिद्ध करते हुए अर्थात् बाह्य जगत का खण्डन करते हुए आभ्यन्तर जगत की मान्यता का विश्लेषण कर रहे हैं।

अर्थ—नायक कहता है कि हमने तन और मन की लौकिक गति विधियों से जो कुछ भी समझा है निश्चित किया है और सांसारिक भावनाएँ बनाई हैं वे सब निश्चित प्रतीत नहीं होतीं। वह हमारा ज्ञान तो 'अन्धों' के हस्ति-ज्ञान के सदृश अटकल-पच्चू एवं अनुमान सा लगता है। इस पूर्वाग्रह न्याय में हमारी श्रद्धा आस्था नहीं है। इसलिए तन-मन के बने हुए ताने-बाने के जटिल जाल को छोड़कर हम किसी भी उपाय से उस अलोक में विचरण करना होगा जो तन और मन के इस लोक से बहुत दूर है तथा जिस अध्यात्म लोक में कल्पनाओं का अभाव है और बुद्धि-जनित शंकाओं का इतिश्री है। अर्थात् जो सबका सब एक चिन्ताशून्य बाधा पीड़ा निर्द्वन्द्व लोक है।

विशेष—इसी लोक की रूपरेखा उपनिषदों में निम्न प्रकार से की है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं,
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।

'कामायनी' में भी इस ब्रह्म-लोक का अत्यन्त हृदयग्राही चित्रण किया गया है—

शापित न यहाँ है कोई,
तापित प्राणी न यहाँ है ।
जीवन वसुधा समतल है
सुख सतत है, सौन्दर्य तुम्हारा ।

शब्दार्थ—अरूप सुन्दर=सर्व सुन्दर । कोर-भाग=शेष रूप । विराट छवि=परब्रह्म की झलक । जलदों=मेघों । पटल=परदा । मधुकान्तिमान=सुरम्य शोभाशाली ।

प्रसंग—प्रत्यक्ष लौकिक-सौन्दर्य की अपूर्णता से विरक्त पुरूरवा अलौकिक और पूर्ण सौन्दर्य के जगत की कल्पना करते हुए उर्वशी को सम्बोधित करके कहते हैं कि यदि मैं तुम्हारे इस अपूर्ण सौन्दर्य को जो कि उस पूर्ण सुन्दर ब्रह्म का अंश मात्र है ब्रह्म रूप में देख सकूँ तो अपने आपको मैं परम सौभाग्यशाली समझूँ ।

अर्थ—पुरूरवा कहते हैं कि हे उर्वशी ! तुम्हारे सौन्दर्य पर मुझे पूर्ण आस्था है परन्तु वस्तुतः यदि पारमार्थिक दृष्टि से देखा जाय तो यह तुम्हारा सौन्दर्य उस विराट सत्ता के पूर्ण सौन्दर्य की अल्प सी झलक है जो अज्ञान से घिरी हुई होने के कारण मुझे स्पष्ट दृष्टिगत नहीं हो रही है । अब मैं उस सौन्दर्य को पूर्ण रूप से देखने के लिए इन लौकिक व्यामोह के बादलों को हटाना चाहता हूँ जिससे उस परम रूप ब्रह्मलोक में तुम्हारे मधुर एवं उज्ज्वल सौन्दर्य को वास्तविक रूप में देख सकूँ ।

विशेष—'विशिष्टाद्वैत' सिद्धान्त के अनुसार लेखक ने उर्वशी तथा ब्रह्म में अंश अंशी भाव दिखाने का प्रयास किया है ।

*विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार तीन नित्य तथा स्वतन्त्र पदार्थ हैं— परमात्मा (ईश्वर) चित् (जीव) और अचित् (प्रकृति)। परमात्मा अन्तर्यामी रूप से जीवन और प्रकृति में विद्यमान है। वह अंगी (अंशी) है और जीव तथा प्रकृति उसके अंग (अंश) हैं। ईश्वर एवं जीव अविनाशी (तुलसी) चित और अचित से विशिष्ट परमात्मा ही एकमात्र सत है। चित् और अचित् द्रव्य तथा गुण दोनों हैं। परमात्मा सगुण ब्रह्म है। उसमें सजातीय और विजातीय भेद नहीं है क्योंकि वह एक और अद्वितीय है। पर चित और अचित् के गुण भी होने के कारण स्वगत भेद है। ईश्वर का चित्-अचित के साथ जो सम्बन्ध है वह विशेषण सम्बन्ध है। इसकी पारिभाषिक संज्ञा अपृथक् सिद्धि है।

—हिन्दी साहित्यकोष विशिष्टाद्वैतवाद ७२२

मध्यान्तर भासा से।

प्रमाण—मध्यान्तर=बीच में। अगुलम्य=अलंघनीय न लांघने योग्य। प्रभा=प्रकाश। मुकुर-मेचक=धूमिल दर्पण। प्रतिभासित=प्रतिबिम्बित प्रतिफलित। भूतलोत्तर=पृथ्वी से ऊपर।

अर्थ—शरीर और आत्मा के बीच में जो खाई है वह ऐसी नहीं है जिसे पार न किया जा सकता हो। (शरीर और आत्मा के इस रिक्त स्थान को) ज्ञान के प्रकाश से सशोभित किया जाता है। अर्थात् ज्ञान के इस पुल का माध्यम इन दोनों की दूरी को जोड़ने वाला एकमात्र साधन है। शारीरिक मोह का त्याग इसलिये आवश्यक है कि हम जगत के स्वर्णिम लेकिन झूठ स्वप्नों से निकल कर उत्तरोत्तर जग में अपनी आत्मा का विकास करके उज्ज्वल जीवन के अधिकारी बन सकें।

विशेष— मुकुर-मेचक में रूपक (भिन्न) अलंकार है। यहाँ 'मुकुर-मेचक' शब्द दर्शनीय है। इस शब्द से संसार की उस मोहक रूप को लक्षित किया है जिसके आकर्षण में फंस कर मानव की बुद्धि जड़-पदार्थों पर अपने उद्धार की धारणा कर बैठती है। यहाँ सम्भवतः मुकुरता का अभिप्राय उसकी के स्वर्णिम कलेवर से है जो उसके लिये बन्धन का एकमात्र कारण है और जीवन की उदात्त भावनाओं को विनाशित करने वाला है।

गूँजें भरते हैं।

शब्दार्थ—अश्रावित=अध्वनित । गोपन=प्रच्छन्न अप्रकट । समाधि कानन=ध्यानावस्था । कालद्रुम=समय रूपी वृक्ष । नीरव=शान्त ।

प्रसंग—काल-चक्र के आरों में पिसे हुए सांसारिक प्राणियों की अनुभव शीलता के इतिहास को दृष्टि में रख कर पुरूरवा भविष्य के जीवन को उज्ज्वल बनाने की सद्भावना व्यक्त करते हैं—

अर्थ—अब हमें स्वाद की भक्ति के स्वाद-सम संसार के मिथ्यास्वाद को छोड़कर उस सच्चे आनन्द का आस्वादन करना चाहिए जिसका आभास हमें अभी तक नहीं है। हम उन अश्रावित विचारों को सुनें जिनमें ज्ञान का सरोवर लहरा रहा है और उन गुप्त रहस्यों को पहचानें जिन्हें समाधिस्थ होकर काल-कल्पद्रुम से फूलों की तरह अपनी सुगन्ध विकीर्ण करते हुए रस से परिपूर्ण ग्रहण कर सकते हैं। अर्थात् समय की गति ने हमें यह अनुभव प्रदान किया है कि भविष्य में अपने जीवन को उत्तम बनाएँ सांसारिक निम्नताओं से ऊँचे उठें और उन अपठित पाठों को पढ़ें जो श्रोत्रेतर, कल्याणकारी पुष्प-सम सुगन्धित एवं शाश्वत सरस हैं।

विशेष—'समाधि-कानन' तथा 'काल द्रुम' में 'रूपक' तथा 'कुसुम-सदृश' में 'लुप्तोपमा' अलंकार है।

यह अतिक्रान्ति जाता है।

शब्दार्थ—अतिक्रान्ति=अभ्युत्थान । आमिमिश=संश्लिष्ट । अन्तरात्मा=आध्यात्मिक तत्त्व ।

अर्थ—गायक कहता है—यह सांसारिक सुख भोगों से उपराम स्त्री-पुरुष के लिए वियोग की अवस्था नहीं है किन्तु केवल देह-भाव के मोह से ऊपर उठकर अध्यात्म तत्त्व की ओर अग्रसर होना है। अर्थात् सांसारिक कूप मण्डूकता से मुक्त होकर आध्यात्मिक जगत के मुक्त वायुमण्डल में विचरण करना है जो नर और नारी—दोनों के लिए ही प्रशस्त-कल्याण-पथ है। जीवन का क्रम प्राप्त अभीष्ट भी है।

यह प्रवाल ... रहे हैं।

शब्दार्थ—विमुग्ध=मोहित करने वाले। प्रक्षपित=फेंकता है। बिम्बों=प्रकम्प, प्रतिच्छाया।

अर्थ—शरीर-सीमा से परे हटकर पुरुरवा को जो आत्म-रूप की अनुभूति होती है उसका मनोवैज्ञानिक वर्णन करते हुए कवि कहता है—पुरुष जब अपनी प्रेयसी को विमुग्ध नयनों से देखता है तो उसके हृदय में नयनों के रास्ते अपने आत्म-तत्त्व का प्रवेश करा देता है इसी प्रकार नारी की मौन शोभा वाली अपार प्रतिच्छाया भी नारी के हृदय से निकल कर पुरुष के हृदय में भर कर रहती है।

(भाव यह है कि चर्म-सौन्दर्य से परे भी एक सौन्दर्य है जो नारी और पुरुष की आत्मा का सौन्दर्य कहा जाता है। प्रेमी प्रेमिका शारीरिक-दाम्पत्य भोग से उठने पर आत्म-तन्मयता से ही पा सकते हैं। इससे ऊपर वाले स्तर की पंक्ति—"देह-भ्रम से परे अमरात्मा तक उठ जाता है।" इस भाव को अधिक सशक्त रूप में स्पष्ट करने में समर्थ है।)

यह प्रतिक्रान्ति ... अनुरागिनी नारी।

शब्दार्थ—प्रतिक्रान्ति=प्रतिक्रमण अभ्युत्थान। प्रशस्ति=स्तुति-पाठ। नगपति=हिमालय। तुंग=उच्च। शिवा=पार्वती। अनुरागिनी प्रेमिका।

अर्थ—यह प्रतिक्रमण अर्थात् मनुजत्व से ऊँचे उठकर देवत्व की ओर बढ़ना—दो प्रेमियों की वियोगावस्था नहीं कहला सकती अपितु मानव के सांसारिक उत्तापों से तप हुए रक्त का स्नेहसिक्त शान्त परिवर्तन है। या यूं कहिए कि समस्त प्रकाश प्रदान करने वाले दीपक की लौ में स्थिर परिणति है। यह (प्रतिक्रमण) मानव प्रेम की कोई निन्दा नहीं है अपितु देवत्व की ओर बढ़ने के कारण उसकी स्तुति है। इस क्रिया से मानव को ठगा नहीं जा रहा है अपितु ऊँचे सत्य को समर्पित किया जा रहा है। प्रस्तुत परिस्थिति के त्याग में किसी प्रकार की प्रेम-हानि की गन्ध नहीं है परन्तु अनन्त में अपना मानवीय प्रेम संजोने के कारण अतुल प्रेम का संचय

है। यह प्रतिक्रमण (प्रेमोत्कर्ष) हिमालय की तराई में अंकुरित हुए फूलदार पेड़ों को जड़ से फुनगी तक उन्नत करके हिमालय के उच्च शिखर पर पहुँचाने का सद्-प्रयत्न है। अर्थात् महामहिम हिमालय (मानव के लिए ईश्वर) अपने अजस्र जल-स्रोत से समुत्थापित पादप-समूह को (मानव समाज को) निम्न-स्तर से उठाकर उन्नत पद पर स्थित करने की भावना का प्रतिपादन किया गया है। इसीलिए प्रत्येक प्रेमी तथा प्रेमिका स्वाणु प्रेम का प्रतिक्रमण करके जब कैलाश प्रान्त (आनन्द का स्रोत) में पहुँच जाता है तो शिव और (प्रेमी) कल्याण करने वाली एवं शक्ति प्रदान करने वाली परम प्रेम रूपा पार्वती (प्रेमिका) के समरूप हो जाती है।

विशेष—शास्त्रों में ऐसा लिखा है कि मनुष्य जब तक स्वयं अपने को ब्रह्म न समझने लग जाय तब तक ब्रह्म-तेज की तेजस्विता से तेजस्वी नहीं बन सकता। कहा भी है—'ब्रह्म भूत्वा ब्रह्मार्थं यजत्' और 'शिव केवलोऽहं' अथवा 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि श्रुति-महावाक्य कवि के इसी भाव की शास्त्रीय पुष्टि करते हैं।

पर ... मधुवन का।

शब्दार्थ—दुःसाध्य=कठिन। उड्डयन=उड़ान। मधुसिक्त=मधुरता से सने हुए, अर्थात् मानव-सुलभ वासनाओं की चिपकन से चिपके हुए।

अर्थ—उन्नति-पथ की ओर बढ़ना कितना दुःसाध्य है इसका अनुमान लगाते हुए कवि कहता है कि मानव की अपनी भौतिक आकांक्षाओं को त्याग कर मुक्ति नगर की यात्रा करने में कितना असमर्थ है। वह मार्ग उसके लिए कितना कठिन है। वह मानव इसलिए उस प्रशस्त पथ पर आगे नहीं बढ़ सकता क्योंकि उसके उदात्त भावना रूपी पंख पुष्पों के भीने भीने मकरंद से भीगे हुए भंवरों के पंख की तरह चिपके हुए होने से उड़ान भरने में असमर्थ होते हैं। यदि साहस बटोर कर मानव उन्नत-पथ पर बढ़ने का प्रयास भी करता है तो भौतिक आकर्षण उसे अध-बीच में ही रोकने का प्रयत्न करते हैं। यद्यपि ये सांसारिक सुख आपाततः रमणीय हैं तथापि इनका आकर्षण उन्नति-पथ का अवरोध करने में पर्याप्त सक्षम है। वह इस प्रकार से मानव

को आकृष्ट करने की चेष्टा करता है जैसे भ्रमर को पुष्प की भीनी भीनी गन्ध और मधुर मकरन्द का आस्वाद।

देह प्रेम की ... प्रगति का।

शब्दार्थ—शैशवस्थली=बचपन की भूमि अपरिपक्व ज्ञान की अवस्था। दूर देश=उच्चलोक। प्रेम=सांसारिक प्रेम।

अर्थ—प्रेम की जन्मभूमि यह शरीर ही है। अतः ज्ञान की अपरिपक्वता के कारण हम आनन्द-लोक में जाने में असमर्थ रहते हैं। यह सांसारिक मोह हमें बीच में ही जकड़ लेता है। इस प्रकार यह लौकिक प्रेम ऊर्ध्व प्रगति में बाधक है।

उर्वशी

अतिक्रमण ... आयी हूँ।

शब्दार्थ—उद्भ्रमित=आलोड़ित। मधु=आनन्द-रस (इन्द्रिय-जनित)। शीत-महिमा=देवताओं का शीत गुण। पारिजात-द्रुम=कल्पवृक्ष। देवलोक का एक वृक्ष जो समुद्र-मन्थन में प्राप्त हुए चौदह रत्नों में माना जाता है। यह इन्द्र को मिला था। पुराणों के आधार पर लोगों का कहना है कि यह मनोवांछित वस्तु को देने वाला है। एक कल्प तक इसकी आयु मानी गई है।" (हिन्दी कथाकोष पृष्ठ ११)। अकंप=स्थिर। चलोष्ण=चंचल तथा उष्ण।

प्रसंग—देवताओं का मुख्य गुण शीतलता होता है। इन्द्रिय-जनित काम की मान्यता उनमें नहीं होती। धरती के जीव इसके विपरीत चपल तथा उष्ण होते हैं। जहां वह वैराग्य की बात करता है वहां उसमें देवत्व तथा जहां वह चपल एवं द्वन्द्व में अभिरुचि रखता है वहां मनुज तत्त्व के दर्शन होते हैं। उर्वशी देवलोक की शीतलता से ऊब कर इस उर्वरा धरती पर उतरी थी। मगर जिस पुरुष पुरूरवा के क्रोड़ में उर्वशी ने अपने आपको समर्पित किया था अब वह भी वैराग्य इन्द्रिय शमन तथा ऊर्ध्वलोक की बातें करने लगा है। अतः प्रत्युत्तर में उर्वशी कहती है कि—

अर्थ—हे पुरूरवा! क्या इन्द्रिय जनित अमित आनन्द का अतिक्रमण तुम्हें भी इष्ट है? *(यह तुम क्या कह रहे हो?)* मुझमें तुम जिस शीत

महिमा को जगा रहे हो उसे तो मैं देवलोक में कल्पवृक्ष की अकंप शाखा पर टांग आई हूं। अर्थात् तिलांजलि दे आयी हूं और अपना तथा उन्मुक्त मानवी के समान बनकर ही इस धरती पर जीने आई हूं। (अतः आप मेरे सम्मुख इस देवलोक या उर्वशीलोक की महिमा का गान मत करो। अपना मानवी रूप में ही मुझसे प्रेम करो)।

पर म चुम्बन से।

शब्दार्थ—उर-पीड़क=हृदय को पीड़ा देने वाला। अधर-पुट=दोनों ओष्ठों को।

प्रसंग—मनुष्य का यह जन्मजात स्वभाव है कि वह किसी के रोकने से नहीं रुकता। इससे तो उसकी गति द्विगुणित हो जाती है। मगर विनय तथा याचना के सम्मुख वह अपना समर्पण अवश्य कर देता है। इस मानव-तत्त्व को मनोवैज्ञानिक रूप से समझ कर उर्वशी कहती है—

अर्थ—हे प्रियतम! आप भूतल पर रहिए या आकाश पर (अपने चित्त को स्थूल एवं भौतिक आनन्द में लगाइए या अन्तर्मुखी होकर देवत्व को प्राप्त कीजिए) कहीं भी रहिए मैं आपके लक्ष्य में बाधक नहीं बनना चाहती। लेकिन मेरी एक कामना अवश्य है कि आपके वक्षस्थल पर मेरा कपोल इसी भांति रहने दो और इसी प्रकार मेरे हृदय को कसमसाने वाले दृढ़ आलिंगन में कसे रहो तथा अपने कठोर चुम्बन से मेरे ओष्ठ-द्वय को जलाते रहो।

किन्तु आह बाध्य है।

शब्दार्थ—निष्पेषित=पिसता रहना। निष्पेषण=रगड़।

अर्थ—(उर्वशी की ऐसी प्रेमसिक्त वाणी सुनकर पुरूरवा में पार्थिक रूप उभर कर सामने आ गया। वह उर्वशी को अपने आलिंगन पाश में बुरी तरह जकड़ कर उस कली को बुरी तरह मसलने लगा। आखिर बुरी तरह कसमसा कर उर्वशी को कहना ही पड़ा—) आह! ऐसा मत करो! अपनी भुजाओं को थोड़ा सा शिथिल करो। यद्यपि आवेश में किया हुआ यह निष्पेषण हृदय में एक मर्मान्तिक शांति तथा असित आनन्द का उदय करता है मगर फिर भी तुम इतनी जोर से मुझे निष्पेषित (रगड़ो) मत करो।

तुम पर्वत ... जाऊँगी ।

शब्दार्थ—समवतर=समतान । श्याम=कृष्ण ।

अर्थ—हे प्रियतम ! यदि तुम पर्वत हो तो मैं उसके चारों तरफ लिपटी रहने वाली लता हूँ । यदि तुम अपनी समवतर भुजाओं से मेरा इतनी जोर से निष्पीड़न करोगे तो मैं तुम्हारी दृढ़ भुजाओं में ही विह्वल, प्रेम-रस से व्याकुल एवं तृप्त होकर मूर्छित हो जाऊँगी ।

विशेष—कवि ने प्रेमी तथा प्रेमिका की पर्वत तथा लता से संगति बिठाई है । यह न तो तर्कसंगत है न प्रशंसनीय है और न ही यथार्थपूर्ण । पर्वत के सामने लता का उपमान तो ऊंट के मुँह में जीरे वाली बात हो गई । यदि पर्वत के स्थान पर तरु का उपमान दिया जाता तो अधिक प्रशंसनीय होता क्योंकि लता वृक्ष से ही लिपटती है पर्वत से नहीं । इस प्रसंग में 'प्रसाद जी' तथा 'श्री ओमप्रकाश शर्मा' के निम्न उदाहरण अधिक प्रशंसनीय हैं—

मैं अभी तोलने का करती
उपचार, स्वयं तुल जाती हूँ ।
भुजलता फँसा कर नर-तरु में,
झूले सी झोंके खाती हूँ ।'

—प्रसाद : कामायनी

× × ×

'बाँहों के बिछुड़े अधरों का निश्छल चुम्बन
रसमयी लता का तरु से आलिंगन ।

—ओमप्रकाश शर्मा

... का, यों नहीं ... पर ।

शब्दार्थ—कौतुक=तमाशा । नगपति=हिमालय । तुङ्ग=ऊंची । शृंगों=चोटियों । मौलि=भाल मस्तक । मृगांक=चन्द्रमा । उष्णीष=पगड़ी । छायातप-द्रुम=छाया एवं चाँदनी का (रंगबिरंगा) वृक्ष ।

अर्थ—(पुरूरवा के शारीरिक प्रेम का उद्दाम वेग देख कर उर्वशी कुछ सजग सी गई है । वह अपने प्रियतम का ध्यान अपने से हटाकर प्रकृति की

महिमा को गा रहे हो उसे तो मैं देवलोक में कल्पवृक्ष की अकंप शाखा पर टांग आई हूं। अर्थात् तिलांजलि दे आयी हूं और चपल तथा उष्ण मानवी के समान नश्वर ही इस धरती पर जीने आई हूं। (अतः आप मेरे सम्मुख इस देवलोक या उर्वशीलोक की महिमा का गान मत करो। अपने मानवी-रूप में ही मुझसे प्रेम करो)।

पर, मैं   चुम्बन से।

शब्दार्थ—उर-पीड़क=हृदय को पीड़ा देने वाला। अधर-पुट=दोनों ओष्ठों का।

प्रसंग—मनुष्य का यह जन्मजात स्वभाव है कि वह किसी के रोकने से नहीं रुकता। इससे तो उसकी गति द्विगुणित हो जाती है। मगर विनय तथा याचना के सम्मुख वह अपना समर्पण अवश्य कर देता है। इस मानव-तत्त्व को मनोवैज्ञानिक रूप से समझ कर उर्वशी कहती है—

अर्थ—हे प्रियतम! आप भूतल पर रहिए या आकाश पर (अपने चित्त को स्थूल एवं भौतिक आनन्द में लगाइए या अन्तर्मुखी होकर देवत्व को प्राप्त कीजिए) कहीं भी रहिए मैं आपके लक्ष्य में बाधक नहीं बनना चाहती। लेकिन मेरी एक याचना अवश्य है कि आपके वक्षस्थल पर मेरा कपोल इसी भांति रहने दो और इसी प्रकार मेरे हृदय को कसमसाने वाले दृढ़ आलिंगन में कसे रहो तथा अपने कठोर चुम्बन से मेरे ओष्ठ-द्वय को जलाते रहो।

किन्तु, आह   दारुण है।

शब्दार्थ—निष्पेषित=पिसना रगड़ना। निष्पेषण=रगड़।

अर्थ—(उर्वशी की ऐसी प्रेमसिक्त वाणी सुनकर पुरूरवा में पाशविक रूप उभर कर सामने आ गया। वह उर्वशी को अपने आलिंगन पाश में बुरी तरह जकड़ कर उस कली को बुरी तरह मसलने लगा। आखिर बुरी तरह कसमसा कर उर्वशी को कहना ही पड़ा—) आह! ऐसा मत करो! अपनी भुजाओं को थोड़ा सा शिथिल करो। यद्यपि आश्लेष में किया हुआ यह निष्पेषण हृदय में एक मर्मान्तिक शान्ति तथा अमित आनन्द का उदय करता है मगर फिर भी तुम इतनी जोर से मुझे निष्पेषित (रगड़ो) मत करो!

तुम पर्वत ... जाऊँगी ।

शब्दार्थ—बलवतर=बलवान । क्षाम=कृश ।

अर्थ—हे प्रियतम ! यदि तुम पर्वत हो तो मैं उसके चारों तरफ लिपटी रहने वाली लता हूँ । यदि तुम अपनी बलवत्तर भुजाओं से मेरा इतनी ओर से निष्पेषण करोगे तो मैं तुम्हारी दृढ़ भुजाओं में ही विह्वल, श्रम रस से व्याकुल एवं कृश होकर मूर्छित हो जाऊँगी ।

विशेष—कवि ने प्रेमी तथा प्रेमिका की पर्वत तथा लता से संगति बिठाई है । यह न तो तर्कसंगत है न श्लाघनीय है और न ही यथायुक्त । पर्वत के सामने लता का उपमान तो ऊँट के मुँह में जीरे वाली बात हो गई । यदि पर्वत के स्थान पर तरु का उपमान दिया जाता तो अधिक श्लाघनीय होता क्योंकि लता वृक्ष से ही लिपटती है पर्वत से नहीं । इस प्रसंग में 'प्रसाद' की तथा 'श्री ओमप्रकाश शर्मा' के निम्न उद्धरण अधिक प्रशंसनीय हैं—

मैं कभी तोलने का करती,
उपचार, स्वयं तुल जाती हूँ ।
भुजलता फँसा कर नर-तरु में,
झूले सी झोंके खाती हूँ ।'

—प्रसाद : कामायनी

× × ×

"वर्षों से बिछुड़े अधरों का मिलन चुम्बन,
लिपटती लता का तरुवर से आलिंगन ।"

—ओमप्रकाश शर्मा

का यों भरी ... प्यार ।

शब्दार्थ—कौतुक=तमाशा । मरकत=हरितमणि । उर्वश=उर्वशी । गूँजी=बोलियाँ । मौलि=भाल, मस्तक । मृणाल=कमल । उष्णीष=पगड़ी । चन्द्रातप-कुट्टिम=छाया एवं चाँदनी का (फर्श) अर्थ ।

अर्थ—(पुरूरवा के ... प्रेम का उत्ताप देख कर उर्वशी भी ... हो गई है । वह अपने ... का ध्यान करके ... पुरूरवा की

सुषमा की ओर खींचना चाहती है । यह चित्रण भी शृंगार रस के 'उद्दीपन' में अधिक वृद्धि करता है) । ना । ऐसा मत करो । अर्थात् इतने कठोर आलिंगन-पाश में मुझे मत जकड़ो अपनी तरफ से प्रेमी का ध्यान हटाकर उर्वशी कहती है कि देखो उधर कितना सुन्दर दृश्य है । हिमालय की ऊंची ऊंची समुज्ज्वल तथा हिम-भूषित चोटियों पर यह कौन है जो नई उज्ज्वलता की कूची सी फेर रहा है ? (यहां चन्द्रमा चित्रकार है तथा उसकी शीतल एवं समुज्ज्वल किरणें तूलिका के समान हैं) । (देखो) कुछ वृक्षों के हरित भाल तथा पत्तों से छनती हुई चन्द्रमा की किरणों नीचे छाया देखकर वन पर भेद सी गई हैं । (यहां उद्दीपन का चर्मरूप प्रतिपादित हो रहा है) । यह धूप-छांह की जाली चंदा-चांदनी ने स्वयं ही निर्मित की है । ऐसा लगता है मानो काले और सफेद संगमरमर के फर्श पर वन के सारे वृक्ष पीताम्बर पगड़ी बांध कर निष्कंप एवं मौन खड़े हैं ।

विशेष—उपरोक्त पंक्तियों में रति भाव का उद्दीपन करने के लिए 'उद्दीपन विभाव' का हृदयग्राही चित्रण है । प्रमुख संस्कृत एवं हिन्दी के आचार्यों के आधार पर 'उद्दीपन विभाव' की शास्त्रीय परिभाषा इस प्रकार है—

उद्दीपन विभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये
आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालादयस्तथा ।

—विश्वनाथ साहित्यदर्पण ३ । १३१ ।

अर्थात् रस को उद्दीप्त करने वाली आलम्बन की चेष्टादि तथा देशकाल की स्थितियां उद्दीपन विभाव हैं ।

आचार्य देव के अनुसार—

रसहि जगावे दीप ज्यों
उद्दीपन कहि सोइ ।

—देव भावविलास विभाव ।

भाव यह है कि आश्रय के हृदय में उत्पन्न रति आदि स्थायी भावों को अधिकाधिक उद्दीप्त तथा तीव्र करने वाला कारण उद्दीपन विभाव कहा जाता है ।

"आलम्बन की चेष्टा तथा देश, काल आदि को उद्दीपन विभाव माना जाता है। —हिन्दी साहित्य कोश उद्दीपन विभाव : १३० ।

अलंकार—श्लेषा ।

चमक रही लगता है ।

शब्दार्थ—कर्पूर-धूलि=(चाँदनी रूपी) कपूर की धूल । दिग्वधुओं=दिशा रूपी वधुओं । आनन=मुख । रजनी=रात (नायिका) । अधित्यका=पर्वत की चोटी उच्च प्रदेश । कौमुदी=चाँदनी । मही=धरती । व्योम=आकाश ।

अर्थ—(रति भाव की परिपुष्टि के लिए उपरोक्त 'उद्दीपन-विभाव' का ही चित्रण किया जा रहा है। उर्वशी कह रही है कि) दिशा रूपी वधुओं के मुखों पर मानो कपूर की धूलि जिसका वर्ण श्वेत होता है चमक रही है। (रात एक नायिका के समान है जो प्रेम की गन्ध से सुवासित है अत कवि कहता है कि)—रजनी इतनी हृदय को शीतल एवं मादक बनाने वाली हो गई है जैसे उसके अंगों पर किसी ने चन्दन का लेप कर दिया हो। (जैसे भी काली रजनी पर श्वेत चन्द्रमा की चाँदनी चन्दन के समान लगती है)। ये सामने दिखाई देने वाली पर्वत-श्रृंखलाएँ (उच्च प्रदेश) दिन में तो इतनी बड़ी दिखाई नहीं दे रही थीं परन्तु अब न जाने क्या हुआ कि अब ये अनन्त सागर के समान लहराती हुई नजर आती हैं। (व्यञ्जना के आधार पर अधित्यका उर्वशी के प्रेम की महत्वाकांक्षा है जो दिन की तपन में इतनी बढ़ी हुई नजर नहीं आती थी मगर रात्रि के इस निस्तब्ध वातावरण में वे महत्वाकांक्षाएँ सागर के झकोरों की तरह झूम रही हैं, जिन्हें वह अधित्यका के उद्दीपन-विभाव से नायक पुरूरवा को बताना चाहती है)। निशीथ की मनोरम चाँदनी ने पृथ्वी (स्त्रीलिंग) तथा आकाश (पुल्लिंग) के बीच दूरी को भी कम कर दिया है। (भू और आकाश यहाँ पर प्रेमी तथा प्रेमिका पुरूरवा तथा उर्वशी के प्रतीक हैं। दिन में अनेक सांसारिक बन्धनों के कारण दोनों को एक-दूसरे से बहुत दूर रहना पड़ता है—मगर रात को दोनों परस्पर निकट आ जाते हैं)। रजनी का पृथ्वी (प्रेमिका) कुछ अमर की

ओर उठी हुई लगती है और आकाश ऐसा लगता है जैसे झुक कर उस पर छा जाना चाहता हो।

विशेष— उठी हुई-सी मही व्योम कुछ झुका हुआ लगता है। इस भाव के अनुरूप ही दिनकर जी ने प्रथम पृष्ठ पर भी नटी के मुख से ये पंक्तियाँ कहलाई हैं।

"सारी देह समेट निविड़
आलिंगन में भरने को
गगन खोल कर बाँह विशुद्ध
वसुधा पर झुका हुआ है।"

ऐसी पुनरावृत्ति होने पर भी भाव के सौन्दर्य में किसी प्रकार की नीरसता नहीं आ पाई। कारण व्यक्ति की कल्पना शक्ति बड़ी प्रखर है जो उसी भाव को कल्पना की इन्द्रधनुषी तूलिका द्वारा नाना रंग मयी बना देता है।

इसी भाव को भाव और भाषा के धनी, नवोदित कलाकार श्री ओम प्रकाश शर्मा ने भी व्यक्त किया है। यथा—

"वह दूर क्षितिज के परदे के पीछे जो हलचल होती है
वसुधा नभ की दृढ़ बाहों में अभिसार सेज पर सोती है।'

—ओमप्रकाश शर्मा धुंधला अन्तर

रस प्रसून   दिये हों।

शब्दार्थ—चतुर्दिक=चारों दिशाओं में। निखिल=सम्पूर्ण। मनसिज=कामदेव।

अर्थ—चित्त में रस का उद्रेक करने वाली चन्द्रमा की मधुसिक्त किरणें चारों दिशाओं में ऐसे चमक रही हैं मानो कामदेव ने सम्पूर्ण सृष्टि के प्राणों में कंपन भरने के लिए अपने बाण छोड़ दिए हों।

विशेष—उत्प्रेक्षा अलंकार।

पुरूरवा

हाँ समस्त   घूम रही है।

शब्दार्थ—विस्मृतियाँ=पुरानी स्मृतियाँ। निस्तल समाधि=अस्तगुंफ अचेतन मन। चन्द्रिका=चन्द्रमा की किरणें। लक्षणा में इसका अर्थ है—प्रेयसी का स्मरण।

अर्थ—(उपरोक्त पंक्तियों में उर्वशी द्वारा उद्दीपन-विभाव का वर्णन किया गया है। इस प्रत्युत्तर में पुरूरवा कहते हैं कि) हाँ, सम्पूर्ण नभमण्डल नीरवता के शान्त सौन्दर्य से आप्लावित है। चन्द्रमा मूक शीतल एवं निर्विकार कुसुम के समान चमक रहा है। (इस नीरव एवं मधुमिश्रित वातावरण में) पुरानी स्मृतियाँ, (जो कि काल की गहराई में लुप्त हो गई थीं), पुन निस्तल समाधि से बाहर निकल कर (पुरानी बातों को ताजा कर रही हैं)। ऐसा प्रतीत होता है जैसे चन्द्रिका रूपी मेरी नायिका मेरे उन्मद चित्त रूपी स्वप्नलोक में विचरण कर रही है।

विशेष—उपमा उत्प्रेक्षा।

और गगन ... आर्थे है ?

शब्दार्थ—आग्नेय जीव=तारे। परण्य=जंगल। चूर्णों=चूरे। चन्द्रमूर्तिनिर्मित हिमकण=चन्द्रमा की किरणों को पीस कर बनाए गए बर्फ के छोटे-छोटे अंश। उद्यान=बाग। रंध्रों=छिद्रों। सित=श्वेत। पारावत=हाथी।

अर्थ—नीले आकाश पर आच्छादित तारों की विभिन्न कल्पनाएँ करता हुआ पुरूरवा उर्वशी से कहता है—

और आकाश पर जो असंख्य आग्नेय-जीव (तारे) बैठे हैं वे ऐसे प्रतीत होते हैं मानो किसी दुर्गम जंगल में हीरे आदि के चूर्ण हों (जिनसे ये उनकी यह आभा प्रतिभासित हो रही है)। अथवा चन्द्रमूर्ति-निर्मित-हिमकण (ओस बिन्दु) किसी बाग में चमक रहे हैं। अथवा आकाश के छिद्रों में श्वेत-वर्णी पारावत (हाथी) बैठ गया है, या ये कल्पतरु के पुष्प हैं (जो सम्पूर्ण नभ मण्डल में बिखर गये हैं)। अथवा कवि कल्पना करता है कि ये दिव्यलोक की अप्सराओं के देदीप्यमान नेत्र हैं।

विशेष—उत्प्रेक्षा तथा सन्देह अलंकार।

पुरूरवा तथा उर्वशी का चित्रण किया है। अतः यहाँ 'अप्रस्तुत प्रशंसा' अलंकार हुआ। अप्रस्तुत प्रशंसा की परिभाषा इस प्रकार है—

अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया ॥९८॥

अप्राकरणिकस्याभिधानेन प्राकरणिकस्याऽऽक्षेपोऽप्रस्तुतप्रशंसा ।

—मम्मट काव्यप्रकाश उल्लास १० २६०

पुरूरवा

[illegible] लेती है।

शब्दार्थ—सहस्रकल्प=युग-युगान्तर । चन्द्रतिलक=चन्द्रमा का कलंक धूमिल चन्द्रमा । विमल विधु=चन्द्रमा । धात्री=उपमाता या माता । शर्वरी=शरद्-पूर्णिमा की रात । श्रम-बिन्दु=स्वेदकण पसीना । श्रमहारी=थकान को दूर करने वाली । तिमिरांचल=अंधकार रूपी पर्दा । निनाद=आवाज ।

अर्थ—चन्द्रमा तथा रात्रि की महिमा का गुणगान करते हुए पुरूरवा कहता है—

चन्द्रमा झिलमिल करते हुए भावों के लिए सहस्रकल्प तथा स्वप्नों के लिये अपने धूमिल स्वरूप के समान है। (और) स्तब्ध रात्रि हमारी संरक्षिका एवं माता रूपा है। जब शारदी निशा आती है तो वह विश्व के प्राणियों के पसीने तथा स्वच्छ किरणों के लगे हुए लांछन को ही नहीं पोंछती अपितु अपने तिमिरांचल में जो श्रम का हरण करने वाला है, मधुर है तथा शान्ति प्रदान करने वाला है सम्पूर्ण निखिल के कोलाहल भयंकर आवाजों को भी समेट कर रख लेती है।

विशेष—इस पद्यांश की प्रथम दो पंक्तियों का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है—

'यह दिन हृदय में झिलमिल करने वाले भावों एवं चन्द्रमा के समान मधुर स्वप्नों का शत्रु है।"

उपरोक्त पद का भाव यह है कि दिन की कर्कशता में हृदय के कोमल तन्तु पल्लवित नहीं हो पाते। अतः निस्तब्ध रात्रि ही एक ऐसा माध्यम है जो अपने नीरव वातावरण में मानव-हृत्तन्त्री को निनादित कर देती है और

दिवस गत उसकी सम्पूर्ण थकितताओं एवं उत्तापों पर चन्दन-सदृश शीतल प्यार का आलेपन कर देती है।

'तिमिरांचल' में 'रूपक' अलंकार है।

तिमिर आभि॰   होती है।

शब्दार्थ—तिमिर=अंधकार। आभा=ज्योति। अन्तरस्थ=हृदय में स्थित। समंजस=एकत्रित। धरणी=पृथ्वी। [illegible]=मूक।

अर्थ—अंधकार शान्ति का व्यूह तथा आन्तरिक दिन को ज्योति प्रदान करने वाला है। हृदय में अवस्थित जिन कोमल भावों के बीज दिन में बिखर जाते हैं, उन्हें हम रात्रि में दुबारा चुन चुन कर एकत्रित करते हैं। (भाव यह है कि जिस प्रकार एक व्यापारी सारे दिन के लेन-देन को संध्या के समय अपने बहीखाते में अंकित कर लेता है उसी प्रकार मनुष्य माया-मोह में फंसा हुआ होने के कारण दिन में तो अपने भावों का संकलित कर नहीं पाता मगर संध्या के निस्तब्ध वातावरण में व्यापारी की भांति वह अपने सारे बिखरे हुए भावों को हृदय रूपी बहीखाते में लिख लेता है और पुनः उसके फल अफल का लेखा-जोखा करता है)। (अंधकार की मुख्य विशेषता बताते हुए कवि कहता है कि) जब अंधकार का आगमन होता है तो सारी धरती मूक हो जाती है। अर्थात् ऐसे निस्तब्ध वातावरण में सभी प्राणी बहिर्मुखी प्रवृत्तियों से परे हट कर अन्तर्मुखी हो जाते हैं।

जो उनसे   बन कर।

शब्दार्थ—धूमिल=छिप जाना। सोदर=एक उदर से उत्पन्न सगा भाई। उडुगों=नक्षत्र तारे। आलोक-शिखाएँ=प्रकाश-पुंज।

अर्थ—जो स्वप्न दिवस के प्रकाश में धूमिल हो जाते हैं अथवा मग्न हो हृदय से निकले हुए भाव जिनका अस्तित्व पूर्णतः विद्यमान होता है दिवस में नक्षत्रों की भांति संकोचशील एवं अदृश्य हो जाते हैं, वही भाव रात्रि के अवसर पर ज्योतिमान जाज्वल्यमान प्रकाश-पुंज बन कर हमें चारों तरफ से घेर लेते हैं।

शिशु पोष-आवृति   आलिंगन में।

शब्दार्थ—पोष-आवृति=पोष के आवरण अथवा पोष द्वारा आवरण

'कामायनी' के माध्यम से प्रसाद ने सामरस्यवाद का अत्यन्त सशक्त वर्णन किया है।

—हिन्दी साहित्य कोश सामरस्यवाद ९९

उपरोक्त सिद्धान्तों के आधार पर 'कामायनी' से 'भूमा' के कुछ महत्त्वपूर्ण उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

"अपने में भर सब कुछ कैसे,
व्यक्ति विकास करेगा।
यह एकान्त स्वार्थ है उसका
अपना नाश करेगा॥
औरों को हँसते देखो मनु
हँसो और सुख पाओ।
अपने सुख को विस्तृत करके,
सबको सुखी बनाओ॥'

× × ×

'समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था।
चेतना एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था।

—प्रसाद : कामायनी

समता मयी महावरण में।

शब्दार्थ—अवाक्=मौन। महावरण=गहन परदा।

अर्थ—जब रात्रि भेद भाव को भूलकर एवं उदारमना बनकर अपना शीतल अंचल फैलाती है तो राजा अपने मुकुट तथा बन्दी अपनी काल-कोठरी की कड़ियों को भूल जाते हैं। भाव यह है कि निशा-माँ की गोद में आकर राजा अपने आपको राजा नहीं समझता और बन्दी अपने आपको बन्दी नहीं मानता। उसके शीतल आंचल में मुँह छिपाने पर वे अपनी सभी तुच्छ भावनाओं को भूल जाते हैं। उस समय सम्पूर्ण जगत की चेतना किसी अनिर्वचनीय, सुखद माया के गहन आवरण में मौन होकर बहती है।

विशेष—इस पद में 'निशा' का मूर्तिकरण 'उपासमना ममतामयी नारी' के रूप में किया गया है। संस्कृत के एक कवि ने 'उपासना' की परिभाषा निम्न प्रकार से दी है—

"मम प्रिय, परो वेति
ममता समुपेतसाम्।
उपासनविशिष्टानां तु,
बहुधा कूटमानकम्।"

निशा का यही उदार रूप उपरोक्त पद्यांश में 'निशा' के लिए वर्णित किया गया है।

सम्राज्ञी विभ्राट फूलों के।

शब्दार्थ—सम्राज्ञी=महारानी। विभ्राट=ज्ञानमण्डल से प्रकाशित 'बृहत् हिन्दी कोश' में इसका अर्थ बखेड़ा गड़बड़ी तथा आफत दे रखा है। मगर यह शब्द सम्राज्ञी के लिए विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। अतः यहाँ पर इसका अर्थ होगा—'अलंकार से दीप्त'। दुकूल=वस्त्र दुपट्टा। कूल-कीलित=किनारों पर जड़ी हुई। चिकुर=बाल। दाम=माला या लड़ी।

प्रसंग—कविवर दिनकर ने इस पद में रात्रि का अलंकारों से दीप्त मनोरम नारी के रूप में मानवीकरण किया है।

अर्थ—पुरूरवा उर्वशी से कहता है कि क्या कभी तुमने अलंकारों (आभूषणों) से दीप्त (ऐसी) सम्राज्ञी को समारोह-प्रांगण में जाते हुए देखा है जो ऐसे श्याम वस्त्रों से आभूषित है जिन पर तारे (झिलमिल-सितारे) शोभित हैं, दामन की झालर विभा से गुम्फित है और जिसकी अलकावली में श्वेत एवं सुरभित पुष्पों की लड़ियाँ शोभायमान हो रही हैं।

विशेष—'सांगरूपक' द्वारा यहाँ विभ्राट सम्राज्ञी रात्रि है। इसकी कालिमा सम्राज्ञी के वस्त्र हैं। झिलमिल-सितारे आकाश में चमकते हुए तारे हैं। दामन की झालर चन्द्रमा की आभायमान किरणें हैं। इसी प्रकार नायिका के बाल निशा का तमस तथा श्वेत पुष्पों की लड़ी नक्षत्र-मण्डल है। चूँकि

यहाँ रात्रि का अप्रस्तुत रूप में वर्णन किया गया है। अतः यहाँ 'अप्रस्तुत प्रशंसा' अलंकार भी है।

इन पंक्तियों में एक और बड़ी विशेषता है। 'काव्य का उदात्त तत्त्व' इसमें बड़े स्वाभाविक रूप से चित्रित हुआ है। नक्षत्र-खचित रजनी विशाल निशा को कल्पना की तूलिका से एक रमणीय नारी का रूप दे देना वास्तव में समर्थ कवि की ही विशेषता है। रजनी विशाल रात्रि को रमणीय नायिका के चौखटे में सहज रूप में बाँध देना कम श्लाघनीय नहीं है। वास्तव में जिस कवि के काव्य में 'उदात्त तत्त्व' की जितनी अधिक प्रचुरता होगी वह उतना ही शाश्वत काव्य प्रणेता होगा और उसका प्रभाव उतना ही अधिक स्थायी होगा। 'प्रसाद' और 'निराला' के काव्य में इस तत्त्व की प्रचुरता है। यहाँ 'दिनकर' ने रात्रि का नायिका के रूप में उदात्त चित्र खींचा है वहाँ प्रसाद के काव्य का यह अंश देखिये जिसमें उषा को नारी का उदात्त रूप दिया है—

'बीती विभावरी जाग री
अम्बर पनघट में डुबो रही
तारा घट ऊषा नागरी।

—'प्रसाद'

निराला की 'राम की शक्ति पूजा' की प्रथम तीन पंक्तियाँ भी दर्शनीय हैं—

"रवि हुआ अस्त
ज्योति के पत्र पर लिखा अमर
रह गया राम-रावण का अपराजेय समर आज का —

—सू॰ 'निराला'

और सुना है ... करती है?

शब्दार्थ—अस्फुट=अस्पष्ट। कौशेय वसन=रेशमी वस्त्र। अलिन्द=महल का छज्जा। प्राचीरों=दीवारों। लम्बित=लटके हुए।

अर्थ—जब (निशा रूपी) रानी मंथर गति से उज्ज्वल चाँदनी में विहार करने के लिए निकलती है तब क्या कभी तुमने लटकते हुए रेशमी दुपट्टे के मन्द-मन्द घर्षण से उत्पन्न अस्पष्ट लेकिन संगीतमय ध्वनि सुनी है। यह

भासित ऐसा है कि कभी मणिमय छज्जे पर से तथा कभी मोतियों (तारों) से खचित आकाश-रूपी दीवार पर से उठता हुआ दृष्टिगत होता है।

विशेष—इस पद की अन्तिम पंक्ति से यह स्पष्ट होता है कि कवि ने निशा रूपी नारी को 'रूप-गर्विता' नायिका के रूप में दर्शित किया है। 'रूपगर्विता-नायिका' नायिकाओं के अवस्थानुसार स्वतन्त्र विभाजन का एक भेद है।

हिन्दी साहित्य कोश पृष्ठ २५६ पर 'रूपगर्विता' की व्याख्या इस प्रकार की गई है— 'अपने सौन्दर्य पर गर्व करने वाली नायिका—'बातें अपने रूप को अति ही होय गुमान। (मतिराम रसराज १०४) कभी यह गर्व नायिका की स्वतः उक्ति में भासित होता है और कभी अन्य की उक्ति द्वारा प्रकट किया जाता है। मतिराम की यह नायिका स्वयं गर्वोक्ति करती है— 'बिन्दु में मुखचन्द्र को लखि ललचात चकोर' पर उसका आना नहीं हो पाता (वही १०६) पद्माकर ने अन्य की उक्ति में नायिका के गर्व की व्यंजना की है—'चन्द्रमुखी कहूँ होती दु की सी न कोऊ कहियो दुखी रहिबो करो। (भा० वि० १ १९९)। इस रूप सम्बन्धी पद के माध्यम से कवियों ने नायिका के रूप सौन्दर्य का अलंकृत और ऊहात्मक वर्णन किया है।

निशा आमिष   काल-गह्वर से ?

शब्दार्थ—क्रोड़=गोदमा। स्फटिक भवन=(श्वेत) संगमरमर रूपी महल। ज्योति=चन्द्रमा की किरणें। कौमुदी=चाँदनी। दृश्य-श्रव्य—ये काव्यशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं। जिसे नेत्रेन्द्रिय द्वारा देख कर आनन्द का उपभोग किया जाय उसे दृश्य तथा श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा आनन्द ग्रहण करने की अवस्था में श्रव्य होता है। श्रुतियों=कानों। सुन्दरता=सुन्दर नारी। यहाँ कवि ने सुन्दरता के अमूर्त रूप को रूप प्रदान करने का सफल प्रयास किया है। 'प्रसाद जी' ने भी 'कामायनी' में स्थान-स्थान पर अमूर्त भावों का मूर्तीकरण किया है। जैसे 'लज्जा'— मैं वह हल्की सी मसलन हूँ। जो बनती कानों की लाली। —चिर विस्मृत=अनन्त काल से भुलाये हुए। पुरातन=प्राचीन। काल-गह्वर=(भूत) काल रूपी गुफा से।

अर्थ—निशा शान्ति का नीड़ है, (इसकी गोद में आश्रय लेने पर किसी प्रकार की अशान्ति हृदय के आंगन में शोर नहीं करती।) लेकिन फिर भी इस सुरभित संगमरमर रूपी भवन (प्रकृति जिसका अणु-अणु चाँदनी से आवृत है) से कोई गीत चन्द्रमा की किरणों के साथ-साथ आगे चलता हुआ दीख पड़ता है। यह गीत कहाँ से आया? इसे कौन गाता है? हम सबकी एक विशाल कल्पना करते हुए पुरूरवा कहता है कि या तो स्वयं चाँदनी ही गीत गाते हुए विचरण कर रही है अथवा तारों द्वारा गाए गए मधुर गान को चान्दनी अपनी किरणों के झूले पर सैर करा रही है, अथवा यह किसी खोई हुई सुन्दर रमणी की सुन्दरता का ही प्रतिरूप है जो निश्वासों से ध्वनित होने वाली मधुर रागिनी है जो कुसुम अथवा गन्ध बनकर कानों में समा रही है। (अन्त में कवि एक अद्भुत ही अपूर्व कल्पना करता है। उसका कहना है कि) अन्यथा यह लम्बी अवधि से भुला दिए जाने वाले किसी प्राचीन कवि की कविता है जो (दूत) काल रूपी गहन गुफा से निकल कर इस निस्तब्ध रात्रि में गुंजरित हो रही है।

विशेष—कौमुदी तथा 'सुन्दरता' आदि अमूर्त भावों का मूर्तीकरण किया गया है। 'स्फटिक-भवन' तथा 'काल-गह्वर' की परिभाषा इस प्रकार है—

जब उपमेय को यह निश्चय न हो कि वास्तविक वस्तु ये हैं अथवा वे हैं। जैसे एक और उदाहरण भी द्रष्टव्य है—

"सारी है कि नारी है नारी है कि सारी है
सारी ही की नारी है कि नारी ही की सारी है।"

'निशा' के इसी भाव को 'कामायनी के आशा' सर्ग में श्री जयशंकर प्रसाद' ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

"नभ के सुन्दरतम रहस्य है
कांति-किरण रंजित तारा।
व्यथित विश्व के सात्विक शीतल
बिन्दु भरे नव रस सारा।

आतप तापित जीवन-सुख की
शांतिमयी छाया के देश !
हे अनन्त की गणना ! देते
तुम कितना मधुमय संदेश !
—प्रसाद : कामायनी आशा ४७ ४८

यह अगाध ... जाते हैं।

शब्दार्थ—निश्चेत=अचेतन।

अर्थ—पुरूरवा उर्वशी से कहता है—इस समय प्रकृति की यह सुषमा अगाध और अनन्त है जिसकी प्रशान्त धारा में हम अपनी चेतना को भूल कर (अज्ञात दिशा की ओर) बहे चले जा रहे हैं।

उर्वशी

अतल, अपार ... नपता हूँ।

शब्दार्थ—वृहित=परिवर्धित। निमिष=क्षण। संवत्सर=साल वर्ष। पत्रक=पत्ता। [illegible]=अलग बिछड़ा। सनातन=शाश्वत। निरवत= बंधना=रहित। अकूल—कूल अथवा तट से रहित। विशिख=बाण।

प्रसंग—पूर्व पद की अन्तिम पंक्ति में पुरूरवा ने उर्वशी से प्रश्न किया था कि *हम दोनों अपनी चेतना को भूल कर कहाँ बहे जा रहे हैं।* ये पंक्तियाँ इसी प्रश्न का ठोस उत्तर हैं। उर्वशी का कथन है कि प्रेम की ऐसी उन्मुक्त अवस्था में प्रेमी तथा प्रेमिका देश-काल की सीमा से परे हृदयाकाश के ऐसे लोक में पहुँच जाते हैं जहाँ भावना स्थिर हो जाती है। यह अवस्था 'सहज समाधि' की है जिसमें साधक अपने लक्ष्य को पाकर उसी को अपना आत्मसमर्पण करके निर्द्वन्द्व हो जाता है।

अर्थ—यह (हृदय रूपी) आकाश अतल अपार अनन्त पूर्ण एवं परिवर्धित है। इसमें किसी प्रकार की सीमा रेखा नहीं खींची जा सकती। इस महाकाश में क्षण पक्ष दिन मास तथा वर्ष ऐसे भगते हैं जैसे कागज के चिथड़े भटक रहे हों। हे प्रिय! तुम अपने हृदय रूपी पत्रक को समेट लो जिसमें तुमने *[illegible] रखा है।* भाव यह है कि यदि देश-काल के चौखटे में ही हम बंधे रहे तो भला हम प्रेम

की सहज पृष्ठ-भूमि पर कैसे पहुँच सकते हैं। अतः देश-काल से परे हट कर चेतना-रहित होकर शान्ति के इस अकूल प्रवाह को बहने दो। इस शान्ति की पीयूषधारा को (काल रूपी) अपने हाथों में बांध कर मत रखो। (पुरूरवा के प्रश्न का उत्तर देते-देते उर्वशी प्रेम के ऐसे अनन्त शिखर पर पहुँच जाती है जहाँ पर शरीर-गत सभी क्रियाएँ शून्य हो जाती हैं। अत उर्वशी कहती है—) यह कौनसी समाधि की उत्तुंग शृंग है जिस पर अवस्थित होकर चेतना ने अपनी संज्ञा लुप्त करली और प्रेम का जो बाण हृदय के इस अम्बर में उर्ध्व स्थित गति से चढ़ता चला जा रहा था वह ऐसा लग रहा है जैसे स्थिर सा हो गया है।

विशेष—भाव यह है कि प्रेम में एक अवस्था ऐसी भी होती है जब चेतना निस्पन्द एवं संज्ञाहीन हो जाती है। इस अवस्था में जाति समाज या देशगत रूढ़ियां अथवा परम्पराएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं और जीव 'बावरा' बनकर उसी महाशून्य में अपने अंश को मिला देता है।

अलंकार—'बकबक से' में उपमा अलंकार है।

पुरूरवा

क्यों समय-सरिते .... सूर्य-वेदी पर।

शब्दार्थ—समय-सरिते=समय रूपी नदी। काल-शकल=काल रूपी खंड टुकड़ा। घटिकाओं=स्वयंवह यंत्र प्राचीन काल में एक छोटा सा घड़ा होता था जिसमें दिन की घड़ियां मालूम की जाती थी। आतुर=व्यग्र। समापन=समाप्ति। मलय-निलय=मलय रूपी घर या गोद में।

प्रसंग—पुरूरवा के लिए आज की रात कलस की रात है। वह चाहता है कि यह रात कभी न बीते तथा त्रिकाल (वर्तमान भूत तथा भविष्य) किसी मलय लोक में जाकर छिप जाएं क्योंकि प्रातःकाल आते ही संसार का कोलाहल प्रारम्भ हो जाएगा और प्रेमसी का पुण्य-रस मेरे हाथ से जाता रहेगा।

अर्थ—हे समय-सरिते! हे काल-खंड!! हे घटिकाओ!!! कम से कम पल भर अथवा अनुपल के लिए तो रुक जाओ। इस प्रकार व्यग्र होकर

तुम (समय, काल) किस लक्ष्य की ओर उड़े जा रहे हो। (जिस प्रकार) ऊर्ध्वगामी जीवन की गति की कोई सीमा नहीं है (उसी प्रकार हे समय ! तुम चाहे कहीं तक चलते चलो मगर तुम्हारी कहीं मंजिल नहीं है जहां उतर कर तुम क्षण भर के लिए चैन की श्वास भी ले सको। यही दशा इस प्रेमोन्मुक्त हृदय की है। चाहे वह कितना भी ऊर्ध्वगामी क्यों न हो जाय मगर ऊपर की रिक्तता उसे सताती ही रहती है)। यह काल-पयोनिधि अनन्त है। त्रिकाल (वर्तमान भूत और भविष्य) में भी इसकी सीमा का अवधारण नहीं हो सकता। (अतः पुकारता त्रिकाल से कर-बद्ध याचना करता है)—हे त्रिकाल ! आज तुम डुबकी मार कर किसी अतल-लोक में जाकर छिप रहो और इस मधुर रात्रि को पूर्व-वेदी पर खींच कर मत ले जाओ।

विमर्श—इस पद्यांश की दूसरी पंक्ति (इस प्रकार आतुर उड़ान भर कहीं तुम्हें जाना है।) की तुलना में कामायनी की ये पंक्तियां दर्शनीय हैं—

> 'किस दिगंत रेखा में इतनी
> संचित कर सिसकी-सी सांस
> यों समीर मिस हांफ रही-सी
> चली जा रही किसके पास।
>
> —'प्रसाद' : कामायनी आशा : ४९

दोनों में कौन सुन्दर स्वाभाविक तथा हृदय को स्पन्दित करने वाला है, यह तो पाठक ही बताएगा। टीकाकार का काम तो दो समान गुण वाली भाव-वर्तिकाओं को सहृदय के सामने रख देना है। निर्णय तो उसी के हाथ में है।

•

अन्तिम दो पंक्तियां काव्य की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। प्रेमी प्रमिका का निशा के प्रति इतना मोह 'प्राचि कजल' के 'कर्सबर कवि' की नायिका में भी मिलता है—

> "सजन सकारे जाएंगे
> नैन मरेंगे रोय।

बिपता ऐसी रैन कर
भोर कबो ना होय ॥' —'कलंदर'

विशेष—'समय-सरिते' 'काम-पयोनिधि' तथा 'मदन-निलय' में 'रूपक' अलंकार है।

रुको पल ... चूम लेने दो।

शब्दार्थ—त्रिकाल = भूत वर्तमान भविष्य। सुरभि = सुगंध।

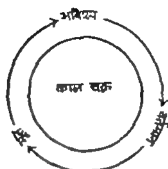
अर्थ—हे समय-सरिते! पल भर के लिए रुक जाओ!! मुझे इसी नत-पद्म-कमल (उर्वशी) की शीतलता (उत्तप्त हृदय को आलिंगन-पाश में बांध जाने के उपरांत प्राप्त हुई शीतलता अर्थात् शान्ति) का पान करने दें। (उर्वशी को कमल की उपमा कवि ने बड़ी सार्थक दी है। एक तो कमल स्वच्छ तथा निर्मल है दूसरे रात्रि के समय वह बन्द होता है। इसी प्रकार उर्वशी का प्रेम भी स्वच्छ तथा निर्मल है एवं इस समय प्रेमी के सामने वह भी लाज के मारे कमल की भांति संकुचित सी हो रही होगी जिससे उसका सौन्दर्य द्विगुणित हो उठा है)। हे त्रिकाल! इस लघन क्षण में मुझे समय का विस्तार समेट लेने दो (अर्थात् मैं चाहता हूं कि इस थोड़े से अमूल्य समय में मैं प्रेमिका से इतना प्रेम रस ले लूं कि आगे आने वाले विस्तृत समय-पटल पर मैं उसी सघन रस में डूबा रहूं और मुझे बस इस सघन-क्षण के अतिरिक्त अन्य किसी सीमा रेखा का ध्यान न हो)। (और हे काल-वक्ष)! मुझ एक पुरुष (हृदय) में त्रिकाल की सुरभि भर कर चूम लेने दो। (भाव यही है कि मैं उर्वशी के पावन प्रेम को अपने हृदय में अवस्थित कर लूं और त्रिकाल तक इसी सुरभि से सुवासित होता रहूं)।

विशेष—अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार।

मिला कौन? ... रहा है।

शब्दार्थ—तृष्णा = भूख प्यास।

प्रसंग—इन पंक्तियों में कवि ने एक बहुत बड़े सत्य का दार्शनिक प्रतिपादन किया है। कवि ने समय को एक ... के समान बताया है। इस ... को इस प्रकार बताया जा सकता है—



वर्तमान, भूत और भविष्य काल-चक्र के अंग हैं। इनके बीच में किसी प्रकार की भेदक सीमा रेखा नहीं खींची जा सकती। तीनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।

'वर्तमान' में हम जो कुछ करते हैं वह समाप्त नहीं हो जाता है अपितु समाप्त हुआ सा दीखता है। जब हम सूक्ष्म दृष्टि से उस पर विचार करते हैं तो वह 'भविष्य' का रूप धारण कर लेता है और भविष्य का वही कर्म 'भूत' बनकर फिर 'वर्तमान' में फल देता है। यह काल कभी मिटता नहीं बल्कि अपने रूप का परिवर्तन करके हमारे सामने आता रहता है। यह रूप परिवर्तन रंगमंच के उस पात्र के समान है जो एक होते हुए भी परिस्थिति के समान अपने अलग-अलग ताने-बाने में द्रष्टा के सामने आता है और अपनी अलग-अलग छाप उसके हृदय-पटल पर डालता रहता है।

अर्थ—यहाँ पर कौन मिट गया? क्या वह (वर्तमान काल) जो घटित हो चुका है? (नहीं वह समाप्त नहीं हुआ है) अपितु मनुष्य के जीवन रूपी रंगमंच पर अपना अभिनय दिखाकर फिर पर्दे के पीछे (भविष्य और भूत) जाकर खड़ा हो गया है। उसने अभी तक जन्म नहीं लिया है अपितु वह (परिस्थिति) रूपी सघन-बादलों की ओट में छिपकर बैठा हुआ (भूत और भविष्य के सम्पूर्ण अभिनय को) देख रहा है (और उचित समय पाकर पुनः प्रकट हो जायगा)।

विधना ऐसी रात कर
भोर कभी ना होय ॥ —'कलंदर'

विशेष—'समय-सरिते' 'काल-पयोनिधि' तथा 'मलय-निलय' में 'रूपक' अलंकार है।

इसी पाश ... सूंघ लेने दो।

शब्दार्थ—त्रिकाल=भूत वर्तमान भविष्य। सुरभि=सुगन्ध।

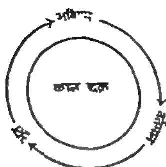
अर्थ—हे समय-सरिते! पल भर के लिए रुक जाओ!! मुझे इसी शत-दल-कमल (उर्वशी) की शीतलता (उत्तप्त हृदय को आलिंगन-पाश में बंध जाने के उपरांत प्राप्त हुई शीतलता अर्थात् शान्ति) का पान करने दे। (उर्वशी को कमल की उपमा कवि ने बड़ी सार्थक दी है। एक तो कमल स्वच्छ तथा निर्मल है दूसरे रात्रि के समय वह बन्द होता है। इसी प्रकार उर्वशी का प्रेम भी स्वच्छ तथा निर्मल है एवं इस समय प्रेमी के सामने वह भी लाज के मारे कमल की भांति संकुचित सी हो रही होगी जिससे उसका सौन्दर्य द्विगुणित हो उठा है)। हे त्रिकाल! इस सघन कुंज में मुझे समय का विस्तार समेट लेने दो (अर्थात् मैं चाहता हूं कि इस थोड़े से अमूल्य समय में मैं प्रेमिका से इतना प्रेम-रस ले लूं कि आगे आने वाले विस्तृत समय-पटल पर मैं उसी सघन रस में डूबा रहूं और मुझे बस इस सघन-क्षण के अतिरिक्त अन्य किसी सीमा रेखा का ध्यान न हो)। (और हे काल-सक्षम)! मुझ एक पुष्प (हृदय) में त्रिकाल की सुरभि भर कर सूंघ लेने दो। (भाव यही है कि मैं उर्वशी के पावन प्रेम को अपने हृदय में अवस्थित कर लूं और त्रिकाल तक इसी सुरभि से सुवासित होता रहूं)।

विशेष—अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार।

मिला कौन? ... रहा है।

शब्दार्थ—छन्न=छुपा हुआ।

प्रसंग—इन पंक्तियों में कवि ने एक बहुत बड़े सत्य का दार्शनिक उद्घाटन किया है। कवि ने समय को एक चक्र के समान बताया है। इस काल चक्र को इस प्रकार बताया जा सकता है—



वर्तमान भूत और भविष्य काल-चक्र के मध्य है। इनके बीच में किसी प्रकार की भेदक सीमा रेखा नहीं खींची जा सकती। तीनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।

'वर्तमान' में हम जो कुछ करते हैं वह समाप्त नहीं हो जाता है अपितु समाप्त हुआ सा दीखता है। जब हम सूक्ष्म दृष्टि से उस पर विचार करते हैं तो वह 'भविष्य' का रूप धारण कर लेता है और 'भविष्य' का वही कर्म 'भूत' बनकर फिर 'वर्तमान' में जन्म लेता है। अतः काल कम मिटता नहीं बल्कि अपने रूप का परिवर्तन करके हमारे सामने आता रहता है। यह रूप परिवर्तन रंगमंच के उस पात्र के समान है जो एक होते हुए भी परिस्थिति के समान अपने अलग-अलग बाने-बाने में द्रष्टा के सामने आता है और अपनी अलग-अलग छाप उसके हृदय-पटल पर डालता रहता है।

अर्थ—यहाँ पर कौन मिट गया ? क्या वह (वर्तमान काल) जो घटित हो चुका है ? (नहीं वह समाप्त नहीं हुआ है) अपितु मनुष्य के जीवन रूपी रंगमंच पर अपना अभिनय दिखाकर फिर पर्दे के पीछे (भविष्य और भूत) जाकर खड़ा हो गया है। उसने अभी तक जन्म नहीं लिया है अपितु वह (परिस्थिति) रूपी उपस-यवनिका की ओट में छिपकर बैठा हुआ (भूत और भविष्य के सम्पूर्ण अभिनय का) देख रहा है (और उचित समय पाकर पुनः प्रकट हो जाएगा)।

जिस प्रकार ... साक्षी हैं।

शब्दार्थ—नगराज=हिमालय। सिन्धु=सिन्धु सागर। उभय=दोनों।

अर्थ—जिस प्रकार हिमालय पर्वत सिन्धु सागर की मानस-पीड़ा को समझता है और सिन्धु-महासागर की कहानी को जानता है उसी प्रकार वर्तमान काल द्वारा अपने घर में किए हुए सभी कर्मों को भूत और भविष्य अच्छी तरह जानते हैं और उन दोनों द्वारा किए गए कर्म इस बात के साक्षी हैं कि वर्तमान का सभी लेखा-जोखा इनके मानस पर अंकित है।

विशेष—यहाँ पर 'हिमालय' तथा 'सिन्धु सागर' को क्यों लिया गया है? यह जानना आवश्यक है।

'वर्तमान' में हिमालय हिमाच्छादित होकर तन के खड़ा है। भविष्य में सूर्य की तेज किरणों से उसकी सारी बर्फ पिघल कर सरिता का रूप धारण करके समुद्र की गोद में जा छिपती है। समुद्र में आया हुआ यह जल भी स्थिर नहीं रहता। वह पुनः रवि की किरणों के सहारे ऊपर उठता है और पुनः हिमालय की चोटी पर बर्फ का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है। वर्तमान में उनका एक ही कर्म है—संचय। भविष्य उसका स्वागत करता है और 'भूत' समय की प्रतीक्षा करके एवं उचित समय जानकर फिर वर्तमान का रूप धारण कर लेता है। अतः भविष्य में होने वाले इस हिम तथा जल के स्खलन की पीड़ा को परस्पर दोनों ही जानते हैं। इसी उद्धरण की दो पंक्तियाँ स्वतः स्पष्ट हैं कि वर्तमान जो कुछ भी करता है उसी का विकसित एवं परिवर्तित रूप भूत और भविष्य हैं जैसे वर्तमान में उर्वशी-पुरुरवा प्रेम-संकुल में आबद्ध हैं। भूत और भविष्य इसी प्रेम का परिवर्तित रूप दिखाकर यह सिद्ध करेंगे कि वर्तमान में उन दोनों ने जो कुछ किया है हम तो उसी को सूत्रधार के रूप में व्यक्त कर रहे हैं।

सिन्धु ... भाषा में।

शब्दार्थ—दिगायाम=दिक्+आयाम फैली हुई दिशाओं में। गिरा मुक्त=वाणी से मुक्त होकर अर्थात् मौन होकर।

अर्थ—जिस प्रकार सिन्धु विन्ध्य तथा पर्वत विस्तृत दिशाओं में एक साथ ही अवस्थित रहते हैं (और कुछ न कहकर भी अपने हृदय की पीड़ा को व्यक्त कर देते हैं), उसी प्रकार काल-देवता के इस महान आंगन में भूत वर्तमान और भविष्य गिरा-मुक्त (मौन) भाषा में परस्पर वार्तालाप करते हुए एक साथ ठहरे हुए हैं।

कहाँ देश, छूकर।

शब्दार्थ—व्योम=आकाश। कल्प=समय, ब्रह्मा का एक दिन जिसमें एक हजार महायुग अथवा ४ अरब ३२ करोड़ मानव-वर्ष होते हैं)। महाशून्य=ब्रह्म। उत्स=झरना (प्रेम का झरना)। उद्गम=स्रोत। आदि-मूल=प्रेम-तत्त्व। प्रेम सृष्टि का आदि तत्त्व है क्योंकि विधाता प्रेमरूप है और उसने इस सृष्टि का विकास प्रेम के बीज बोकर ही किया था। अतः प्रत्येक जड़-जंगम में विधाता के आदि-मूल प्रेम का अंश विद्यमान है।

अर्थ—त्रिकाल कह रहे हैं कि ऐसा कौन सा देश है जिसके आंगन में हमारी धूल विद्यमान न हो। ऐसा कौन सा समय है जिसके महासागर में हम नहीं तैर रहे हों। अर्थात् प्रत्येक देश तथा समय में हम विद्यमान रहते हैं। महाशून्य के चित्त से जो प्रेम का झरना प्रवाहित होता है वह हमारे मन का भी स्रोत है अर्थात् हमारे अन्दर भी उस प्रेम-तत्त्व का अंश विद्यमान है। हमारी चेतना भी काल के आदि-मूल (प्रेम) को छूकर ही बहती है।

उर्वशी

हम त्रिलोकवासी बहें हम ?

शब्दार्थ—त्रिलोकवासी=तीनों लोकों (भू, आकाश और पाताल) में निवास करने वाले। त्रिकाल चर=तीनों काल—(भूत भविष्य और वर्तमान) में विचरण करने वाले। एकार्णव=एक समुद्र में। संपृक्त=एक साथ। वीचियों=लहरों। अप्रतिहत=अबाधित अपराजित अक्षुण्ण जिसकी गति किसी प्रकार भी रोकी न जा सके। काल रन्ध्र=काल के छिद्र। अन्तर्नभ=सूक्ष्म आंतरिक हृदयाकाश। परिधि-भंग=सीमा का भंजन करने वाला।

अर्थ—(प्रेम व्यापक रूप धारण करने पर देश-काल की सीमाओं को

छोड़कर सृष्टि के अणु-अणु में व्याप्त हो जाता है। इस भाव की पुष्टि करते हुये उर्वशी कहती है—)

प्रेम की इस अवस्था में हम दोनों त्रिलोकव्यापी तथा त्रिकालचर हैं। काल भेद को परे हटाकर हम भूत भविष्य और वर्तमान के एक ही समुद्र की प्रत्येक लहर में उसकी हर बूंद तथा बूंद के भी प्रत्येक अंश में एक साथ तैर रहे हैं तथा उनमें समाये हुए हैं। हमारे हृदय की धड़कन अबाध गति से तीनों लोकों में समायी हुई है तथा हमारी उत्तप्त श्वासों से निःसृत मदमस्त सौरभ प्रत्येक काल के रन्ध्रों में आपूर्यमान है।

(उर्वशी पुरूरवा से प्रश्न करती है कि) प्राणों की सीमा को भंग करके हमारे चित्त में अनुस्यूत जिस प्रेम तत्त्व का यह अवतरण हुआ है और जिसके कारण अपार महिमाशाली युग सृष्टि के अणु-अणु में फैल रहा है उसे हम कहाँ पर समेट कर रखें।

विशेष—इस पद्यांश में 'प्रतिबिम्बवाद' की झलक है। प्रतिबिम्बवाद के अनुसार जीव के हृदयस्थित भाव चित्त की विशदता के उपरान्त सृष्टि के जड़ चेतन स्थावर-जंगम लोक-परलोक तथा बाहर भीतर सबमें उसका वही भाव प्रतिबिम्बित होता है। जिस प्रकार यहाँ "काल-रन्ध्र भर रहा हमारी सांसों के सौरभ से" ऐसा भाव प्रकट किया गया है उसी प्रकार जायसी के 'पद्मावत' से प्रतिबिम्बितवाद का एक उदाहरण देखिये—

"नैन जो देखा कमल भा निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा दसन जोति नग हीर ॥"

—जायसी : पद्मावत मानसरोदक खण्ड।

पुरूरवा

महाशून्य के ... संचित है।

शब्दार्थ—महाशून्य=ब्रह्म। अन्तर-गृह=ब्रह्मलोक। दिक्काल=दिशा काल। निरभ्र=बादलों से रहित स्वच्छ निर्मल। नीलाम्बरित=नीले वस्त्र रित अर्थात् आकाश। निर्जर=जरा रहित। मंजूषा=पिटारी। सर्ग-प्रसव=सृष्टि की प्रसव। पुरावृत्त=पुराने आख्यान। समग्र=सारे।

प्रसंग—पूर्व पद में उर्वशी ने यह प्रश्न उठाया था कि सृष्टि के प्रलय-मंच में हमारे प्रेम का जो स्वरूप आच्छादित एवं व्याप्त है उसे हम कहाँ पर समेट कर रखेंगे ? आगे आने इस पद में पुरूरवा ने इसका समुचित उत्तर दिया है।

अर्थ—(सुख की इस अपार महिमा को) ब्रह्मलोक के उस अद्भुत भवन में रखा जा सकता है जहाँ पहुँच कर दिशा तथा काल का कोई भेद नहीं है और इस निरभ्र नीलान्तरिक्ष की जरा रहित पिटारी में सृष्टि-प्रलय के सभी पुराने आख्यान संचित हैं।

दूरागत ………… ले आता है।

शब्दार्थ—दूरागत=दूर से आई हुई। सतत-संचरण-मय=निरन्तर प्रवाहित होने वाली। समीर=वायु। कथा आदि की=प्रेम-कथा। ब्रह्म प्रेम स्वरूप है। अपने प्रेम के बीज से ब्रह्म ने इस जगत की सृष्टि की है। श्रुति=कान।

अर्थ—दूर से आ रही इस निरन्तर प्रवाहित होने वाली वायु के साथ प्रसरण होने वाली जो आदि प्रेम-कथा है उसे (हमें) सृष्टि के अन्त तक ले जाना है।

विशेष—भाव यह है कि हमारे प्रेम का आख्यान इतना महत्त्वपूर्ण होना चाहिये कि देश-काल की सीमा को छोड़कर वायु की भाँति सर्व प्राणिजगत में छा जाय और हमारी प्रेम-कथा तब तक जीवित रहे जब तक यह सृष्टि विद्यमान है।

इन पंक्तियों का यह भाव भी हो सकता है कि हम अपनी प्रेम-कथा को अन्त की श्रुति अर्थात् ब्रह्म के कानों तक ले जाकर ही छोड़ें। यह न हो कि हम बीच में ही दिग्भ्रमित हो जाय।

इस प्रदीप्त ………… प्रलय का।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—प्रलय होने तक यह सृष्टि इस चाँदनी रात की गोद में बैठकर इसी भाँति हमारे रहस्यमयी प्रेम का गुंजन सुनती रहेगी।

रहित। श्लथ—शिथिल होती। अचेत=संज्ञा हीन। अरूप=परम प्रेम-रूप ब्रह्म।

अर्थ—प्रेम की उन्मुक्त अवस्था में जब प्रेमी शरीर एवं चेतना शून्य होकर प्रेमिका का आलिंगन करता है तो उससे वह आलिंगित होकर शिथिल नहीं होती अपितु वह प्रेम की ज्योति ही आलिंगन-पाश में बंधती है और जब हम अचेत और संज्ञाहीन होकर परस्पर अधरों का चुम्बन करते हैं तो वह चुम्बन परम प्रेम रूप परब्रह्म के चरणों में भी समर्पित हो जाता है।

विशेष—'निश्चेतनता' और 'अचेत' शब्द यहां पर द्रष्टव्य हैं। चेतना रहित एवं संज्ञाहीन होकर प्रेमी शरीर की परिधि से परे हटकर आत्मरूप हो जाता है। 'रक्त-मांस-विग्रह' के पट फट जाने पर प्रेम का शाश्वत रूप सामने आता है। यही ब्रह्म की लीला का पथ है। अतः इस अवस्था में किया गया प्रत्येक प्रेम-कर्म उस अरूप के चरणों पर चढ़ना स्वाभाविक है।

देह मृत्ति   आकारों में।

शब्दार्थ—मृत्ति=मिट्टी।

अर्थ—शरीर अवश्य मिट्टी है नाशवान है मगर शरीर के भीतर से आभासित होने वाली प्रेम की किरणें भंगुर नहीं हैं अपितु प्रेम तो शाश्वत है। पुरूरवा का कथन है कि आज मैं तुम्हारे जिन मधुर ओठों का चुम्बन कर रहा हूं वे समय पाकर नष्ट हो जायेंगे क्योंकि चित्रकारी का सौन्दर्य कभी शाश्वत नहीं रह सकता मगर उन ओष्ठों के चुम्बन से हृदय में जो अमर संगीत ध्वनित होता है उसकी झंकृति हृदय से कभी लुप्त नहीं होती। प्रेम की यह अन्य-आभा उस निराकार ब्रह्म के चरणों में अर्पित हो जाती है जो सब प्राणियों में भास रहा है।

उर्वशी

रोम रोम   जाती हूँ ?

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—उर्वशी कहती है कि हे प्रियतम हम दोनों के प्रथम दर्शन में जो प्रेम का बीज मेरे हृदय में उत्पन्न हुआ था वह अब पुष्पित एवं पल्लवित होकर वृक्ष का रूप धारण कर चुका है। तुम्हारे आलिंगन-पाश में बंधकर

र रोम-रोम में प्रेम का तरंगित एवं फेनिल सुख उत्पन्न हो गया है जिस
र चढ़कर मैं आकाश की ओर न जाने कहाँ उड़ी जा रही हूँ ?

पुरूरवा

देह डूबने   रहा है।

शब्दार्थ—किरणें=प्रेम की किरणें । अरूप=ब्रह्म । रूप=पार्थिव
रीर में निहित प्रेम तत्त्व ।

अर्थ—पुरूरवा दार्शनिक शब्दावली में उर्वशी की जिज्ञासा का समाधान
रते हुए कहता है कि इस समय हमारा शारीरिक प्रेम अन्तर्मुखी होकर
उस मन के सीमा-रहित प्रेम सागर में डूबने जा रहा है। ऐसी अवस्था में
मन के सभी राग-द्वेष समाप्त हो जाते हैं और स्वच्छ एवं निर्मल हृदय ब्रह्म
य हो जाता है अतः हमारे प्रेम की ऐसी शुभावस्था देखकर अरूप (ब्रह्म)
अपनी प्रेम की किरणों के सहारे हमारे अन्तर में निहित प्रेम को ऊपर
(स्वर्गलोक में) खींच रहा है।

उर्वशी

जाते नहीं   कहाँ है ?

शब्दार्थ—उष्ण=गर्म । प्रस्तर=पत्थर ।

अर्थ—उर्वशी देवलोक की कन्या है। वहाँ की शीतलता से ऊबकर ही
वह धरती पर मनुष्य प्रेम का आनन्द लूटने आई थी। वह नहीं चाहती कि
पुनः उस निस्पंद लोक में जाये। अतः पुरूरवा से कहती है—

हम इस समय कहाँ चले जा रहे हैं ? जिस सघन एवं उष्ण वायु में
हमने प्रेम क्रीड़ायें की थीं वह वायु हम कहाँ छोड़ आये ? (तुम स्वर्गलोक
के सपनों में भला क्यों खोये हुए हो ?) मिट्टी और पत्थर की इस ठोस
धरती पर अपने पैर क्यों नहीं जमाते ?

पुरूरवा

छूट गयी   रही है।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—पुरूरवा कहता है कि अब अधोमुखी होना व्यर्थ है। शरीर के
बन्धन को तोड़कर अब मेरा प्रेम तत्त्व उस उच्चलोक का विचरण किया

चाहता है। अतः 'अन्नमय' एवं 'प्राणमय' कोष से ऊपर उठकर अब हम 'मनोमय कोष' में पहुंच गये हैं।

यह धरती हमारे पैरों के नीचे से छूट गई है। अब हम देह का परित्याग करके आत्मा की झंकारों के सहारे मनोमय लोक में पहुंच रहे हैं।

फूलों का रहा है ?

शब्दार्थ—भुवन=लोक संसार। शृंग=चोटी। हेर=देखना।

अर्थ—उर्वशी के हृदय में एक दूसरी जिज्ञासा उत्पन्न होती है। वह अपने प्रियतम पुरूरवा से पूछती है—

यह पर्वत की चोटी सम्पूर्ण लोक के पुष्पों को अपने सिर पर उठाये मुदित होकर हमारी तरफ क्यों देख रही है ?

पुरूरवा

अयुत युगों मिलन का।

शब्दार्थ—अयुत=अलग-अलग। प्रसून=फूल। जोहते=देखते हैं।

अर्थ—अलग अलग युगों में ये पुष्प अनवरत रूप से पुष्पायित होते हैं और नित्य-प्रति हमारे इस महान् आत्मिक मिलन का पथ देखते रहते हैं।

विशेष—ऊपर के दो पद्यांशों में कवि ने जिस पर्वत और पुष्पों की चर्चा की है वे साधारण पुष्प तथा पर्वत-शृंग नहीं हैं। जब मानस पार्थिव परिधि को परे छोड़कर आत्मिक प्रेम के उच्च शिखर पर पहुंच जाता है तो उसकी आत्मा रोमांचित एवं पुष्पित हो उठती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आत्मिक प्रेम की उच्चता ही शिखर हुई और उस रोमांच से उत्पन्न आनन्द रंग-बिरंगे आह्लादकमयी पुष्प हुए।

जब भी तन जगते हैं।

शब्दार्थ—समाधि-सुख=प्रेम की सहज समाधि से उत्पन्न सुख। निमय=भर भाव। प्रहर्ष=हर्षित होकर। निश्चेत=चेतना रहित।

प्रसंग—पुरूरवा के माध्यम से कवि निम्न चार पंक्तियों में उपरोक्त शिखर तथा पुष्पों की व्याख्या करते हैं।

अर्थ—जब भी नर-नारी शरीर की सीमा तोड़ कर मन के उच्च तथा गहन मधुर प्रदेश में पहुंच जाता है और प्रेम-समाधि के सुख को पाकर चेतनारहित शिखर पर पहुँच जाता है तब युगल प्रेमी की अत्यधिक प्रसन्नता के कारण सारी प्रकृति रोमांच से कांप उठती है। परिणाम स्वरूप प्रकृति का रोमांच ही ये पुष्प हैं जो प्रसन्न होकर हँसते हुए दिखाई देते हैं।

उर्वशी

जला जा महिमा को ?

शब्दार्थ—निराकार=परब्रह्म। आकारों=प्राणियों। रक्त-शिराओं=धमनियों। ऊर्मियां=लहरें। नाद=झंकार। गिरा=वाणी।

प्रसंग—उर्वशी शारीरिक प्रेम को ही सत्य मानती है। उर्ध्वलोक की महिमा को वह नहीं मानती। शरीर में निहित अरूप प्रम तत्व से उत्पन्न अलौकिक आनन्द इसकी चमत्कृत ध्वनि तथा इससे उत्पन्न अशब्द झंकृति को वह नहीं मानती। अतः पुरूरवा से कहती है—

अर्थ—उर्वशी कहती है कि मैं शरीरवादी प्रम को ही सत्य मानती हू। आज यह स्वप्नलोक की ज्वाला में जला जा रहा है और निराकार परब्रह्म के आश्रय में आकर हम प्राणियों की नसों डूबती जा रही है (प्रम पाश में बंधने पर उर्वशी के हृदय में एक विषय मधुरता अलौकिक भाव तथा चमत्कृत संगीत सा उत्पन्न होने लगता है, जिसे अन्तर-निहित ऊर्मी-मधुरों से सुनकर वह आश्चर्यचकित हो जाती है और अपने प्रमी पुरूरवा से प्रश्न करती है)—(शरीर की इन्द्रियजन्य मधुरता से भिन्न) यह कैसी मधुर अनुभूति मेरे मानस में झंकृत हो रही है ? मेरी रक्तवाओं धमनियों तथा असीम अन्तर में ये कौन सा स्वर है जो सस्वर रूप में गूंज रहा है। जिस से उत्पन्न ये ऊर्मियां तथा शब्द रहित झंकृति (क्या है ? इसे मैं नहीं समझ पाती)। जब उर्वशी इस अनन्त आनन्द को प्रकट करने में अपने को असमर्थ पाती है तो खीझ कर कह उठती है कि उफ ! मेरी यह जिह्वा भी न जाने क्यों बेबस सी हो गई है। इस आनन्द को प्रकट करने में अपने आपको बिलकुल असमर्थ पाती है। हे पुरूरवा ! क्या मुझे कोई ऐसा उपाय बता सकते हो जिससे मैं अपने भावों

को शब्दों में बाँध सकूं तथा इस महिमा का किस रूप में व्याख्यान करूं ।

विशेष—जब प्रेम की सीमाएँ मुक्त होकर निराकार के अखण्ड प्रेम में समा जाती हैं तब हृदयाकाश में रस की वर्षा सी होने लगती है । बिना बाजों के झंकार सी उठती है । जब ऊर्ध्वलोक पर पहुँच जाते हैं तभी वहीं का स्वर समझ में आता है—

'रस गगनगुफा में अजर झरे ।
बिन बाजा झनकार उठे तहँ समुझि परे तब ध्यान धरे ।'
—कबीर

पुरूरवा
रूप नहीं प्राणों की ।

शब्दार्थ—अगोचर=न दिखने वाला । प्रणय प्रज्वलित=प्रेम से उत्पन्न । रूपाश्रित=रूप पर आश्रित ।

अर्थ—प्रेम के इस अलौकिक आनन्द का वर्णन करने के उपरान्त इसको शब्दों का आधार लेकर व्यक्त नहीं किया जा सकता । यह तो गूंगे के गुड़ के समान (मूकास्वादनवत्) अव्यक्त है । अर्थात् जिस प्रकार गूंगे को गुड़ खिलाने के बाद उसके आनन्द के बारे में पूछा जाय तो वह इशारों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं कह सकता । इसी प्रकार यह प्रेमानन्द है जो केवल भाव-मुद्राओं से ही व्यक्त किया जा सकता है । शब्दावली का आधार इसमें नहीं है । यह सूक्ष्म जीव की स्थूल एवं सूक्ष्म दृष्टि से परे अगोचर है । सिद्ध प्रेमी इसको कहकर भी नहीं कह पाते क्योंकि भाषा तो केवल उसी का नखशिख चित्रण कर सकती है जो रूपधारी हो मगर प्राणों में तरंगित होने वाला यह प्रेम तो अरूप है इसका कोई आकार-विकार नहीं फिर भला इसको भाषा के माध्यम से कैसे व्यक्त किया जा सकता है ।

विशेष—गूँगे के गुड़ की महिमा 'कबीर' ने भी मुक्त कण्ठ से गाई है—

'कह कबीर गूंगे गुड़ खाइया
पूछे तो किया कहिये ।

उर्वशी

हे पुरुष! तुम कौन हो?

पुरूरवा

जो अनेक- आभा सी।

शब्दार्थ—कल्पों=युगों वर्षों। शुभ्र=श्वेत।

अर्थ—उर्वशी के प्रश्न का उत्तर देते हुए पुरूरवा कहता है कि मैं वह पुरुष हूँ जो असंख्य अन्धकारपूर्ण युगों से बार-बार मृत्यु का उल्लंघन करता हुआ तुम्हें ढूँढता फिरता रहा। इतना ही नहीं मैंने तुम्हें अनेक बार जन्म लेकर अनेक कुंजों वीथियों (प्रकृति के प्रांगण में) तथा आराधनाओं में ढूँढा। सौभाग्यवश अपने पुष्प रूपी शरीर में अनन्त युगों का सौरभ लिए हुए एक दिन तुम अचानक ही मुझे शुभ्र मेघों की आभा में मिलीं।

विशेष—इस पद की प्रथम दो पंक्तियों के अनुरूप ही एक मुसलमान शायर की दो पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

'जब से सुना है मरने का नाम जिन्दगी है
सिर से कफन लपेटे कातिल को ढूँढता हूँ।

उर्वशी

और मैं कौन हूँ?

पुरूरवा

ठीक-ठीक मयी हो।

शब्दार्थ—अन्तर=हृदय। निभृत-निकेतन=विश्राम भव्य भवन। स्वरित=स्वर अर्थात् संगीत देने वाले। मुदित=प्रसन्न। शैल=पर्वत।

अर्थ—पुरूरवा उर्वशी के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहता है कि हे उर्वशी! मैं ठीक-ठीक नहीं बता सकता कि तुम्हारा वास्तविक रूप क्या है? लेकिन हाँ इतना अवश्य जानता हूँ कि तुम्हारे प्रवेश करते ही मेरे अन्तर का द्वार (जो युग-युगों से बन्द पड़ा था) अपने आप खुल गया और मेरे प्राणों का भव्य निकेतन प्रेम के सुरीले तथा रंगमयी रागों से गुंजायमान हो उठा। (पुरूरवा का यह विचार है कि तुम्हारे आगमन से केवल मुझे ही अनन्त

आनन्द की अनुभूति नहीं मिली अपितु यह सम्पूर्ण भुवन ही तुम्हारे सौन्दर्य पर मुग्ध है) । अतः पुरूरवा कहता है कि जब से तुम इस धरती पर आई हो तब से यह पृथ्वी भी कुछ अधिक प्रसन्न दिखाई देती है । पर्वतों का यह विचार है कि हमारे अन्दर से जो अनेक जल-स्रोत निकलते थे । वे भी अब कुछ अधिक रसशिक्त होकर बहने लगे हैं । तुम्हारे आगमन से धरती पर फूल भी अधिक खिलने लगे हैं और यह शीतल तथा हरी-हरी प्रकृति में कोई नव्य चेतना सी दौड़ गई है । (भाव यह है कि तुम्हें पाकर धरती धन्य हो गई । तुम्हारे प्रथम रोमांच से धरती के पुष्पों में सिहरन आ गई; हृदय में बहने वाले अमित प्रेम रस से शैल-स्रोत प्लावित हो उठे और प्रकृति की शीतल हरियाली तुम्हारी आभा का प्रकाश पाकर और अधिक दीप्तिमान हो उठी) ।

पुरूरवा कहता है कि तुम्हारे रूप-सौन्दर्य को पाकर धरती आज तो सब सुखी है मगर आकाशलोक में चमकने वाले नक्षत्रों की दशा चिन्तनीय है । उन्हें ऐसा लग रहा है जैसे उनके हाथ से कोई वस्तु निकल गई हो ।

विशेष—वास्तव में देखा जाय तो धरती पर्वत फूल-पौधे तथा सम्पूर्ण प्रकृति तो वैसी ही होती है जैसी वह पहले थी मगर प्रेमी तथा प्रेमिका की नजर बदल जाती है । प्रसन्नता के क्षणों में उसे भुवन का अणु अणु हंसता हुआ नजर आता है ।

उर्वशी

और खिले दिया है ।

शब्दार्थ—विद्युत—बिजली ।

अर्थ—अब उर्वशी पुरूरवा के प्रथम दर्शन से उत्पन्न अपने हृदय की प्रतिक्रिया का वर्णन करती है—

हे प्रियतम ! जब तुम पहले-पहल मेरे भविष्य के नीले तथा धुंधले आकाश पर इन्द्रधनुष के समान आकर्षक रूप में प्रकट हुए थे तब मेरे मानस में (प्रसन्नता के अतिरेक से) बिजली सी कौंध गई थी (तुम्हारे दर्शन से पूर्व मेरा हृदय शीतल एवं निष्प्राण था इसमें देव-वृत्ति के कारण कोई स्पन्दन नहीं होता था) मगर तुमने मेरे रक्त के कण-कण में, जहां कहीं प्रेम का अंश

दिखाई दिया वहीं उसे छेड़ कर मुझ मूर्छित को (प्रेम से मत्त) जगा दिया इसलिए सत्य की कसौटी पर तुम्हीं मेरे जीवन के आधार हो (तुमने मुझे प्रेम का ज्ञान दिया है इसलिए) ज्ञान गुरु हो और (चूँकि तुमने मुझे प्रेम का यह पाठ शिष्य समझ कर नहीं अपितु साथी समझ कर दिया है इसलिए) तुम मेरे सखा, मित्र और सहचर भी हो।

प्राणों में ... ... कलिका-सी।

शब्दार्थ—पुलकित=पविमता। सद्य प्रस्फुटित=अभी खिले हुए। मृदु=कोमल।

अर्थ—तुम्हें पाकर मेरे प्राण सद्य प्रस्फुटित कमल की भाँति शीतल और पवित्र हो जाते हैं और ऐसा लगता है कि (युग-युगों से जो प्रेम की भावना निष्प्राण सी हो गई थी वह तुम्हें पाकर) कोमल (गुदगुदाने वाले) प्रेम ज्योति पुनः लौट आई है। तुम्हारी चुम्बनों की फुहार तथा रोमांचित करने वाले आलिंगन की अतिशयता से गहरी निद्रा में सोई हुई कलिका के समान जाग गई हूँ।

विशेष—यहाँ 'निद्रा से जागी हुई कलिका-सी' वाक्यांश द्रष्टव्य है। जब तक लता पर फूल नहीं खिलते तब तक वह सोई हुई मानी जाती है मगर जब वह पुष्प पल्लवित हो जाती है तब उसे जाग्रतावस्था में कहा जाता है। उर्वशी एक लता के समान है। जब तक प्रेम के पुष्पों ने उसके प्रत्यंगों में स्थान ग्रहण नहीं किया था तब तक वह सोई हुई थी चुम्बन परिरम्भण से जब उसका शरीर रोमांचित होकर मारे प्रसन्नता के फूट फूट कर बाहर निकलने को तैयार हो गया तब वह जागी हुई (पुष्पित) कलिका के समान हो गई।

'कलिका-सी' में 'उपमा' अलंकार है।

प्रथम-प्रथम ... ... 'जानता हूँ ?

शब्दार्थ—शिरा-शिरा में=रोम-रोम में। उन्मीलित=कोमलता। अन्तरिक्ष =आकाश। जगती=पृथ्वी, संसार।

अर्थ—(उर्वशी पुरूरवा से कहती है कि इस धरती पर आने पर ही मैंने) पहले-पहल पर्वतों से निकलते हुए झरनों के जल का मधुर संगीत सुना है।

(यहाँ साधारणीकरण की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। उर्वशी के हृदय में जो प्रेम का स्रोत उद्भासित हुआ है वह पवत के उद्गम के समान है और तद् उत्पन्न प्रमित आनन्द का संगीत झरने के संगीत के समान है) लावण्यमयी उषा की लाली को भी मैंने पहले-पहल निहारा है और उसकी द्युति से मैं स्वयं भीगी जा रही हूं (नारी का उषा से साधारणीकरण होना भी स्वाभाविक है। इसका प्रकाश आभिमानय होता है। जब सदा सम उर्वशी पुरुरवा की कठोर बातों में बार-बार उलझती है तो वह भी उषा के समान लाज के मारे लाल हो जाती है। प्रम रस में भीगी हुई ऐसी उर्वशी का सौन्दर्य द्विगुणित हो जाता है)। उर्वशी कहती है कि हे पुरुरवा ! अनन्त काल से मेरे शरीर के रोम रोम में जो प्रेम की रागिनी बन्द पड़ी हुई थी उसे तुम्हारे बिना भला कौन मंकृत कर सकता था। (भाव यह है कि देवलोक म तो उसकी सुषुप्त रागिनी को निनादित करने की किसी में क्षमता थी ही नहीं। इसलिए मैं भूलोक में आयी और यहाँ तुम्हारे मानवी-शरीर को पाकर मरे हृदय में सोए हुए प्रेम का तार-तार बज उठा)। और भला तुम्हारे बिना मुझे यह विश्वास ही कौन दिला सकता था कि यह भूमि (मैं स्वयं उर्वशी जो धरती के समान हू) किसी अन्य की सृष्टि के लिए अन्तरिक्ष के समान है तथा इस भूतल पर जो वृक्ष फूल रहे हैं वे वृक्ष न होकर उस अन्तरिक्ष पर छाये हुए बादलों के समान हैं।

यह ज्योतिर्मय होता है।

शब्दार्थ—ज्योतिर्मय=आभावान देदीप्यमान। कनक-पर्वत=सोने का पर्वत। स्वाद्=धावक। मनोज्ञ=मनोहर।

प्रसंग—पुरुरवा के मनोहर शरीर को देखकर उर्वशी का हृदय अन्दर ही अन्दर रीझ उठता है। वह पुरुरवा की शरीर रचना के सम्बन्ध में विभिन्न कल्पनाएँ करती है। यथा—

अर्थ—हे पुरुरवा ! तुम्हारे इस देदीप्यमान रूप को देख कर मन में अनेक कल्पनाएँ अवरोहित—तिरोहित हो रही हैं। (ऐसा प्रतीत होता है जैसे प्रकृति देवी ने अपनी रुचि एवं भावनाओं के अनुसार किसी स्वर्ण-शैल से एक बड़ी शिला काट कर तुम्हारे जैसे विराट पुरुष की प्रतिमा बनाई थी और फिर

उसमें महाप्राण भर कर पृथ्वी पर गिरा दिया था अथवा इस धरती ने ही स्वर्ग की सुन्दरियों एवं अप्सराओं को लालायित करने के लिए राक्षसों से भी अधिक बलशाली तथा देवताओं से भी मनोज्ञ सिद्ध करने के लिए तुम्हें जन्म दिया है।

विशेष—उत्प्रेक्षा, सन्देह अलंकार।

उफ री मह [illegible] आलोड़न में !

शब्दार्थ—विकच=खिले हुए। पाटल के दल=गुलाब के फूल की पंखुड़ियाँ (ओष्ठ)। चटुल=चपल। सञ्चरण=प्रवाह। कुसुमायित=पुष्पित। स्वयं स्वयं को=अपने आप अपने को। आसुरी=पाशविक।

अर्थ—उर्वशी पुरूरवा के शारीरिक सौन्दर्य पर विमुग्ध होकर कहती है—उफ! तुम्हारा सौन्दर्य अप्रतिम है। तुम्हारे अधर पुष्पों के समान लालिमायुक्त खिले हुए हैं। जब ये गुलाब की पंखुड़ियाँ (ओष्ठ) उन्मत्त होकर मेरे सम्पूर्ण आनन का स्पर्श करते हैं तब मेरा एक-एक रोम-कूप न जाने किन पीयूष-कणों से परिप्लावित हो जाता है। और जब तुम अपनी कठोर भुजाओं से मुझे अपने आलिंगन-पाश में आबद्ध कर लेते हो तब तुम्हारे देह में संचरण करने वाली उत्तप्त लहरियाँ मेरे हृदय में प्रवेश करके उन्मत्त बना देती हैं। अनुपम काम से ज्वलित पुष्पायित पर्वत के समान तुम्हारे लौह-शरीर से लिपट कर कभी मैं रोमांचित हो उठती हूँ (कभी तुम्हारे बलाश्रित कठोर-पाश से) व्याकुल हो उठती हूँ, (कभी उस आनन्द का अनुभव करके) प्रसन्न हो जाती हूँ (और कभी उस अमित आनन्द की अतिशयता के कारण) अपनी चेतना खो कर मूर्छित हो उठती हूँ। वास्तव में पर्वत की पाशविक शक्ति के आकुल आलोड़न में अपने आपको स्वयं ही समर्पण करने में कितना अपरिमित आनन्द है।

विशेष—जब मनुष्य कामासक्त हो जाता है तो उसे अपनी सुध-बुध नहीं रहती। ऐसे समय में उसकी पाशविक शक्ति उभर कर सामने आ जाती है। मनुष्य की इसी स्वाभाविक एवं सहज प्रवृत्ति का चित्रण इस पद की अन्तिम पंक्ति में किया गया है।

(यहाँ साधारणीकरण की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। उर्वशी के हृदय में जो प्रेम का स्रोत उद्भासित हुआ है वह पर्वत के उद्गम के समान है और तद् उत्पन्न अमित आनन्द का संगीत झरने के संगीत के समान है) लावण्यमयी उषा की आभा को भी मैंने पहले-पहल निहारा है और उसकी द्युति से मैं स्वयं भीगी जा रही हूँ (नारी का उषा से साधारणीकरण होना भी स्वाभाविक है। इसका प्रभाव मार्मिकतामय होता है। जब सद्य स्नात उर्वशी पुरूरवा की कठोर बाहों में बार-बार उलझती है तो वह भी उषा के समान लाज के मारे लाल हो जाती है। प्रेम रस में भीगी हुई ऐसी उर्वशी का सौन्दर्य द्विगुणित हो जाता है)। उर्वशी कहती है कि हे पुरूरवा! अनन्त काल से मेरे शरीर के रोम रोम में जो प्रेम की रागिनी बन्द पड़ी हुई थी उसे तुम्हारे बिना भला कौन झंकृत कर सकता था। (भाव यह है कि देवलोक में तो उसकी सुषुप्त रागिनी को निनादित करने की किसी में क्षमता थी ही नहीं। इसलिए मैं भूलोक में आयी और यहाँ तुम्हारे मानवी-शरीर को पाकर मेरे हृदय में सोए हुए प्रेम का तार-तार बज उठा)। और भला तुम्हारे बिना मुझे यह विश्वास ही कौन दिला सकता था कि यह भूमि (मैं स्वयं उर्वशी जो धरती के समान हूँ) किसी अन्य की सृष्टि के लिए अन्तरिक्ष के समान है तथा इस भुवन पर जो वृक्ष झूम रहे हैं वे वृक्ष न होकर उस अन्तरिक्ष पर छाये हुए बादलों के समान हैं।

यह ज्योतिर्मय होता है।

शब्दार्थ—ज्योतिर्मय=आभायमान देदीप्यमान। कनक-पर्वत=सोने का पर्वत। स्याद्=शायद। मनोज्ञ=मनोहर।

प्रसंग—पुरूरवा के मनोहर शरीर को देखकर उर्वशी का हृदय अन्दर ही अन्दर रीझ उठता है। वह पुरूरवा की शरीर रचना के सम्बन्ध में विभिन्न कल्पनाएँ करती है। यथा—

अर्थ—हे पुरूरवा! तुम्हारे इस देदीप्यमान रूप को देख कर मन में अनेक कल्पनाएँ अवरोहित—तिरोहित हो रही हैं। (ऐसा प्रतीत होता है जैसे प्रकृति देवी ने अपनी रुचि एवं भावनाओं के अनुसार किसी स्वर्ण-शैल से एक बड़ी शिला काट कर तुम्हारे जैसे विराट पुरुष की प्रतिमा बनाई थी और फिर

उसमें महाप्राण भर कर पृथ्वी पर गिरा दिया था अथवा इस धरती ने ही स्वर्ग की सुन्दरियों एवं अप्सराओं को लज्जित करने के लिए राक्षसों से भी अधिक बलशाली तथा देवताओं से भी मनोज्ञ सिद्ध करने के लिए तुम्हें जन्म दिया है।

विशेष—उत्प्रेक्षा सन्देह अलंकार।

उफ री यह आलोड़न में ?

शब्दार्थ—विकच=खिले हुए। पाटल के दल=गुलाब के फूल की पंखुड़ियाँ (ओष्ठ)। मदकल=चंचल। संक्रमण=प्रवेश। कुसुमायित=पुष्पित। स्वयं स्वयं को=अपने आप अपने को। आसुरी=पाशविक।

अर्थ—उर्वशी पुरूरवा के शारीरिक सौन्दर्य पर विमुग्ध होकर कहती है—उफ! तुम्हारा सौन्दर्य अप्रतिम है। तुम्हारे अधर पुष्पों के समान लालिमायुक्त खिले हुए हैं। जब ये गुलाब की पंखुड़ियाँ (ओष्ठ) उन्मत्त होकर मेरे सम्पूर्ण आनन का स्पर्श करते हैं तब मेरा एक-एक रोम-कूप न जाने किन पीयूष-कणों से परिप्लावित हो जाता है। और जब तुम अपनी कठोर भुजाओं से मुझे अपने आलिंगन-पाश में जकड़ कर लेते हो तब तुम्हारे देह में संचरण करने वाली उत्तप्त लहरियाँ मेरे हृदय में प्रवेश करके उन्मत्त बना देती हैं। अनुपम काम से वासित पुष्पावृत पर्वत के समान तुम्हारे लौह-शरीर से लिपट कर कभी मैं रोमांचित हो उठती हूँ (कभी तुम्हारे अप्रत्याशित कठोर-घात से) व्याकुल हो उठती हूँ। (कभी उस आनन्द का अनुभव करके) प्रसन्न हो जाती हूँ (और कभी उस अमित आनन्द की अतिशयता के कारण) अपनी चेतना भूल कर मूर्छित हो उठती हूँ। वास्तव में पर्वत की पाशविक शक्ति के आकुल आलोड़न में अपने आपको स्वयं ही समर्पण करने में कितना अपरिमित आनन्द है।

विशेष—जब मनुष्य कामासक्त हो जाता है तो उसे अपनी सुध-बुध नहीं रहती। ऐसे समय में उसकी पाशविक शक्ति उभर कर सामने आ जाती है। मनुष्य की इसी स्वाभाविक एवं सहज प्रवृत्ति का चित्रण इस पद की अन्तिम पंक्ति में किया गया है।

इस पद की अन्तिम दूसरी पंक्ति को पढ़कर यह जिज्ञासा पैदा होती है कि सविता के समान उर्वशी को पुरूरवा की पाशविक प्रवृत्तियों में आनन्द की अनुभूति कैसे होती है। यह काम-शास्त्र का एक मनोवैज्ञानिक प्रश्न है जिसका समाधान प्रसिद्ध नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक 'वितस्ता की लहरें' की इस सूक्ति से हो जाता है— 'कोमल को कठोर तथा कठोर को कोमल की आवश्यकता है।' 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' तथा उपमा' अलंकार।

पुरूरवा

हाय तृष्णा ... अम्बर पर ?

शब्दार्थ—आकुल=डूबते। अपर=दूसरे। फाल=छलांग कुदान। प्रतप्त=गर्म।

प्रसंग—पुरूरवा उर्वशी के इस शारीरिक प्रेम से ऊब गया है। वह मानव-स्वभावानुकूल शरीर की इस सीमा को लांघ कर प्रणय के शून्य अम्बर में पहुंच जाना चाहता है। अतः अपनी 'अपर पार जाने' की इच्छा को उर्वशी के सम्मुख प्रकट करते हुए कवि कहता है—

अर्थ—ओह ! (मैं क्या करूं ! मैं इस शरीर भोग से तुरन्त पलायन करना चाहता हूं)। बार-बार मेरे चित्त में अशरीर प्रेम-ज्योति की तरंगों में डूब जाने की प्रबल जिज्ञासा तथा पिपासा उत्पन्न हो रही है। बार-बार यही लालसा होती है कि छलांग मार कर चेतना रूपी समुद्र के दूसरे किनारे पर जाकर खड़ा हो जाऊं और शरीर में उफनने वाली इन उत्तप्त लहरों को सदा के लिए छोड़ दूं। (अपने हृदय में ही ऊहा-पोह करता हुआ पुरूरवा कहता है कि) क्या कभी मेरा यह प्रेम (पार्थिव-सीमा एवं शारीरिक-सौन्दर्य को लांघ कर) उस शून्य अम्बर (ब्रह्मलोक) में जाकर स्थिर हो सकेगा ?

विविध मुरें ... तट है ?

शब्दार्थ—मुकुर=दर्पण। मुकुल=वह कली जिसका मुंह जरा-जरा खुल रहा हो, शरीर, आत्मा।

भव—पुरूरवा कहता है कि मैंने तुम्हारे हृदयों के तारों को विभिन्न स्वरों में बजाकर देख लिया अपने हृदय-मन्दिर में अनेक रंगों में सजाकर बैठा चुका; फिर मैं तुम्हारे विविध रेखा-चित्र खींच कर देख लिए—कभी शरीर में उत्सुकता पैदा करके हृदय को रोमांचित किया तो कभी अपने मानस के शीतल स्पर्श में तुम्हें समझने की कोशिश की और यहां नहीं मैंने अनेक लोकों (अन्नमय, प्राणमय, मनोमय लोक) में जा जा कर तुम्हें काफी समझने की कोशिश की। मगर कैसी विडम्बना है कि तुम इन सब पाशों से परे विचरण कर रही हो या है मायाविनी! मैं तुम्हारे जिस स्वरूप का दर्शन कर रहा हूं उसका मुकुल बन्द पड़ा है अर्थात् हे उर्वशी! तुम्हारे हृदय की कली अभी तक बन्द पड़ी है। वह अभी तक दैहिक-भोगों से परे हटकर 'सूक्ष्म अम्बर' में जाने की कामना नहीं करना चाहती। तुम प्रेम के महासिन्धु के तट पर बैठी हो। (उसके अन्तर में अवगाहन करने की तुम्हारी कभी जिज्ञासा उत्पन्न नहीं हुई)।

कहां उच्च आलोड़न में ?

शब्दार्थ—विलय=विलीन लोप। ग्राम्य=ग्रामीण जैव।

अर्थ—पुरूरवा प्रथम के सूक्ष्म अम्बर तथा जैव धरातल के ग्राम्य प्रेम की तुलना करते हुए उर्वशी से कहते हैं—

अब तुम्हीं बताओ उर्वशी! कहां तो प्रेम का वह उच्च शिखर जिस पर पहुंच कर काल (समय बन्धन) लोप हो जाता है और कहां यह जैव तृषा जिसमें तुम पर्वत के समान शरीर वाले मूढ़ प्राणी की आसुरी शक्ति के आकुल आलोड़न को ही सब कुछ समझकर रसातल की ओर बढ़ने की ठान रही हो।

विशेष—अब पुरूरवा धीरे-धीरे उर्वशी की प्रवृत्तियों को समझने लगे हैं तथा जैव धरातल को हेय तथा असार बताकर उसे अपने साथ ऊपर उठाने का प्रयत्न करते हैं। यहां 'शाखा' शब्द में श्लेष अलंकार है।

भाग्य स्वयं रही हो ?

शब्दार्थ—सरल है।

प्रसंग—पुरूरवा यह जानता है कि यह देवकन्या है। मृत्यु-लोक की भूमा को सम्भवतः यह जानती होगी। सम्भवतः यह मेरी चेतना को भ्रमित करके मेरी परीक्षा ले रही है। अतः अपने चित्त में उठे हुए द्वन्द्व प्रयसी के सम्मुख प्रकट कर देता है—

अर्थ—हे उर्वशी ! या तो तुम स्वयं (इस जगती के मायाजाल में फंसकर) भ्रान्त हो गई हो या (सब कुछ जानती हुई) मुझे विभ्रमित कर रही हो !

उर्वशी

भ्रान्ति नहीं   नहीं मिलेगा ?

शब्दार्थ—प्रतियोगी=शत्रु विरोधी प्रतिद्वन्द्वी । प्रतिबल=समान बलवाला ।

प्रसंग— आदमी हवा और पत्थर के दो छोरों के बीच लटके जाता है और झटका खाकर कभी इस ओर, कभी उस ओर मुड़ जाता है। कभी प्रेम ! कभी संन्यास ! और सन्यास प्रेम को बर्दाश्त नहीं कर सकता न प्रेम संन्यास को क्योंकि प्रेम प्रकृति और संन्यास परमेश्वर है और मनुष्य को सिखाया गया है कि एक ही व्यक्ति परमेश्वर और प्रकृति दोनों को प्राप्त नहीं कर सकता। उर्वशी पूछती है—क्या ईश्वर और प्रकृति दो हैं ? क्या ईश्वर प्रकृति का प्रतिबल है उसका प्रतियोगी है ? क्या दोनों एक साथ नहीं चल सकते ? क्या प्रकृति ईश्वर का शत्रु बनकर उत्पन्न हुई है अथवा स्वयं ईश्वर ही प्रकृति से रुष्ट है ? —उर्वशी की भूमिका से

इन प्रश्नों को उठाकर उर्वशी पुरूरवा के हृदय में प्रकृति और परमेश्वर के प्रति उत्पन्न द्वैत भावना को शान्त करने का प्रयास करती है। इसके आधार पर प्रकृति और परमेश्वर की एकता की अनुभूति ही सर्वस्पष्ट है। दोनों में परस्पर कोई प्रतियोगी नहीं है। अपने इन्हीं मूल भावों को उर्वशी के माध्यम से कवि ने विस्तारपूर्वक वर्णित करने की चेष्टा की है।

अर्थ—उर्वशी पुरूरवा की प्रकृति (जगत) और परमेश्वर (संन्यास) के विषय में उत्पन्न भ्रान्त धारणा का समाधान प्रस्तुत करती हुई कहती है—

(प्रकृति और परमेश्वर के विषय में मेरे हृदय में किसी प्रकार की) भ्रान्ति नहीं है अपितु मैंने तो अनुभूति के द्वारा उसको अच्छी तरह समझ लिया है। जिसे हम सब ईश्वर कहते हैं वह न तो प्रकृति का शत्रु है, न उसका प्रतिद्वन्द्वी है और न उसके समान बल वाला है। यह तुम्हें किसने कह दिया कि प्रकृति और परमेश्वर एक साथ नहीं रह सकते। (तुम्हारे चित्त में यह भ्रान्त धारणा किसने उत्पन्न की है कि) जो ईश्वर तक जाना चाहता है उसे प्रकृति से अपने सारे सम्बन्ध तोड़ लेने होंगे (और तुमको किसने बहका दिया कि) जिस प्राणी का हृदय प्रकृति के रस में रमा हुआ है उसे और चाहे कुछ भी मिल जाय मगर परमेश्वर नहीं मिल सकता।

विशेष—उपरोक्त पंक्तियों में कवि ने उर्वशी के माध्यम से शंकर स्वामि के अद्वैतवाद में निहित मायावाद का घोर खण्डन किया है। मायावाद के अनुसार 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का सिद्धान्त सर्वप्रचलित है। अद्वैतवादी प्रकृति को माया मानकर ब्रह्म के पथ में उसको सबसे ज्यादा बाधक मानते हैं। कबीर ने अपनी कविता में 'मायावाद' का घोर विरोध किया है—

'माया महा ठगनि हम जानी।
तिरगुन फाँस लिए कर डोले बोले मधुरी बानी।
× × ×
कबिरा माया बेसवा दोऊ की एकै जाति।
आवत को आदर करै, जात न पूछे बाति॥

—कबीर

कवि इसी मायावाद का खण्डन करके दोनों का सुरम्य सामंजस्य करना चाहता है।

किसने कहा ... नहीं है?

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—यह तुम्हें किसने कहा कि जो नारी पुरुष को भली प्रकार जान लेती है उसके लिए परम सत्ता का ज्ञान असम्भव है और यह पुरुष जो एक रमणी को अपने आलिंगन में बांध चुका है देश-काल की सीमा का भेदन करके [illegible] में उसकी पैठ नहीं है।

ईश्वरीय जग ... जाती है।

शब्दार्थ—गोचर=नजर आने वाले। मृषा=झूठ।

अर्थ—ईश्वरीय जग (सूक्ष्म लोक) इस गोचर जगत से भिन्न नहीं है। अपितु (तुम्हारे द्वारा कहे गए) इसी अपवित्र (जगत में) वह अदृश्य ब्रह्म अपने पावन अंश में बसा हुआ है। भाव यह है कि इस जगत की सृष्टि ब्रह्म के ही सौन्दर्य अंश से हुई है। अतः यह सत्य रूप तो है ही। हे पुरूरवा! इस प्रकृति को माया कहकर क्यों मृषा ही प्रकृति का अस्तित्व मिटाने पर तुले हुए हो। ये (प्रवाहित होने वाली) नदियाँ (विकसित होने वाले) फूल (लहलहाते हुए) वृक्ष और हम-तुम—सब सूक्ष्म ब्रह्म के अंश पर सत्वशील जीवित तथा साकार रूप में खड़े हुए हैं। यहाँ तक कि यहाँ पर रहकर हम जो कुछ करते हैं उसकी गन्ध हवा में उड़ते उड़ते दूर जन्म जन्मान्तर तक पहुंच जाती है। (भाव यह है कि यदि प्रकृति और परमेश्वर का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध न होता तो फिर जड़-चेतन में ये प्राण और सत्वशीलता कहाँ से आई? साथ ही हम जो कुछ कर्म करते हैं अगले लोक में उसका फल कैसे मिल जाता है? यह और कुछ नहीं है केवल परमात्मा की महिमा है जो अपने जीवों का सारा लेखा-जोखा अपने मस्तिष्क में रखता है और जीव के उन्हीं कर्मों के अनुसार दुःख सुख प्रदान करता है। अतः प्रकृति और परमात्मा में अंश-अंशी सम्बन्ध स्थापित है। अत जीव को मोक्ष की प्राप्ति के लिए दोनों में रति लगानी होगी)।

शिखरों में ... दिखता है।

शब्दार्थ—शिखरों=पर्वत की चोटियाँ। गर्त=गढ़ा। तिमिरपुरी=जगत।

अर्थ—ब्रह्म सर्वव्यापक है। स्थूल तथा सूक्ष्म—दोनों तत्त्वों में इसका सतत प्रवेश है—उर्वशी इस सत्य का उद्घाटन करते हुए पुरूरवा से कहती है—

पर्वतों के उच्च शिखर पर जो मौन रूप में समाधिस्थ होकर बैठा है वही झरनों में समाकर घोर गर्जन कर रहा है। जिस ब्रह्म का तेज ऊपर आकाश

लोक में प्रतिभासित हो रहा है वही यहाँ तम के गहन गर्त में भी छिपा बैठा है। (जब यह घोर गगन तथा प्रकाश और अन्धकार एवं भूतकाल तथा आकाश सब में वह ब्रह्म को ज्योतिसमान रूप से व्याप्त है तो फिर तुम किस भय से भयभीत होकर नीचे की इस तिमिरपुरी से भाग रहे हो! ऐसा कौनसा लोभ है जो तुम्हें ऊपर की ओर खींच रहा है। (ऊपरी प्रकाश के लोभी पुरूरवा को एक अन्य कटु सत्य का संकेत देती हुई उर्वशी कहती है कि) जब मनुष्य (जो कि ब्रह्म की शक्ति का एक अंश मात्र है) सूर्य (ब्रह्म) की प्रखर किरणों से साक्षात्कार करने की कामना करता है तो उसके पास जाते ही वह अन्धा हो जाता है। भाव यह है कि ब्रह्म के उस अमित प्रकाश को अपने हृदय में समेटने में जब वह असमर्थ पाता है तब विमूढ़ होकर वह अपने नेत्र बन्द कर लेता है। और कोई पुरुष ऐसा होता है कि अन्धकार में ही उस ब्रह्म की ज्योति को खोज निकालता है (और धीरे धीरे उसे अपने में समाविष्ट करके स्वयं ब्रह्म रूप हो जाता है। अतः अन्धकार से प्रकाश की ओर जाना अधिक श्रेयस्कर है।

मुक्ति खोजते ... प्राणों का

शब्दार्थ—प्रसून = फूल। निग्रह = परित्याग।

अर्थ—उर्वशी कहती है—क्या तुम मुक्ति की खोज [illegible]
यह तो बताओ कि आखिर वह कौनसा बन्धन है जो तुम्हारे [illegible]
में अवरोध बन रहा है? (प्रकृति प्रांगण में खिलने वाले) [illegible]
(मुक्तवेग से प्रवाहित होने वाली) यह हवा है जो तुम्हें [illegible]
तुम्हें (अपने पार्थिव प्रेम में) बांध रही हूँ! अथवा [illegible]
स्वच्छन्दता है। तुम इस प्रकृति के उन मनोहर पुष्पों, [illegible]
तथा मेरे पाश-बाम से छूट कर मुक्त हो जाओ। [illegible]
ऊपर (सामाजिक अथवा नैतिक) नियम संयम, निग्रह [illegible]
का कोई बन्धन नहीं है? (अर्थात् है, मनुष्य इन [illegible]
सकता। जब कभी वह प्राणायाम-व्यायाम करके [illegible]
करता है तो वह न तो जगत के ही काम का रहता है, [illegible]
ही इस दिव्य ब्रह्म की अनुभूति हो जाती है। [illegible]

पड़ता है। उस पर तो 'धोबी का कुत्ता घर का न घाट का' वाली कहावत चरितार्थ हो उठती है)। *

मोह माया पायेगी।

शब्दार्थ—प्रकृत=यह स्थूल जागतिक।

अर्थ—केवल अप्सरा भाव ही मनुष्य को दिग्भ्रमित नहीं करते अपितु मानव के अन्दर एक विचार तत्त्व भी है जो दूसरे मनुष्य के चित्त में यह सोचने का प्रयत्न करता है कि प्रकृति और परमेश्वर दो भिन्न-भिन्न शक्तियाँ हैं। (मनुष्य एक ही शक्ति को अंगीकृत कर सकता है)। यदि उसने एक बार ईश्वर को प्राप्त कर लिया तो वह प्रकृति के हाथों से जाता रहेगा अर्थात् प्रकृति फिर उस पुरुष को पाने में असमर्थ होगी।

प्रकृति नहीं सिखलाती है।

शब्दार्थ—भ्रमित=भ्रम अथवा सन्देह में डालने वाली। धी=बुद्धि। वर्जन=परित्याग।

अर्थ—(जो व्यक्ति प्रकृति को माया कहकर उसका तिरस्कार करता है वह दिग्भ्रमित है। वास्तव में) प्रकृति माया नहीं है अपितु माया तो वह बुद्धि है जो सदा भ्रम में रहती है। सर्प के समान उसकी जिह्वा बीचो-बीच फटी हुई है। अपनी एक जिह्वा से तो वह सुख का वर्जन करने की बात कहती है और दूसरी तरफ प्रकृति आदि की ओर से अपनी वृत्ति को हटा लेने का उपदेश देती है।

विशेष—'उपमा' अलंकार। कवि ने बुद्धि को सर्प के समान दो जिह्वा वाली बताकर एक तथ्य को सामने प्रस्तुत कर दिया कि बुद्धि तर्कमयी होती है जहाँ व्यक्ति तर्कजाल में फंस जाता है वहाँ वह रस को नहीं पा सकता अपितु सूखे रेगिस्तानी टीलों में मारा-मारा फिरता है। अतः उर्वशी यह कहना चाहती है कि हे पुरुष पुरूरवा! तुम अपनी वृत्ति को सहज तथा श्रद्धामयी बना लो। फिर तुम्हें स्वतः अनायास ही अपने इष्ट की सिद्धि हो जाएगी।

मन की शक्ति रहती है।

शब्दार्थ—विभक्त=विभाजित।

मर्म—द्वैत भाव की रचना मन ने की है। वास्तव में प्रकृति में किसी प्रकार का द्वैत भाव नहीं है (वह निश्चय ही परमेश्वर की सहचरी है)। (मनुष्य द्वारा निर्मित भ्रान्त धारणा से) जब तक यह प्रकृति काले और सफेद खंडों में विभाजित है तब तक यह सम्पूर्ण विश्व हमें माया प्रवाह दृष्टिगत हो रहा है। जिस दिन मनुष्य इन शुभाशुभ भावों से परे हटकर अपने चित्त को तटस्थ कर लेगा तब (प्रकृति और परमेश्वर में) न तो कोई भेद दिखाई देगा और न ही हृदय में किसी प्रकार की कोई शंका जन्म लेगी।

राग-विराग संयमों से भी।

शब्दार्थ—राग=मोह। विराग=वैराग्य। निसर्ग-द्रोही=जन्मजात शत्रु। अनुरक्त=प्रसक्त। अभिप्रेत=लक्षित। प्रसरित=फैलने दो। अभय=बाधा-रहित। निर्लिप्त=निष्काम भाव से।

अर्थ—राग तथा वैराग्य—दोनों बड़े दुष्ट हैं तथा स्वभावतः (जन्मजात) शत्रु हैं। प्रथम (राग) चेतना को प्रसक्त करके उसमें संकोची (स्वार्थ) प्रवृत्ति का उदय करता है। (भाव यह है कि मोह की प्रवृत्ति मनुष्य को निकृष्ट रसातल में डाल देती है। उसकी प्रवृत्तियां घोर स्वार्थी बन जाती हैं। अपने अधिकार में आई हुई वस्तु को वह आजीवन किसी को देना नहीं चाहता और दूसरे की वस्तु को छल-बल से अधिकार में करना चाहता है)। दूसरी शक्ति वैराग्य की है। यह बलपूर्वक भावना को अपने अभीष्ट सुख के लक्ष्य की ओर प्रसरित करने के लिए विवश करता है। इस प्रकार दोनों (राग-वैराग्य) बड़े भयंकर हैं। (चित्त की) शान्ति और अद्वैत के ये दोनों बड़े भारी बाधक हैं। अतः इन दोनों का परित्याग करके है पुकारता। तुम अपनी चेतना को निश्चिंत तथा अभय रूप में बहने दो। और लोभ भय संघर्ष मृत्यु नियम तथा संयम आदि बन्धनों से भावना को निर्लिप्त करके उसे हर एक अभिलषित कार्य करने दो। (इसी में मुक्ति है और आनन्द है)।

विशेष—ईशावास्योपनिषद् में विद्या और अविद्या तथा सम्भूति और असम्भूति दोनों को ही भ्रममय कहा है जो क्रमशः विराग और राग के ही रंचमात्र भेद से पर्याय हैं। जो केवल विद्या की उपासना में लीन रहते हैं वे

अज्ञानी हैं किन्तु वे उनसे भी अधिक अन्धकार में हैं जो केवल अविद्या में रत है—

अन्ध तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते ।"

हम इकलुष   सत्ता का ।

शब्दार्थ—अकलुष=कलुष रहित । प्रमोद=आनन्द । निरामय=नीरोग । विधि-निषेध-मय=क्या करने योग्य है और क्या नहीं । स्वत=अपने आप ।

अर्थ—(यद्यपि) हम सब जीव सदैव कलुष रहित (राग-द्वेष से मुक्त) आनन्द को पाने के इच्छुक हैं लेकिन यह निरामय (नीरोग) आनन्द विधि-निषेधमय उपायों तथा (प्राणिक प्राणायाम) के प्रयत्नों से प्राप्त नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार शाखा से टहनी तथा टहनी से (कोमल-कोमल) पत्तियाँ अपने आप ही निकलती हैं अथवा जैसे रहस्य-चिंतक के मन में अदृश्य लोक की अगम सत्ता का रहस्यमयी प्रकाश अपने आप कौंध जाता है उसी प्रकार हमारे चित्त में आनन्द का यह स्रोत अनायास ही फूट निकलता है। (इसके लिए न तो बुद्धि को तर्क जाल में फंसने की आवश्यकता है और न चित्त को बेचैन करके रात दिन जागने की आवश्यकता है)।

यह अकाम   कर्मो का।

शब्दार्थ—अकाम=निष्काम—जिसमें कर्म के बाद उसके फल की इच्छा न हो तथा उस कर्म के प्रति किसी प्रकार की आसक्ति न हो। अविरत=लगातार। निधम=परमेश्वर। निरत=लगा हुआ। विरत=लगाव से रहित उदास।

अर्थ—जो व्यक्ति कर्म करने के पश्चात् न उसके फल की इच्छा करता है और न ही उसकी कोई आसक्ति रहती है वही निष्कामी व्यक्ति अपने में सन्तुष्ट एवं शान्त रह कर आनन्द के अंश की उपलब्धि कर सकता है। जो निरन्तर परमेश्वर (की महिमा तथा लीला में) डूबा रहता है प्रकृति से एकाकार कर लेता है असंग होकर तथा अपने आपको ही पूर्ण मानकर निष्काम-कर्म की धारा में बहता रहता है (अपना जीवन यापन करता रहता

है) (सहज निष्काम-भक्ति से) संकर्मों में निरत रहता है मगर उनके परिणामों के प्रति उदास रहता है और सदा यह मानकर चलता है कि यहाँ पर हम जो कुछ करते हैं वह केवल एक क्रिया मात्र है। वह परम आनन्द की प्राप्ति सहज रूप में ही कर लेता है।

(दो पंक्तियों में कवि उर्वशी के माध्यम से कर्म (निष्काम कर्म) की अन्यतम महत्ता का उल्लेख करता हुआ कहता है)—

हम परमेश्वर के कर्म रूप हैं (अर्थात् जो कुछ भी कार्य करते हैं वे सब उसे समर्पित कर देते हैं) कर्म ही हमारा स्वभाव है। कर्म ही आनन्द-रूप है तथा (भविष्य में आने वाले सभी) कर्मों का फल स्वयं (वर्तमान में किया गया निष्काम) कर्म ही है।

विशेष—उपरोक्त भावों में गीता के अनासक्ति योग तथा निष्कर्म-कर्म का सार तत्त्व दिया गया है। गीता में लिखा है—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन"—इसी भाव की व्याख्या उपरोक्त पद में है।

'कामायनी' में 'कर्म' सर्ग में भी इसी भाव के दर्शन होते हैं—

यह नीड़ मनोहर कृतियों का
यह विश्व कर्म रंगस्थल है।
है परम्परा लग रही यहाँ
ठहरा जिसमें जितना बल है॥ —प्रसाद

जब हम ... प्रकृति का।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—जब हम अपने से बाहर निकल कर कुछ भी खोजने का प्रयत्न नहीं करते और अपने आँसुओं तथा खुशियों को प्रकृति के आँसू तथा उल्लास समझकर उसे समर्पित कर देते हैं तब हम कर्म करने वाले नहीं कहलाते अपितु स्वयं ही कर्म के साकार रूप हो जाते हैं।

यह प्रकाम आनन्द ... भवन में।

शब्दार्थ—जोहार करते=नमस्कार करते हैं। आकुलित=आकुल,

पीड़ित। व्यायाम=परीक्षा। सुचेष्ट यत्न=किसी काम को न करने में सर्वदा सावधान रहने वाला।

अर्थ—इस निष्काम आनन्द का भोग केवल वही कर सकता है जो सुखों को कभी आमन्त्रण नहीं भेजता (अर्थात् सुख कब आएगा ? उसे कैसे बुलाऊँ ? इस प्रकार की समस्याएं सुख में नहीं आता) (अपनी इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिए) रात-दिन बाट-बाट कर बाट नहीं देखता जिसकी बुद्धि सदा इस विषय पर चिंतित नहीं रहती कि ऐसा कौन सा उपाय करूँ, जिससे सुख के सम्पूर्ण वैभव पर केवल मेरा ही अधिकार हो जाए जिसकी चेतना इस भय से व्याकुल नहीं होती कि न जाने कब और किस मार्ग से कौनसा दुःख आ जाए (तथा मुझे ग्रसित कर ले) जो विधि तथा निषेध से मुक्त होकर है कठिन मनःप्राणायाम से हृदय की किसी प्रबल इच्छा को रोकने का प्रयत्न नहीं करता और न जो प्राणों को बलपूर्वक उसी दिशा में लगाए रहता है जिस दिशा से जीवन में सुख की धारा फूटा करती है।

कवि कहता है कि जब मनुष्य की इन्द्रियाँ तथा मन अपनी सहज तथा शान्त मुद्रा में अपने आसन जमा लेते हैं तथा चिन्ता से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं तभी उनमें आकाश में सूर्य की किरणों के समान निष्काम आनन्द की ज्योति स्वयं ही उसमें प्रवेश कर जाती है।

विशेष—उपर्युक्त पंक्तियों में कवि ने गीता में वर्णित 'स्थितप्रज्ञ' की ही स्थिति को अंकित किया है। यथा—

> "दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः
> वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।
>
> —गीता ५६ अध्याय २

विधि-निषेध अर्जन-वर्जन के।

शब्दार्थ—अर्जन=ग्रहण। वर्जन=त्याग।

अर्थ—जहाँ पर विधि निषेध होता वहाँ पर व्यक्ति निष्काम कर्म नहीं कर सकता (क्योंकि उसमें बुद्धि है ऐसा जान तो) है विधि-निषेध अर्जन-वर्जन

(अमुक कार्य को करना चाहिए और अमुक को छोड़ देना चाहिए) के नियम के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

और कहाँ ... करते हैं ?

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—(अर्जन-वर्जन के नियमों के बन्धन से परे हटकर ऐसे स्थान पर जहाँ इस) अर्जन-वर्जन का गणित चलता रहता है, ऐसे (कर्मों में सचेत) उन सजग प्रहरियों के सामने यह छाती ठोक कर कह सकते हो कि (तुम सबसे परे) मैं भी एक जीव हूँ जिसके कर्म के फलों का कोई ध्येय नहीं है अर्थात् जो बिना फल की इच्छा किये कर्म करता है। जो फलासक्ति से मुक्त क्रिया में इसी भाँति निरत है जैसे समीर त्रिलोक में घूमता रहता है मगर भ्रमण में उसका कोई लक्ष्य नहीं होता। वह अपने ध्येय से मुक्त होकर ही सम्पूर्ण लोकों में अपना पुनीत कर्म करता चला जाता है। अथवा (मेरा फलासक्ति रहित कर्म ऐसा ही है) जैसे फूल निरुद्देश्य खिलते हैं। (भाव यह है कि जिस प्रकार पुष्प अपनी सुवास को बिना किसी पूर्वोद्देश्य के निखिल प्रकृति में फैला देता है और जिसका जन्म ही दूसरे के सुख के लिए होता है वैसे ही मेरा कर्म भी परहित-जन्य होना चाहिए। उसमें अपने स्वार्थ की कोई गन्ध नहीं होनी चाहिए)।

हो कोई वो ... रहा है ?

शब्दार्थ—समर=युद्ध। देह-दमन=शरीर के पीड़न से।

अर्थ—(उर्वशी इन पंक्तियों में ऐसे योगी तथा संन्यासियों पर कटु आक्षेप करती है जो कहने को तो यह कहते हैं कि हम जो कुछ भी करते हैं वह सब बिना किसी फल की इच्छा के करते हैं मगर सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो वे किसी सुख की खोज में अपनी इन्द्रियों को महा कष्ट देते रहते हैं तथा रात भर जाग कर व्याकुल होते रहते हैं। ऐसे पुरुषों के सम्बन्ध में पुरूरवा से उर्वशी कहती है—)

यदि ऐसा कोई व्यक्ति हो जो (फलाकांक्षी होते हुए भी) यह कहे कि ... चाहिए कि वह (अर्जन-

रूपी) चाबुक मारकर क्यों अपने आपको विरोध दिशा की ओर हाँके लिए जा रहा है ? क्यों वह प्रकृति से रूठ रोष हुए है। अपनी इन्द्रियों पर तलवार रूपी अंकुश लगा कर वह अपनी देह को भी दण्ड दे रहा है उससे भला वह कौन से सुख का मोल चुका रहा है और वह कौन सा सुख है जिसके लुट जाने की आशंका से वह सारी रात निद्रा से लड़कर एवं व्याकुल होकर जाग रहा है।

और सुनोगे   दूर होगा है।

शब्दार्थ—प्रहरी=(आत्मा या मन के) पहरेदार। धनुष=प्रत्यंचा धनुष की डोरी। रिक्तता=अभाव। फेन=झाग।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण में कवि ने उर्वशी के मुख से विधि-नियमों में बँधकर प्रकृति से कोमल दूराकर जागने वाले प्रहरियों अर्थात् योगियों की अनुपयुक्त अमरत्व की भावना पर व्यंग्य करते हुए प्रकृति और ईश्वर में अभेद सम्बन्ध प्रदर्शित किया है।

अर्थ—एक और रहस्यमय बात यह है कि आत्म-संयमन करने वाले रात-रात भर अपनी साधना के धनुष पर तनाव अर्थात् मनन-मनन की प्रत्यंचा चढ़ाकर मन के उन घरों में प्रहरी बन कर घूमते हैं जिनके समीप कोई भी तो रक्षा करने योग्य तत्त्व नहीं है। वह तो उनकी सूनी चेतना का खोखलापन है जिसमें सुखद कल्पनाओं के स्वप्न तड़पकर रह जाते हैं। मन की इस पिपासा को फिर मारने के बाद भी वे अमर यों बुझाने के लिए वे इस प्रकार की मन-मान्य युक्तियाँ निकालने को व्यग्र रहते हैं। किन्तु इससे भी अधिक भाव इनके मन में यह है कि ईश्वर और प्रकृति में अन्तर है और इसीलिये अमरत्व की सिद्धि के लिए वे दूर भागना चाहते हैं।

धूम अनुज !   -समान हैं।

शब्दार्थ—आप्त=रक्षा। धूमयोनि=धुएँ का समूह।

प्रसंग—उपर्युक्त प्रसंग का विस्तार करते हुए कवि परिवर्तनशील संसार के उस सूक्ष्म रहस्य को उद्घाटित करता है जिसके अनुसार समग्र ठोस पदार्थ भी सूक्ष्म निराकार तथा वायवत हैं। फिर मनुष्य, जो स्वयं प्रकृति का रूप है उसकी सत्ता से बचकर कहाँ भाग पायेगा कहाँ जायेगा।

अर्थ—और वह मूढ़ मनुष्य, जो प्रकृति से बचकर भागना चाहता है, यह भी नहीं जानता कि वही स्वयं प्रकृति है। फिर अपने आप से भागकर उसे कहाँ आश्रय मिलेगा? यह सब कुछ शून्य है। यहाँ किसी पदार्थ का निश्चित रूप नहीं है। परिवर्तन की लीला से क्षण भर में सब कुछ बदल जाता है। घूमकाल ही क्यों? यह ठोस पर्वत भी छाया ही है। यह भी कभी शून्य आकाश के रूप में था और अब भी यह चलना-शून्य प्रतिक्षण नये रूपों में समाता जा रहा है। क्या पता अनन्त आकाश में मिलकर यह फिर प्रकट हो जाय।

विशेष—ऊपर के पद में कवि ने उपनिषदों के उस महान् रहस्य को सुन्दर तथा भावमयी शब्दावली में व्यक्त किया है जिसके अनुसार यह संसार शून्य से प्रारम्भ होकर शून्य की ही ओर अग्रसर हो रहा है।

यह परिवर्तन ... योग्य नहीं है।

शब्दार्थ—प्रक्रिया=गति रचना-विधि। सहज=स्वाभाविक।

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियों में परिवर्तन को प्रकृति का स्वभाव कहकर उसमें शून्य को सहज भाव से बहने की प्रेरणा दी गई है।

अर्थ—यह परिवर्तन यदि विनाश है तो फिर मृत्यु से भिन्न किसी और वस्तु का नाम मुक्ति नहीं है पर परिवर्तन नाश नहीं है। यह तो प्रकृति की स्वाभाविक गति तथा उसके प्राणों की स्वच्छन्द धारा है और इस धारा में सहज भाव से बहने वाला पुरुष ही मुक्त है। जो नियम-उपनियमों से दूर होकर सभी कामनाओं को छोड़ बिना किसी (निश्चित) ध्येय के बहता रहता है। क्योंकि इसके अतिरिक्त न तो और कुछ करना सम्भव है और न ही उचित।

जानें क्यों ... बहुंगे वाले को।

शब्दार्थ—विलोम=दुःख, पाप। संतरण-क्षम=तैरने में कुशल।

प्रसंग—उपर्युक्त।

अर्थ—फिर भी चतुर तैराक सहज धारा अनायास में न जाने क्यों आहें भरकर अपने हाथ-पाँव मारते रहते हैं। भला कौन सी ऐसी सिद्धि है जो श्रम

कुसुम सेवक को मिल जाती है और निष्काम होकर जल में बहने वाले साधक को नहीं मिलती ।

जिसे खोजता ... कर्दम का ।

शब्दार्थ—अरूप=निराकार रूपहीन । अनिकेतन=भवन रहित आवास रहित । व्योम=आकाश । कर्दम=कीचड़ । युगपत=दोनों ।

अर्थ—तू जिसे अन्तरिक्ष की तहों में खोजता फिरता है वह निराकार निरावास किसी आकाश पर देह धारण कर बैठा नहीं मिलेगा । वह तो स्वयं अपनी लीला की धार में बह रहा है । कहीं कीचड़ कहीं कमल और कहीं स्वच्छ जल का रूप उसने धारण किया है । उसे देखना हो तो अपनी आँखों को समझा दे कि श्वेत और श्याम एक ही रंग के दो नाम हैं । तू यदि उसे छूना चाहे तो हाथों से कह दे कि वे फूल-काँटे का तथा कीचड़-कमल का भेद भुला दें ।

विशेष—'वह तो स्वयं बह रहा अपनी लीला धारा में'—इस भाव को प्रसाद जी ने 'कामायनी' में इस प्रकार व्यक्त किया है—

'कर रही लीलामय आनन्द
महाचिति सजग हुई सी व्यक्त ।'

—प्रसाद : कामायनी श्रद्धा

यह सारा संसार ईश्वर की सत्ता से ज्योतित है । सुख-दुःख राग-विराग हित-अनहित सभी उसकी प्रेरणा से प्रसूत हैं । अतः साधक को भले-बुरे का भेद मिटाकर ही साधना करनी चाहिये । इसीलिए गोस्वामी तुलसीदास ने पाप-पुण्य शूल-फूल खल-सज्जन आदि के भेद को भुलाकर सारे संसार को 'सियाराममय' समझा था—

"सीय राममय सब जग जानी
करउँ प्रणाम जोरि जुग पानी ।'

—तुलसी

अर्थ खोजते ... नहीं है ।

शब्दार्थ—अतीत गह्वर=विगत भूत की गुफा । प्रतीक्षा निरत=इन्तजार में डूबा हुआ । अनाख्येय=अकथनीय अवर्णनीय । गवाक्ष=वातायन झरोखा ।

व्याख्या-भाग

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियों में जीवन के सत्य को अगम्य रहस्यमय एवं अकथनीय कहा गया है।

अर्थ—जीवन का सत्य प्राप्त करना सहज नहीं है। कार्य और कारण की बड़ी गहन अन्धकार में पीछे तक छिपी हुई है। अतीत की गम्भीर गुफा में जहाँ तक भी जाओगे वहाँ तक पग-पग पर प्रतीक्षा में रुक लगाए जिज्ञासु दृष्ट मार्ग में मिलते जायेंगे। और अन्त में रहस्य की वह अकथनीय तथा वर्णनातीत दीवार खड़ी होगी जिसमें झाँकने का भी कोई झरोखा नहीं है। अर्थात् रहस्योद्घाटन की एक भी किरण का जिसमें प्रवेश नहीं है।

विशेष—भारतीय दर्शन-पद्धति में सत्य को धर्म को तथा ब्रह्म को वर्णनातीत की संज्ञा दी गई है। वेदों में कहा गया है कि 'उस सत्य के पात्र का मुँह ऐसे महान् ढक्कने से ढका है जिसे हटाना सर्वथा असम्भव है।' 'महाभारत' में भी सत्य के तत्त्व का गहन गुफा में निहित बताया है। यथा—

सत्यस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्

—महाभारत

सत्य के रहस्य में मनुष्य ज्यों-ज्यों प्रवेश पाना चाहता है त्यों-त्यों उसकी चेतना पर अधिक धुँधला आवरण पड़ता जाता है। प्रसाद जी का यह भाव भी इससे भिन्न नहीं है—

"जो नील आवरण जगती के दुर्बोध न तू ही है इतना
अवगुंठन होता आँखों का आलोक रूप बनता जितना।"

—कामायनी काम

वर्तमान की जाती है।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—वर्तमान जग की उस बूँद के समान है जो हाथ में आकर तु
बिखर जाती है। काल के इस उड़ते अम्बर का मर्म कौन बांध सकता
अर्थात् वर्तमान जो सतत गतिशील है जिसकी पंख में पा पड़ा है।
भविष्य के बीहड़ जंगल में ऐसा निबिड़ अन्धकार छाया है कि बुद्धि के

के प्रकाश में भी मार्ग नहीं सूझता। प्रज्ञा (विवेकशील बुद्धि) भी विवश हो हार मानकर अपना सिर थाम लेती है।

सूना सत्य　　　राह नहीं है।

शब्दार्थ—अतल=तल रहित। तल-स्पर्श=तल में पैठना। उत्स=झरना। वातायन=झरोखा।

अर्थ—आकाश के अतल विस्तार की सीमा खोजना व्यर्थ का प्रयत्न है। निर्झर के झर-झर निनाद में किसी भेद को खोजने का यत्न भी सारहीन है। इस सत्य के रहस्य का न कोई द्वार है और न कोई झरोखा ही खुला है जिससे कुछ भेद लग सके। हम जिस जगत पर खड़े हैं वहां जाने की कोई राह है ही नहीं अर्थात् जीवन अर्थ तक पहुँचना किसी मार्ग से भी सम्भव नहीं है।

किन्तु अर्थ　　　आयी हूँ ?

शब्दार्थ—शैलों=पर्वत। सुखासीन=सुख में निमग्न। लीन=लगे हुए। क्रिया=कर्म।

अर्थ—किन्तु जीवन के सत्य की गहनता को छोड़ कर जब तुम केवल बाहरी आवरण पर ध्यान दोगे सहसा ये रहस्यमय शून्य विविध साकार रूपों से प्रकाशित हो उठेगा तब तुम देखोगे कि यह विश्व शून्य नहीं अपितु नक्षत्रों नीले आकाश नदियों, पर्वतों तथा पर्णों हरीतिमा तथा भोर की लालिमा से भरा हुआ है। और इसके सभी तत्व सुखों में सिमटे हुए अपने-अपने कर्मों में लीन हैं फिर यहां किसी को किसी से यह पूछने का अवकाश ही नहीं कि यह सृष्टि कहां से उत्पन्न हो गई है।

विशेष—उपर्युक्त प्रसंग में कवि ने एक ओर तो यह संकेत किया है कि यह संसार उसी के लिए रहस्यमय है जो चिन्तन के द्वारा इसकी गहनता में प्रवेश पाना चाहते हैं तथा दूसरी ओर 'अर्थ' और 'शब्द' की समाओं द्वारा उनका लक्ष्य कविता के अर्थहीन शब्दाडम्बर की ओर भी है। शब्दों के जाल में उलझी हुई कविता पाठक के मन को तब तक भटकाती है जब तक उसकी अर्थ-शून्यता प्रकट नहीं हो जाती।

अच्छा है　　　प्रकृति का।

शब्दार्थ—जिज्ञासु=जानने की इच्छा वाला ज्ञान-पिपासु। दग्ध=

दुगम कठिन । वैचारिक=विचारक चिन्तक दार्शनिक । विषण्ण=दुःखित दुःखी खिन्न ।

अर्थ—पेड़ तथा पुष्प आदि को यह जानने की जिज्ञासा नहीं है कि वे कौन हैं कहाँ से आए हैं और उनका अन्त कहाँ है ? इस दृष्टि से वे मानव से अच्छी स्थिति में हैं क्योंकि उन्हें चिन्तन के कठोर पाश में उलझ कर बर्बाद नहीं होना पड़ता । वास्तव में यह प्रत्यक्ष जगत उतना कठोर एवं उलझा हुआ नहीं है जितना मन के भीतर भ्रम जाल पर जटिल हो जाता है । एक चिन्तक इन कठोर चिन्ताओं से जितना दुःखित रहता है उतना सामान्य प्रकृति का पुरुष विषण्ण नहीं होता ।

विमर्श—वस्तुतः चिन्तनशील प्राणियों की अपेक्षा सामान्य प्रकृति के जीव सुखी रहते हैं । एक दार्शनिक के लिए यह संसार रहस्य है उलझन है किन्तु साधारण प्राणी के लिए तो यह मानवों से युक्त सुख और सौन्दर्य का अखिल भण्डार है ।

द्वन्द्व एवं उदाहरण है ।

शब्दार्थ—द्वन्द्व=विरोध । द्वैत=द्वि । आभास—प्रतीति । द्वैतमय=दुविधा-युक्त । मानस=मन हृदय । अप्रयास=सहज स्वाभाविक । अनुभवन =अनुभव अनुभूति । निसर्ग=प्रकृति ।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्यांश में कवि ने प्रकृति और ईश्वर में अभिन्नता का भाव प्रदर्शित किया है । द्वन्द्व तो केवल मन का है । प्रकृति और ईश्वर दोनों परस्पर अविच्छिन्न हैं ।

अर्थ—ईश्वर और प्रकृति में कहीं भी राई भर विरोध नहीं है । विरोध की यह प्रतीति केवल दुविधामय मन के द्वारा होती है । जब मनुष्य प्रकृति के स्वाभाविक अनुभव को (प्रक्रिया को) तथा जीवन की सहज गति जान लेता है तब यह द्वैत की प्रतीति मिट जाती है क्योंकि प्रकृति और पुरुष में कोई अन्तर नहीं है । प्रकृति की गति के जो विशेष अवसर हैं वे ही ईश्वर की सत्ता के सुन्दर क्षण हैं । जन-भावना भी प्रकृति का आधार लेकर चलती है । साकार प्रकृति तथा निराकार ईश्वर— ये दोनों एक ही हैं । इनमें गुणों का

नहीं भेद है तो केवल देखने वाले की दृष्टि तथा मन का है। और यह कामा भिभूत धर्म ही इसका उज्ज्वल उदाहरण है।

काम धर्म ... शिखर पर।

शब्दार्थ—असीमा=सीमा-रहित। सुषमा=सौन्दर्य। तृषा=पिपासा

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने काम के ऊर्ध्वगामी तथा अधोगामी—दोनों ही रूपों की चर्चा की है।

अर्थ—काम ही धर्म है तथा काम ही पाप है। काम किसी मनुष्य को तो उच्च लोकों से गिराकर हीन पशुओं जैसा बना देता है और किसी के मन में अनन्त सौन्दर्य की प्यास जगा कर स्वर्णिम किरणों से मण्डित उन्नति के तुंग शिखर पर पहुँचा देता है।

विशेष—काम से तात्पर्य मानव-मन की उस स्फूर्ति से है जो मनुष्य की चेतना में लिपट कर उसे कोई कार्य करने की प्रेरणा देती है।

यह विरोध ... चिन्तन से ?

शब्दार्थ—अपर=दूसरा। दानव=राक्षस।

अर्थ—काम की एक ही भावना में फिर यह विरोध क्यों है ? एक ही कर्म के दो फल एक दूसरे के विरोधी कैसे बन जाते हैं ? क्या तुमने कभी यह सोचा है कि यह प्रेम कहीं तो राक्षस क्यों बन जाता है और कहीं क्यों रहस्य के चिन्तन में लीन हो जाता है।

काम नहीं ... करते हैं।

शब्दार्थ—वैपरीत्य=विरोध। आसक्त=अनुरक्त। लब्ध=प्राप्त। स्मृति=याद। विकल=दुःखित। व्यग्र=अधीर। मधुसर=अमृत का सरोवर। अवगाहन=स्नान। सौहार्द्रष्ट=प्रेम से आकर्षित। बलात्कार=जबरन जबरदस्ती। दुर्धर्ष=भयंकर, कठोर। किल्बिष=पाप। कृत्य=कार्य। सम्पादन=संग्रह। वपुस=शरीर। लिप्सा=लालसा। सहज आकर्षण=स्वाभाविक अनुरक्ति। वीचियाँ=लहरें। अनामन्त्रित=बिना बुलाए। सुवर्ण=अच्छे वर्ण वाला सुन्दर। लोलुपता=लालच। तस्कर=चोर।
[illegible]=चोर।

अर्थ—इन विरोधी भावनाओं का कारण भी काम नहीं मन ही है। मन जब किसी पर अनुरक्त होकर कामुकता से प्राप्त किए जाने वाले अनेक सुखों की चिन्ता में मग्न उन्हीं सुखों को याद किए जाता है तथा दुःखित एवं बेचैन होकर सुन्दरता के सर में बार-बार डूबने के लिए, प्रमाणुरहित स्नेह विहीन भी केवल कामेच्छा को पूर्ण करने के लिए, धर्मों से छल से या बल से बलात्कार कर बैठता है तथा यह पापों के जन्म का कारण बनता है। ऐसी अवस्था में यह काम अत्यन्त भयंकर राक्षसी वृत्तियों से पूर्ण अमानुष्य हीनता का कारण बनता है। कामेच्छा से प्रेरित वे सभी कार्य निन्दित हैं जिनकी पूर्ति में मन तथा आत्मा को छोड़कर केवल दो शरीर मिलते हैं, या जहाँ शरीर को सहज प्रकृति के विपरीत सुख पाने की भूख से मन की वासना के कारण विवश किया जाता है। जहाँ स्त्री-पुरुष उस स्वाभाविक आकर्षण से परस्पर नहीं मिलते जिससे वे लहरें अपने आप आकर मिल जाया करती हैं अपितु जहाँ मन मन के लालची चोर की तरह छिप छिप कर व्याकुल हुए एक-दूसरे को केवल वासना की प्यास बुझाने के लिए छूआ करते हैं।

तन का क्या गरल है।

शब्दार्थ—विषदंती=दुःखों विषधारी। अनाचार=अधम। छलित=बस। सहभार=समान। गरल=विष।

अर्थ—किन्तु इसमें शरीर का क्या दोष? यह तो बेचारा प्रकृति का एक कोमल यन्त्र मात्र है। उसकी शक्तियाँ तथा आकांक्षाएँ भी अत्यन्त सीमित हैं। असल में तो यह मन ही है जिसमें सारी विपदाएँ निवास करती हैं। वही व्याकुल तथा उद्विग्न होकर अपनी कल्पना की अनन्त भूख से शरीर को झोंक कर उस स्वच्छ मन को अपवित्र बना देता है जिसमें उस गगन ज्योति की किरणें प्रतिबिम्बित होती हैं तथा समाधि के सहस्रदल-कमल विकसित होते हैं। शरीर की कामना तो अमृतमय है लेकिन यह मन के भीतर का काम है जो सर्वत्र ज़हर बिखेर देता है।

फलासक्ति करता है।

शब्दार्थ—फलासक्ति=फल की चाह। स्वत स्फूर्त=अपने आप फूट बहने वाला। प्रशम=शान्ति। रसावेश=रस का आवेश।

अर्थ—फल की कामना जिस प्रकार सारे कर्मों को दूषित कर देती है उसी प्रकार यह काम का कार्य भी दूषित और हेय है जो सहज स्फूर्त नहीं होता। *जिसका ध्येय मन की भूख को शमन प्राप्त करना है तथा जहाँ पर* शरीर की सहज प्रकृति से नहीं अपितु मन की दूषित माया से प्रेरित होकर सुख की खोज करता है। जहाँ हृदय की चेतना जागृत होकर स्वयं नहीं बहती अपितु मन की लिप्सा से वशीभूत होकर उसे जागना पड़ता है। अथवा जब मन रस की चरम स्थिति में आने के लिए बलपूर्वक शरीर के अंगों का संचालन करता है।

किन्तु कभी ... जाता है।

शब्दार्थ—एकाग्रवृत्ति=एकान्त चित्त। मांस-पेशियां=शरीर का उभार। पुलक=रोमांच। स्नायु=नस। स्पन्द=धीरा। आस्फालन=विस्तार। संकोचन=संकोच। अनायास=बिना किसी परिश्रम के। अकस्मात=अचानक।

अर्थ—लेकिन क्या कभी कोई रस की परम स्थिति में बिना एकाग्रचित्त के केवल शरीर को हाँक सकता है? बाहर की उभरी हुई मांस-पेशियां आनन्द के रस को नहीं जानतीं उसे तो हमारी भीतर की नसें जानती हैं और मन उसका भोगन करता है। इसीलिए कामना रहित काम जन्य सुख वह स्वर्गिक रोमांच है जिस पर स्वप्न में भी किसी का रंचमात्र भी अधिकार नहीं हो सकता। वह शरीर के विस्तार एवं संकोच से साध्य नहीं है अपितु अनायास उसी प्रकार स्वभावतः प्रकट होता है जिस प्रकार स्वाति की बूंद सीपी के सूने हृदय में आ गिरती है। उस काम-सुख में लेन देने का व्यापार नहीं चलता। वह तो सहज ही केवलमात्र ग्रहण किया जाता है।

और पुत्र-कामना ... *प्रतिमाओं सी।*

शब्दार्थ—वारि-वल्लरी=जल-लताएं। प्रतिमाओं=मूर्त्तियाँ।

अर्थ—और यद्यपि पुत्र की कामना यदि वह काम-सुख का उद्देश्य है तो सुखकर है पर निष्काम काम का वास्तव में यह भी मूल ध्येय नहीं है। उद्देश्य हीन कामरहित काम-सुख की चेतना की धार में अनजाने अनजान लोक से उसी

जाकर खिल जाती है जिस प्रकार वन-लताओं में फूल खिलते हैं तथा निराकार सत्ता के घर से जीवन की मूर्तियाँ स्वयं निकल पड़ती हैं।

विशेष—उपर्युक्त दोनों प्रसंगों में निष्काम-काम में विरोधाभास की प्रतीति है।

प्रकृति नित्य' गया हो।

शब्दार्थ—एकतान=एकाग्र। निस्तल=बहुलता। मायावरण=माया का पर्दा।

अर्थ—प्रकृति सर्वैव शाश्वत आनन्दमयी है। जब कभी हम अपने आपको भूलकर प्रकृति के किसी रूप में एकाग्र हो विलीन होकर सहज समाधि में डूब जाते हैं तो हमारे हृदय के कमल खिल उठते हैं, अमृत की धार बहने लगती है तथा हम इस भौतिक विश्व को छोड़कर चेतना के किसी और ही लोक में पहुँच जाते हैं तो एक क्षण के लिए ऐसा लगता है मानो मन के ऊपर से माया का आवरण हट गया हो।

विशेष—योगी जब साधना के स्तरों को पार करता है तब उसकी स्थिति कुछ ऐसी ही हो जाती है—

"रस गगन गुफा में अजर झरै"—(कबीर) में योगी की उसी स्थिति का वर्णन है जिसका संकेत उपर्युक्त पंक्तियाँ के प्रति करती है। 'तुलसीदास जी' भी भारती स्वरूप रत्नावली की ज्योति से एकतान हो दैहिक विश्व को छोड़ चेतना के रसमय सोपानों पर चढ़े थे।

"दृष्टि से भारती की बंधकर
कवि उठता हुआ चला ऊपर
केवल अम्बर केवल अम्बर फिर देखा।

निराला तुलसीदास

क्या प्रतीक' 'धारा में

शब्दार्थ—प्रतीक=चिह्न। परिहृत=निश्चित। साम्य=सरिष्ट। पद्धति=तरीका। अवयव=अंग।

अर्थ—क्या कामसुख, जबकि वह निश्चित और सशिष्ट न हो माया का

प्रतीक नहीं है ? वह भी तो मनुष्य को स्वाभाविक पद्धति से ऊपर उठाकर मन के माया-मोह के बन्धनों को छोड़कर मुक्ति की दिशा में ले जाता है। किन्तु हम तो प्रकृति के प्रसन्न मन हैं फिर मुक्ति की खोज क्यों करें ? जब तक प्रकृति ध्येय है तब तक हम भी लीलामय की आनन्दमयी शान्ति तथा स्वाभाविक धारा में बहते जाएँगे।

पुरूरवा

कुसुम और सुमन हैं।

शब्दार्थ—कान्त=सुन्दर। रूपसी=सुन्दरी। सवाक=वाणी-युक्त।

प्रसंग—उर्वशी के ईश्वर और प्रकृति पुरुष तथा काम की विशद व्याख्या किए जाने के पश्चात् भी पुरूरवा की जिज्ञासा शान्त नहीं होती। उसका सन्देहशील व्यग्र मन सत्य के मर्म की गहनता तक नहीं पहुंच पाता। वह उर्वशी की बातों को स्वीकार तो करता है लेकिन फिर भी उसका मन तर्क किए बिना नहीं रहता।

अर्थ—कुसुम और स्त्री (कामिनी) दोनों सुन्दर हैं पर कामिनी फूलों से भी कहीं अधिक मधुर है क्योंकि फूल बोल नहीं सकते नारी बोल सकती है पुष्प वाणीरहित सौन्दर्य है और स्त्री बोलता हुआ फूल है।

किन्तु हुई हूं।

शब्दार्थ—सुमुख=सुन्दर मुख। प्रसून=फूल।

अर्थ—किन्तु यदि फूलों के सुन्दर मुखों से पत्र फूटने लगें और वे भी गहन चिन्तन में लीन हो जाएँ तो उन सबकी भी मेरे जैसी ही दशा होगी। अर्थात् पुष्प तभी तक सुन्दर हैं शान्त हैं जब तक यह चिन्तन का रोग उनको नहीं लगता।

यह प्रपात आया हूं।

शब्दार्थ—प्रपात=झरना। हिलोर=लहर। गुह्य=गुप्त गहन।

अर्थ—वह रसाविष्ट बुद्धि का निर्झर वह चिन्तन की हिलोर जिसकी धारा में बहता-बहता मैं न जाने किन गहन आकाशों में रहस्यमय लोकों में घूमकर आया हूं उर्वशी ! शायद तुम्हें नहीं मालूम।

आदि अंत ... नहीं है।

शब्दार्थ—आदि-अन्त=उसपर्ने रहस्य। काल-गह्वर=समय की गुफा। छोर=किनारा।

अर्थ—जीवन के आदि-अन्त का भेद नहीं लगता। चिन्तन न इस जटिल ज्ञान का समय की गम्भीर गुफा में कहीं भी पता नहीं है।

विधि निषेध ... चलता है।

शब्दार्थ—अवचेत-अतल=शून्य-तल।

अर्थ—नियम-उपनियमों के बन्धन सचमुच ही जल की ऊपरी रेखाओं की तरह ही हैं। अन्तर के गहन तल पर उनका कोई प्रभाव नहीं उभरता। मनुष्य के गम्भीर अन्तर से भावना का जो भी ज्वार उठता है उस पर इन विधि निषेधों का कोई जोर नहीं चलता।

स्यात् ... रहने का।

शब्दार्थ—सापराध=सफल। स्वीकृति=स्वीकारोक्ति। कपाट=किवाड़। प्रज्ञा=बुद्धि।

अर्थ—सम्भवतः मन-वाक्य मौन इस स्वीकारोक्ति की अवहेलना मात्र है कि हम प्रकृति के रहस्यमय किवाड़ों (द्वारों) को नहीं खोल सकते तथा सामर्थ्य पराजित बुद्धि को उस रहस्य की खोज में किसी भांति लगाए रखने का प्रयास है।

सत्य ... रही है।

शब्दार्थ—आत्मार्पण=आत्म-समर्पण। शरणागति=शरण में जाना। अनुगमन=पीछे चलना। अविगत=अज्ञात। विकीर्ण=फैलाना।

प्रसंग—अपनी चेतना की समस्त परिधि में घूमकर तथा उर्वशी के तथ्यों का समर्थन करते हुए सम्राट पुरूरवा की समग्र प्रज्ञा सिमट कर उस महान के चरणों में अपना सर्वस्व अर्पण करने के हेतु विकल हो उठती है। उसे लगता है जैसे ईश-चरणों की शरणागति शाश्वत सत्य है। उसके संकेतों का अनुगमन करना ही धर्म है। उसकी असीम सुषमा की अनुभूति ही प्रेम का चरम चरम है। उसे तो अब सर्वत्र उसी की सौन्दर्य-आभा विकीर्ण हुई लगती है। और, वही उस अनन्त लावण्य का केन्द्र है; आधार है।

अर्थ—सत्य केवल उस सत्ता के चरणों की शरण लेना है उसके प्रति आत्मसमर्पण करना है जिसे तुम प्रकृति तथा मैं ईश्वर के नाम से अभिहित करता हूँ। उस अज्ञात तथा अज्ञात के संकेतों का अनुसरण करना ही एक मात्र कर्म है और उस सौन्दर्य तथा छवि का सतत अनुभव करना ही धर्म है जो सर्वत्र बिखरी हुई है तथा केन्द्रीभूत होकर तुममें झलक रही है।

आह! रूप रही हो।

शब्दार्थ—भुवन=संसार। इंगित=संकेत। द्रुमों=पेड़ों।

प्रसंग—पुरूरवा को सर्वत्र उस अनन्त की छवि दृष्टिगत होती है जो उर्वशी का आकार ले सौन्दर्य में सिमट गई है।

अर्थ—अखिल ब्रह्माण्ड में अलौकिक जहाँ भी उड़कर जाऊँ वहाँ एक वही रूप हँस रहा है। प्रफुल्लित हो वही सर्वत्र संकेत कर रहा है। सूर्य चन्द्र नक्षत्र पुष्प तृण पेड़ सभी में वही तो झलक रहा है और वही मुझ मन के अनन्त गहन सागर में उठती हुई लहर-सा बार बार उदित होकर फिर विलीन हो जाता है। लगता है जैसे तुम सागर से बाहर निकली नहीं हो अपितु अपनी जन्मभूमि की शीतलता में आज भी क्रीड़ा कर रही हो।

विशेष—प्रेम की परम पावन रस-सिक्त समुज्ज्वल किरण जब मन के मायावरणों को चीर कर हृदय के गहन अन्तराल में प्रवेश पाती है तो प्रेमी को सर्वत्र प्रेमिका का रूप दिखाई देता है भक्त को सृष्टि के कण-कण में भगवान का सौन्दर्य नजर आता है। उसका प्रमाकुल हृदय कहने लगता है जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है।

देखा तुम्हें हुआ कर।

शब्दार्थ—जलदों=बादलों। पटल=पर्दा।

अर्थ—तुम्हें मैंने बहुत बार देखा। पर अब भी मुझे यह मालूम नहीं है कि तुम पहले-पहल किस कल्प-वीचि को चीर कर निकली थी। उस निराकार ब्रह्म के घर से निकल कर तुमने कहाँ आकार धारण किया था तथा किन परदों चीर कर तुम ऊषा की तरह प्रकट हुई थी।

कहते हैं   आभा सी ।

शब्दार्थ—तप-पूत=तपस्या से पवित्र हुए । संचित=एकत्रित । आभा =चमक ।

अर्थ—मेरे सम्बन्ध में कहा जाता है कि मैं संसार में बिना पिता के पैदा हुआ हूं । तो क्या तुम भी सचमुच मेरी ही तरह विश्व में आई हो ? पवित्र तपस्वी मनुष्य की तपस्या की सम्पूर्ण एकत्रित आभा की तरह ब्रह्मा की आत्मेच्छा से क्या तुम भी बिना माता के ही उत्पन्न हुई थी ।

या समुद्र   व्याप्त सी ।

शब्दार्थ—अन्तरग्नि=भीतर की आग । आकुल—पीड़ित । तप्त=गर्म । अम्बुधि=सागर । सुरासुर=देव-असुर । प्रयग=प्रकट । युग-व्यापी=युग में फैलने वाला । आह्वानों=आमन्त्रणों । अप्रतिम=अनुपम । अतल-वितल-पाताल-तलातल=लोकों के नाम । कुतुक-विस्मय=कुतूहल आश्चर्य । भव्य =लालिमायुक्त सूर्य ।

अर्थ—अथवा समुद्र जब बड़वाग्नि से व्याकुल तापित तथा बेचैन था तब तुम उस व्याकुलता से पुष्प-सरीखी उसी प्रकार उससे फूट निकली थी जिस प्रकार उस अग्नि में भस्म रत्न निकल पड़ते हैं । तुम युग-युगों से तथा देवों तथा दनुजों के अनवरत आमन्त्रणों से अनभिभूत ही एक मात्र अनुपम शिखा सी रसातल के लोकों को छोड़ पृथ्वी पर उसी प्रकार निकल आयी जैसे सागर के तल से ऊषा निकल आती है । जब प्रातःकालीन सूर्य की आभा की प्रतिमा सी तुम धूमिल तरंगों पर चढ़कर नीली लहरों पर नृत्य करती हुई ज्वाला सी कम्पित होकर लहर गई होगी तो सारा आकाश कुतूहल में डूब गया होगा । सब देवता चकित होकर तुम्हें खड़े देखते रहे होंगे ।

कैसा दीप   उत्सुकता से ।

शब्दार्थ—दीप=दीपित प्रतिभासित । पावकमय=अग्निमय । फेन=झाग । शुभ्र-वसन=श्वेत-वस्त्र । उद्ग्रीव=ऊँची गर्दन किए ।

अर्थ—तुम्हारा वह अग्निमय (तेजोदीप्त) रूप नीली लहरों में तथा झिलमिलाते झागों के श्वेत वस्त्रों में कैसा सुन्दर लग रहा होगा । और काली लहरें फण उठाये सर्पिणियों सी तुम्हें बड़ी उत्सुकता से देख रही होंगी ।

रतन किया   जग में ।

शब्दार्थ—मणि-मुक्ता विद्रुम-प्रवाल=रत्नों के प्रकार । विरचे=बने निर्मित । वियुक्त=अलग ।

अर्थ—सागर तुम्हें खोकर बहुत रोया होगा । तुमसे बिछुड़ते ही विविध मणि-मुक्ताओं से निर्मित उसके महल की सुषमा फीकी पड़ गई होगी । महासागर का सारा हृदय सुनसान हो गया होगा और इस रक्त-मांस से युक्त अनुपम कान्ता-कुसुम को पाकर देवों के संसार में हर्ष का अतुल जय जयकार हुआ होगा ।

विशेष—उपर्युक्त पंक्तियों में उर्वशी के प्रति जैसे पुरूरवा का सारा हृदय एक साथ उमड़ पड़ा है । उर्वशी के अभाव में सागर की दीन करुणावस्था का कवि ने बड़ा ही सुन्दर भावमय एवं विशद वर्णन किया है । निस्सन्देह इन पंक्तियों की निर्मिति के समय कवि का समग्र हृदय भी सिमट कर लेखनी की नोक पर आ डटा होगा । ऐसे शृंगार के प्रांजल परिपुष्ट एवं गन्धयुक्त चित्र दिनकर की लेखनी से ही सम्भव हो सकते हैं ।

तुम अनन्त   रह जाती है ।

शब्दार्थ—निखिल=सम्पूर्ण । व्याप=व्याप्त होना । अंक=गोद ।

अर्थ—तुम अखिल सौन्दर्य हो जो एक शरीर में बसकर भी समस्त विश्व में फैलकर चारों दिशाओं में व्याप्त हो रही हो । तुम अन्तहीन कल्पना हो । मैं चाहे जिस प्रकार भी तुम्हें अपनी गोद में समेटूं तुम्हारी एक किरण फिर भी मेरी बाहुओं से बाहर रह जाती है ।

ये लोचन   देखा ह ।

शब्दार्थ—कपोल=गाल । द्युति=चमक । किसलय=नये पत्ते । मदन=कामदेव । श्रुतियां=कान । उडुओं—सितारों । विधु=चन्द्रमा । कान्ति=प्रकाश

अर्थ—तुम्हारी ये आँखें जो *किसी* अलौकिक विश्व के आकाश के दर्पण सरीखी हैं ये कपोल जिनके प्रकाश में भोर की किरणें तैरती हैं कोमल किसलय से ये होंठ जिन पर स्वयं कामदेव नृत्य करता है कामना आंसू

महती है तथा पीड़ा सहसा मुखरित हो उठती है। ये कान जिनमें सितारों के आँसुओं को बूँदें भरती हैं मानों चन्द्रमा के प्रकाश की मानो दो नई किरणें हैं तथा तुम्हारे वक्ष वे पुष्पों के स्तूप हैं सुन्दर विश्राम-स्थल हैं जहाँ मौत के पथ पर जाने वाले पथिक ठहर कर अपनी थकावट दूर करते हैं और तुम्हारी यह मुस्कान जैसे किसी दूर से आती हुई किसी किरण की कांति है जो सहसा मेरे मन में किसी सीमा-हीन जगत का ध्यान जगा देती है जिसे मैं चाहता तो हूँ पर कभी देख नहीं पाया।

विशेष—उर्वशी के पार्थिव सौन्दर्य में पुरूरवा को समस्त प्रकृति तत्त्वों का अखिल सौरभ प्रतिभासित होता है। स्थूल सौन्दर्य के आकर्षण से मानव के मन में एक ऐसे सूक्ष्म, अदृश्य सौन्दर्य की ललक जगा करती है जिसे वह कभी भी नहीं देख पाता।

यह "रहस्यमय"   लेते हैं।

शब्दार्थ—मर्त्य भुवन=मृत्युलोक।

अर्थ—ऐसा रहस्यमय रूप तीनों भुवनों में अन्यत्र और कहीं नहीं है। देवलोक किन्नर लोक गन्धर्व लोक तथा मृत्यु लोक—सभी इससे वंचित हैं। फिर बताओ तुम इसी प्रकार कैसे जन्म ले सकती हो जिस प्रकार संसार के अन्य सौन्दर्य जन्म लेते हैं।

कहो सत्य"   "अभिराम मन से ?

शब्दार्थ—अरूप=रूपहीन। रूपायित=साकार। तन्मय=लीन। निश्चेत=चेतना-रहित, अचेत। एकाग्र=एकाग्र।

अर्थ—सच-सच बतलाओ कि तुम सागर के भीतर से निकली थीं अथवा आकाश को चीरकर शून्य अंतरिक्ष से थीं या जब रूपहीन सौन्दर्य को रूप में ढालने के लिए अलौकिक सौन्दर्य के चिन्तन में समाधि लगाए निश्चेष्ट हुए बैठे थे तब तुम ब्रह्मा की महान् कल्पना से उनके एकाग्र मन से नारी बनकर निकल पड़ी थीं ?

उर्वशी

मैं मानवी   नहीं रहता है।

शब्दार्थ—मानव=पुरुष। झिलमिल=धुँधला। आवरण=परदा।

कवित्व=सौन्दर्य ।

प्रसंग=पुरूरवा के प्रश्न किए जाने पर उर्वशी स्वयं को देवी कहकर अत्यन्त रहस्यमय ढंग से अपना परिचय देती है ।

अर्थ—मैं साधारण मानवी नहीं हूं अपितु देवी हूं । और देवों के मुख पर सदैव एक धुंधला सा रहस्य का परदा पड़ा रहता है। उस परदे को न हटाओ, यही उचित है; अन्यथा उसके पूर्ण रूप से प्रकट हो जाने पर जीवन में कुछ भी सौन्दर्य शेष नहीं रह जाएगा ।

विशेष—वैदिक दर्शन में ब्रह्म के स्वरूप की चर्चा के अन्तर्गत एक प्रसंग में इसी प्रकार का भाव व्यक्त किया गया है—"वे देवों की पुत्रियां न तो पूर्णतया नग्न हैं और न ही सर्वथा वस्त्रावृत हैं। सौन्दर्य को कवित्व कहकर कवि ने यह भी कहना चाहा है कि कविता का अर्थ सर्वथा अभिधात्मक होने पर उसका सौन्दर्य नष्ट हो जाता है । 'रासोकार' ने इसीलिए अपनी कविता के सम्बन्ध में मध्यम मार्ग की बात कही है—

'अति ढक्यौ न उघार तसित जिमि जिम्यौ सिवालह ।
बरन बरन सोभंत हार चतुरंग बितालह ।
—चन्दबरदाई पृथ्वीराज रासो

स्पष्ट शब्द   आशय है ।

शब्दार्थ—नग्ना=वेद-मग्न । आशय=तात्पर्य उद्देश्य ।

अर्थ—अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए स्पष्ट शब्दों की अपेक्षा अस्पष्ट तथा धुंधले शब्दों का चयन अधिक महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि उसमें एक प्रकार की जिज्ञासा सतत विद्यमान रहती है तथा ये धुंधले शब्द ही वैदिक मन्त्रों में प्रयुक्त हो समस्त शंकाओं का सूत्र निश्चित उद्देश्य से जोड़ देते हैं ।

और कहां   निपटन का ?

शब्दार्थ—निरापद=आपदा से रहित निःशंक । आभा=ज्योति । अर्ध स्फुट=अर्धविकसित । भेद निपटन=रहस्योद्घाटन ।

अर्थ—जिस स्थान पर प्रकाश और छाया मिलते हैं वहीं सहज बिन्दु मनुष्य के मन का शान्तिमय सहारा होता है । जैसे कुछ पीयूषि चांदनी—

ये सब न रहें तो दिन की खुली प्रचण्ड धूप में जीवन कब तक चलता रहेगा। प्रकाश का यही वरदान है कि उसमें सभी कुछ अस्पष्ट तथा झिलमिल है। स्वप्न से स्वप्न और हृदय से हृदय मिलकर परस्पर सुख पाते हैं। यदि सर्वत्र प्रकाश हो जाय और जितने भी गुप्त भेद हैं वे सब अपने नग्न रूप में सामने आ जायँ तो रहस्योद्घाटन के इस प्रहार को कौन सह सकेगा ?

विशेष—यह संसार धूप और छाया का सम्मिलित स्वरूप है। प्रकाश का अस्तित्व अन्धकार के बिना कुछ भी नहीं। सत्य स्पष्ट प्रकट है उसका महत्त्व अधिक नहीं है। जो रहस्यमय है उसके उद्घाटन में ही मनुष्य की मेधा संचरण करती है। उस अव्यक्त ब्रह्म सत्ता के सम्बन्ध में पुरातन मेधा-सम्पन्न मनीषि-स्रष्टाओं ने 'नेति-नेति' कहकर रहस्य का आवरण बिछा दिया है। छाया और धूप उस झिलमिले आवरण के ही एकत्र दो विशेषण हैं। वेदों से लेकर उपनिषदों तक यही एकतान से स्वीकार किया गया है। ब्रह्मर्षियों ने सदैव अव्यक्त का वर्णन छाया प्रकाश के झीने आवरण में परिवेष्टित कर अनुस्यूत किया है—

"छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति।"

—कठोपनिषद् चतुर्थ वल्ली

इसीलिए   की की ?

शब्दार्थ—अलम=काफी पर्याप्त। कुतूहल-शमन=उत्सुकता का समाधान औत्सुक्य की शान्ति।

अर्थ—इसीलिए मैं कहती हूँ कि तुम अब तक जितना जान पाए हो वही पर्याप्त है। इससे आगे जान कर तुम्हें विस्मय की शान्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिल पाएगा। और तुम्हारे विस्मय को भी मैं कैसे एवं क्या कहकर शान्त कर सकती हूँ।

मैं अदेह   नारायण की।

शब्दार्थ—अदेह=देह रहित। आत्मजा=बेटी। तनया=पुत्री।

अर्थ—मैं सर्वथा शरीर-हीन कल्पना हूँ और तुम मुझे स्थूल शरीर मान बैठे हो। मैं निराकार हूँ किन्तु तुम मेरे साकार स्वरूप को देखकर मुझे सागर की बेटी तथा ब्रह्म की मानस-पुत्री समझ रहे हो।

विशेष—उर्वशी इन पंक्तियों के द्वारा पुरूरवा का ध्यान उस अदृश्य अव्यक्त आभ्यन्तर, सूक्ष्म सौन्दर्य की ओर आकर्षित करना चाहती है जो देह की समस्त पार्थिव प्राचीरों को भेद ज्योति के अनन्त अन्तराल में प्रकाशित हो रहा है। वही नर तथा नारी का शाश्वत सौन्दर्य है। दैहिक सौन्दर्य तो विकल-व्यग्र मन का क्षणिक भुलावा मात्र है।

कब था' प्रकृति है।

शब्दार्थ—अस्तित्व=सामर्थ्य मुख्य। ह्लादिनी=बिजली।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण में उर्वशी अपनी अर्थात् शाश्वत सौन्दर्य की सत्ता की सर्वव्यापकता तथा शक्तिमत्ता का वर्णन करती है।

अर्थ—कौनसा ऐसा समय था जब मेरी शक्ति विद्यमान नहीं थी? कौनसा भविष्य दिवस में आएगा जिस दिन मैं न रहूंगी? कौनसा ऐसा पुरुष है जिसकी समाधि में मेरी झलक नहीं है? कौन ऐसी स्त्री है जिसके यौवन में मैं नहीं बस रही हूं? कोई लोक ऐसा नहीं जिसमें मेरी मुस्कान की बिजली न चमक रही हो। कोई बादल नहीं जिसको मैंने अपनी सेज न बनाया हो। कौनसी बात कहूं और कौनसी छोड़ दूं मेरा इतिहास तो इस प्रकृति के समस्त प्राणों की कथा है। मैं उसी प्रकार असीम हूं जिस प्रकार यह प्रकृति।

विशेष—उर्वशी का यह रूप अलौकिक है। 'उसमें' की सत्ता ब्रह्म की सत्ता है। परम शक्ति की व्यापकता का यह वर्णन प्रायः प्रत्येक समर्थ कवि ने किया है। कुछ उदाहरण दर्शनीय हैं—

"तुम यह है, जो आगे रहई" —जायसी

पुरूरवा

सत्य मान' विभा-सी।

शब्दार्थ—मानुषी=पार्थिव। अशरीरी=शरीर से रहित। भान=आभास। रंच भर=थोड़ा सा। मर्त्य-वसन=मरणशील वस्त्र शरीर। अदेह=देह से रहित अशरीरी। विभा=ज्योति।

अर्थ—पुरूरवा कहता है कि मैंने तुम्हारे सौन्दर्य को सत्य एवं शाश्वत माना है तथा कभी स्वप्न में भी तुम्हें अपने से भिन्न नहीं समझा। तुम नारी

हो। बार-बार ऐसा कहते हुए भी मैंने तुम्हें इस जगती की सामान्य देह-धाम वाली नारी का रूप नहीं दिया। तुम मेरी अशरीरी कल्पना हो। देह धारण करने पर भी तुम जब अपने अम्लानयनों से मेरे हृदय के भीतर झांकती हो तो मुझे ऐसी मधुर कल्पना का आभास होता है कि जिस तुम्हारी देह को मैं अपनी भुजाओं में समेट कर हृदय से लगाता हूं वह रक्त और मांस की बनी हुई मूर्ति नहीं अपितु एक सपना हो एक छाया हो।

मर्त्य-वसन धारण करने पर भी तुम्हारा देवत्व उसमें से रंच मात्र भी नहीं छिप पाता है। देह-धारण करने पर भी तुम मेरे लिए एक अशरीरी ज्योति के समान हो।

छाया कहां ? चुका हूं।

शब्दार्थ—द्युमा=प्रकाश। मंजु=मनोहर। भाभूति=पुंजित। पटल पर्दा। समग्र=सम्पूर्ण।

अर्थ—प्रकाश कहां है? प्रकृति के जिस अंग पर तुम्हारे चरण पड़ जाते हैं वहां तुम्हें घेर कर चारों तरफ मुग्ध प्रकाश सा छा जाता है और उस समय तुम्हारे भीतर मैं जो अनुपम सौन्दर्य देखता हूं वह अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता। फिर भी अगर तुम्हारे प्रकाश-पुञ्ज में मेरे हृदय की कहीं धुंधली छाया आच्छादित हो गई हो तो मेरी यह इच्छा होती है कि उसके पटल को हटाकर स्वप्न-लोक में बैठकर तुम्हारे सम्पूर्ण दर्शन कर लूं। हे रूपसी! अपनी अल्प आयु में मैं तुम्हें अपना हृदय का दीपक बना चुका हूं (जिससे मैं सदा अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ता रहूंगा)।

कौन सत्य मुझ को।

शब्दार्थ—कराल=भयंकर। अनावरण=आवरण-रहित। अशनि आघात =बिजली अथवा वज्र के आघात से। समक्ष=सामने। प्रतिमा=मूर्ति। भीति=डर। अनिमिष=एकटक, निनिमेष।

अर्थ—हे रूपसी! 'मुझे बताओ' आखिर वह ऐसा कौनसा भयंकर सत्य है जिसका पर्दाफाश (अनावरण) कर देने से अग्नि प्रकट होगी जिससे मेरे ये पार्थिव लोचन जल कर भस्म हो जाएंगे? यानी जिस सत्य के वज्राघात के

समान प्रकाश-पुञ्ज को सहने में मैं असमर्थ हूँगा। तुम बिना संकोच और भय के सब कुछ कह दो क्योंकि जब तक तुम्हारी यह प्रतिमा मेरे सामने खड़ी है अर्थात् जब तक तुम मेरी आँखों के सामने हो तब तक मैं प्रलय के वज्राघातों से भी नहीं डरता। मैं यह सब कुछ तुम्हें अनिमेष दृष्टि से देखता हुआ सह लूँगा।

उर्वशी

पर क्या ... ... अतुलस से निकली।

शब्दार्थ—देहभाव=शरीर धारण। मनोदेश=मानसिक जगत। व्यग्र=व्यस्त। फेनांशुक=सूक्ष्म श्वेत वस्त्र।

प्रसंग—उर्वशी पुरूरवा के मानसिक उद्वेलन से समुत्पन्न कुछ प्रश्नों का उत्तर दे रही है और अपनी यथार्थता का चित्र समुपस्थित कर रही है।

अर्थ—उर्वशी कहती है कि मेरी वाणी कुछ भी कहने के लिए असमर्थ है। मैं किस मानव देह धारण के सम्बन्ध में जो कि वस्तुतः भ्रान्तिपूर्ण कार्य-कलाप है, कुछ नहीं कह सकती। यह प्राणों का प्रपञ्च जो कि वस्तुतः मानसिक संसार की कल्पनता का स्वरूप है अचेतन में चेतन का संसार है। या यों कहिए कि पंच महाभूतों की पंचतन्मात्राओं (रूप रस गंध स्पर्श आदि) का एक मूर्तिमान आकार चेतन की झलक से प्रतिबिम्बित हो रहा है। (उर्वशी अपने को साधारण मानव बतलाती हुई कह रही है कि मैं कोई लक्ष्मी नहीं जो किसी भूलोक से भिन्न रसातल, वितल, पाताल और महातल आदि लोकों में से अथवा किसी सागर की सफेद, चमकीली झाग की मलमल के समान बारीक समुद्र की सतह को चीर कर उत्पन्न हुई हूँ) अर्थात् मैं दैवी शक्ति नहीं हूँ अपितु साधारण मानवी शक्ति होने के कारण आपको मुझ पर इतना भाव विश्वास और पक्षसम्मित नहीं होना चाहिए।

मैं नहीं ... ... भू पर उतरी।

अर्थ—मैं कोई आकाश-मण्डल में विकसित होने वाली तारामों के साथ फलती-फूलती हुई अलौकिक सत्ता नहीं हूँ। और न ही मैं व्योम-मण्डल से उतरी हुई कोई बालिका हूँ। न ही चांद की किरणों से सुसज्जित कोई चन्द्र-

लोक से आई हुई चांद की पुत्री हूँ और न ही मैं चन्द्र की उज्ज्वल किरणों में स्नान करती हुई सोलह कलाओं से परिपूर्ण तारामंडल और चन्द्रकिरणों पर झूलती हुई कोई नारी पृथ्वी पर उतरी हुई हूं।

मैं नाम गोत्र समुद्भूत।

शब्दार्थ—इतिवृत्तहीन=इतिहास रहित, विश्वनर=सांसारिक प्राणी। समुद्भूत=उत्पन्न।

अर्थ—उर्वशी कहती है कि न मेरा कोई नाम है, न मेरा कोई (वंश) गोत्र है। मैं तो एक ऐसा पुष्प हूँ जिसकी कोई पहचान ही नहीं। मैं आकाश में बहती हुई स्वच्छन्द आनन्द की सरिता हूँ। मेरा कोई इतिहास नहीं। मैं सुन्दरता की सजीव मूर्ति हू, अथवा मन को उद्वेलित करने वाली उत्तुंग तरंग हू। न मेरी गणना देवताओं में है न मनुष्यों में है न किन्नरों में है और न गन्धर्वों में है। हे प्रिय ! मैं केवल साधारण अप्सरा हूं जिसका जन्म सांसारिक प्राणियों की अथवा ब्रह्मा की इच्छाओं के सागर से हुआ है।

कामना तरंगों उठने वाली।

शब्दार्थ—कामना तरंगों=मानसिक इच्छाओं। आलोड़ित=आन्दोलित। वाड़वाग्नि=जल की अग्नि। निभृत=चुपचाप। हैमाभ=स्वर्णकान्ति। उत्तुंग =उन्नत।

प्रसंग—उर्वशी अपने जन्म का कारण स्पष्ट करती हुई कह रही है—

अर्थ—जिस समय सांसारिक प्राणी (मानव रूप धारी) अपनी कामनाओं के वशीभूत होकर अपने मन को सागर के समान तरंगित अशांत और मानसिक अग्नि से पीड़ित अनुभव करता है तब उसे मेरा अभाव खटकने लगता है और वह मद-मत्त कंठ होकर मुझ मानव की पूरक शक्ति को अर्थात् अर्धांगिनी को अपने लोक-परलोक के कर्म-कलाप को पूर्ण करने के लिए सादर आमंत्रित करता है। मैं इस समय अलौकिक यौवन से परिपूर्ण पुरुष के निस्तब्ध प्राण-मर्म से उद्भूत होकर सुन्दर स्वर्णमयी कांति से विभूषित अलौकिक रूप धारण किए हुए जैसे कि किसी काल्पनिक लोक से उतर कर आ रही हूँ, भूमि पर जन्म धारण करती हूं। मैं मानव के समीप आकर उसे अपने

आकर्षणों से विजित कर लेती हूँ। मानव के जन्म-जन्मान्तरों के विमोहा भूखों को अपने उन्नत हृदय में स्थान देकर शान्त कर देती हूँ। अतः मैं प्रत्येक मनुष्य के हृदय में निवास करने वाली मीठी अग्नि हूँ अथवा मानव के अन्धकार-पूर्ण हृदय में प्रकाश का ज्योतिपुञ्ज हूँ। मैं मनुष्य के मन में रहने वाली नारी की वह श्रेष्ठ कल्पना हूँ जिसे कि नर अपने जीवन का अन्तिम उद्देश्य समझ बैठा है।

विषधर के   गिर जाते हैं।

शब्दार्थ—अमृतवर्ति=अमृत की सलाई। रूपांकुश=रूप का नियन्त्रण। करभ=ऊँट दांतों का एक जन्तु। भ्रू-स्मिति=भौंह संचालन। स्लथ=शिथिल। शिंजिनी=धनुष की डोरी। संस्रस्त=शिथिल।

अर्थ—मैं नारी शक्ति के रूप में महान विषधर भुजंगम के फण पर अमृत वर्षाकर सकती हूँ। (मैं इतनी प्रभावशालिनी हूँ कि) उद्दंड से उद्दंड दुर्दमनीय से दुर्दमनीय और अत्याचारीसे भी अत्याचारी शक्ति-पुञ्ज पर अपने मोहक रूप के अंकुश से काबू पा सकती हूँ। मेरे रूप के सामने प्रत्येक शक्ति कमल की कोमल नालके समान निर्बल हो जाती है। मुझ नारी के सम्मुख गरल का वमन करने वाले मदमस्त गजराज नतमस्तक हो जाते हैं। क्या सिंह क्या रीछ और क्या चीता मेरी मोहिनी के जाल में फंसकर अपने हिंसापूर्ण भावों को भूल जाते हैं और पालतू हिरण की तरह अपनी सब अकड़ भूलकर हिंसा से सन्यास ले लेते हैं। यही नहीं मेरे भ्रूसंचालन को चकित भाव से देखते हुए बड़े-बड़े शूर वीर मस्त हो जाते हैं अवाक् हो जाते हैं और उनके नेत्र खुले के खुले रह जाते हैं जबकि मेरी पूर्ण रूप-माधुरी का वे एकटक दर्शन करते रहते हैं। क्या मजाल उन वीरों की जो मुझे देख अपनी धनुष की डोरी खींच सकें अपितु मुझ नारी के पूर्ण दर्शन पाकर उन योद्धाभिमानी वीरों के धनुष बाण हाथ से गिरते ही दिखाई देते हैं।

कामना वह्नि   आलिंगन करती।

अर्थ—मैं कामना की अग्निशिखाओं से प्रज्वलित होने वाली स्वच्छन्द एवं दुर्दमनीय अग्नि-शिखा हूँ। मेरे प्रसार का कोई परिहार नहीं और न ही मुझ से

छुटकारा पाने का कोई मार्ग। मैं (सृष्टि के आरम्भ से लेकर सृष्टि की समाप्ति तक) तथा सब लोकों में विचरण करती हूँ हवा के झोंकों से उड़ते हुए बादलों की लहरों पर भी मेरा राज्य है। मैं बर्फीले तूफानों में भी निवास करती हूँ। मैं आकाश के इस छोर से लेकर उस छोर तक उड़कर दौड़ते हुए मेघों को अपनी भुजाओं में बाँध लेती हूँ (यही नहीं कि मैं मूर्त प्रतिमाओं को ही अपना वाहन बनाती हूँ अपितु)स्वप्नों की अमूर्त भावना का भी मैं आलिंगन करती हूँ। अर्थात् नारीत्व के रूप में मेरी महिमा अपरम्पार, अगाध अलौकिक और दूरगामिनी है।

विस्तीर्ण सिन्धु ... मेरा नूपुर।

प्रसंग—उर्वशी नारी की सर्वव्यापकता का चित्र उपस्थित कर रही है। नारी को मन्दिर मस्जिद पाठ और पूजा सब कुछ सिद्ध कर रही है।

अर्थ—हे पुरूरवा! लम्बे-चौड़े सागर के बीचो-बीच किसी शून्यस्थान पर एकान्त में ऊँचा मस्तिष्क किए टापू ही मेरा हृदय है। संसार के मन्दिरों में देवताओं की मूर्तियाँ केवल भ्रान्ति है किन्तु वस्तुतः मन्दिर में मूर्ति के रूप में मैं ही बैठी हूँ। संसार मेरी ही मूर्ति को घर कर धूप दीप, नैवेद्य चढ़ा रहे हैं। मेरे पूजा में मेरे ही नूपुर बज रहे हैं।

मैं कला ... उतरती हूँ।

शब्दार्थ—कला यौवना=कला में यौवन। मधुमय=मधुर। अप्रकट=गुप्त। भंगिमा=कुटिलता। तरंगित वर्तुलता=कान्तिमय गोलाई। प्रभा-दीप्ति=आभा।

अर्थ—नारीत्व का वर्णन करती हुई उर्वशी कहती है कि मैं कला का सजीव मधुर, अप्रकट सोता हूँ। जिस प्रकार से स्रोत में अनन्त उतार-चढ़ाव गति में कुटिलता होती है आकार में गोलाई होती है तरंगों और लहरों का प्राबल्य होता है उसी प्रकार मेरा भी अंग-प्रत्यंग उन्हीं गति-विधियों से ओतप्रोत है। मेरा यह जीवन-स्रोत नारी के रूप में कान्ति की प्रचुरता को लिए इस संसार में अवतरित होता है।

पापाओं के ... उभरती हूँ।

शब्दार्थ—निबिड़स्तनता=सघन पयोधरता। मुष्टिमध्यता=सूक्ष्म कटि।

आकर्षणों से विजित कर लेती हूँ । मानव के कल्प-कल्पान्तरों के विमोम भूपों को अपने उन्मत्त हृदय में स्थान देकर शान्त कर देती हूँ । अत मैं प्रत्येक मनुष्य के हृदय में निवास करने वाली मीठी अग्नि हूँ अथवा मानव के अन्ध , कार-पूर्ण हृदय म प्रकाश का ज्योतिपुञ्ज हूँ । मैं मनुष्य के मन में रहने वाली नारी की वह अप्ठ कल्पना हूँ जिसे कि नर अपने जीवन का अन्तिम लक्ष्य समझ बैठा है ।

विषधर के गिर जाते हैं ।

शब्दार्थ—अमृतवर्ति=अमृत की सलाई । रूपांकुश=रूप का नियन्त्रण । चरम=छ टांगों का एक जन्तु । भ्रू-स्मिति=भौंह संचालना स्मथ=शिथिल । सिंजनी=धनुष की डोरी । समस्त=शिथिल ।

अर्थ—मैं नारी शक्ति के रूप में महान विषधर भुजंग के फण पर अमृत वर्षा कर सकती हूँ ।(मैं इतनी प्रभावशालिनी हूँ कि) उद्दंड से उद्दंड दुर्दमनीय दुर्दमनीय और अत्याचारोंसे भी अत्याचारी शक्ति-पुंज पर अपने मोहक रूप के अंकुश से काबू पा सकती हूँ । मेरे रूप के सामने प्रत्येक शक्ति कमल की कोमल नालके समान निर्बल हो जाती है । मुझ नारी के सम्मुख नरत्व का घमण्ड करने वाले मदमस्त गजराज नतमस्तक हो जाते हैं । क्या सिंह, क्या रीछ और क्या चीता मेरी मोहिनी के जाल में फंसकर अपने हिंसापूर्ण भावों को भूल जाते हैं और पालतू हिरण की तरह अपनी सब अकड़ भूलकर हिंसा से संन्यास ले ते हैं । यही नहीं मेरे भ्रू-संचालन को चकित भाव से देखते हुए बड़े-बड़े क्रूर र मस्त हो जाते हैं, अवाक हो जाते हैं और उनके नेत्र मुझे के खुले रह जाते हैं जबकि मेरी पूर्ण रूप-माधुरी का वे एकटक दर्शन करते रहते हैं । क्या मजाल उन वीरों की जो मुझे देख अपनी धनुष की डोरी खींच सकें अपितु मुझ नारी के पूर्ण दर्शन पाकर उन योद्धाभिमानी वीरों के धनुष बाण हाथ से गिरते ही दिखाई देते हैं ।

कामना वह्नि पालिंगन करती ।

अर्थ—मैं कामना की अभिलाषाओं से प्रज्वलित होने वाली स्वच्छन्द एवं दुर्दमनीय अग्नि-शिखा हूँ । मेरे प्रसार का कोई परिहार नहीं और न ही मुझ से

पुरस्कार पाने का कोई मार्ग। मैं (सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर सृष्टि की समाप्ति तक) सदा सब लोकों में विचरण करती हूँ हवा के झोंकों से उड़ते हुए बादलों की लहरों पर भी मेरा राज्य है। मैं बर्फीले तूफानों में भी निवास करती हूँ। मैं आकाश के इस छोर से लेकर उस छोर तक उड़कर दौड़ते हुए मेघों को अपनी भुजाओं में बाँध लेती हूँ (यही नहीं कि मैं मूर्त प्रतिमाओं को ही अपना वाहन बनाती हूँ अपितु) स्वप्नों की अमूर्त भावना का भी मैं आलिंगन करती हूँ। अर्थात् नारीत्व के रूप में मेरी महिमा अपरम्पार, अगाध अलौकिक और दूरगामिनी है।

विस्तीर्ण सिन्धु   मेरा नूपुर।

प्रसंग—उर्वशी नारी की सर्वव्यापकता का चित्र उपस्थित कर रही है। नारी को मन्दिर मस्जिद पाठ और पूजा सब कुछ सिद्ध कर रही है।

अर्थ—ए पुरूरवा! लम्बे-चौड़े सागर के बीचो-बीच किसी शून्यस्थान पर एकान्त में ऊँचा मस्तिष्क किए टापू ही मेरा हृदय है। संसार के मन्दिरों में देवताओं की मूर्तियां केवल भ्रान्ति है किन्तु वस्तुतः मन्दिर में मूर्ति के रूप में मैं ही बैठी हूं। संसार मेरी ही मूर्ति को घर कर धूप दीप नैवेद्य चढ़ा रहे हैं। मेरे पूजा में मेरे हो नूपुर बज रहे हैं।

मैं कला   थिरकती हूँ।

शब्दार्थ—कला-चढ़ना=कला में यौवन। मधूमय=मधुर। प्रच्छन्न=गुप्त। भंगिमा=कुटिलता। तरंगित वर्तुलता=कान्तिमय गोलाई। भ्रान्ति=भ्रमण।

अर्थ—नारीत्व का वर्णन करती हुई उर्वशी कहती है कि मैं कला का सजीव मधुर, अप्रकट सोता हूं। जिस प्रकार से सोते में समस्त उतार-चढ़ाव गति में कुटिलता होती है आकार में गोलाई होती है तरंगों और लहरों का बाहुल्य होता है उसी प्रकार मेरा भी अंग-प्रत्यंग उन्हीं गति-विधियों से ओतप्रोत है। मेरा यह जीवन-स्रोत नारी के रूप में भ्रान्ति की मधुरता को लिए इस संसार में अवतरित होता है।

पाषाणों के   उभरती हूँ।

शब्दार्थ—निबिड़स्तनता=सघन पयोधरता। मुष्टिमध्यमा=सूक्ष्म कटि।

मदिर लोचना=मदमस्त नैन । कामसुमिता=कामनाओं से ललित । प्रस्तरावरण=पत्थर का आवरण ।

प्रसंग—कवि नारी को ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी प्रदेशों में रहने वाली निर्झरिणी का रूप देते हुए अन्धकार से निकली हुई प्रकाश की रेखा के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं ।

अर्थ—उर्वशी कहती है कि मैं ही प्रस्तर पर्वतों के पत्थरों को चीर फाड़ कर निर्मित हुई सुन्दर नदी के समान मानव के जीवन में व्याप्त हुए एकाकीपन के गहन अन्धकार को चीर कर मदमस्त गति से संसार में अवतार ग्रहण करती हूं । जैसे कि पहाड़ों की प्रथम चोटियों से बह जाती हुई, मदमस्त गति से बहती हुई सरिता किसानों के मन को आनन्दमय बना देती है । मुझे ही निविड़स्तनभरा मुष्टिमध्यमा और काम-सुमिता के नाम से सम्बोधित करते हैं ।

भू नभ का   जीवन ।

शब्दार्थ—निस्सीम=सीमा-रहित । कलित=सुन्दर । रसोदधि=आनन्द का समुद्र । उच्छल=तरंगित ।

अर्थ—हे प्रिय ! आकाश से लेकर पृथ्वी तक जो संगीत की तरंगें तरंगित हो रही हैं वे सब मेरे अनन्त प्रेम की झंकार हैं । निखिल काव्य शास्त्र भी मेरी विलोक-विजय का एक गीत है । मैं उस जीवन को पसन्द करती हूं जो तीव्र कामनाओं से परिपूर्ण है व्यग्रता चंचलता और संताप से व्याप्त है । मुझे वह जीवन अधिक रसीला प्रतीत होता है जो आनन्द के सागर में डूबते-उतरते और तरंगित होते हुए व्यतीत किया जाय ।

तारों की   जगाती हूं ।

शब्दार्थ—सरल है ।

अर्थ—उर्वशी कहती है—मैं ही तारा-मण्डल की झिलमिल झिलमिल करती हुई शुभ्र छाया में फूलों की नाव पर बैठकर मानव को विहार कराती हूं । रात्रि की प्रकाशमय किरण मैं ही हूं । और मैं ही प्राणिमात्र के मन में रति के आगमन की प्रियता के भावों को जागृत करने वाली हूं क्योंकि मैं नारी हूं ।

मादन सुगन्ध ... मतवाली

शब्दार्थ—पवमान-दलित=हवा से झिझोरी हुई।

अर्थ—मैं ही मलयाचल पर्वत की वह मादक गन्ध हूं जो सन्ध्या के समय पवन से झकझोर होकर प्रस्फुटित होती है और मैं ही चांदनी रात की मदमस्त करने वाली वह उदास कुमुदों की गन्ध हूं जो आकाश से लेकर पृथ्वी तक को आवेष्टित कर लेती है। अर्थात् नारीत्व की मदमस्त भावनाएँ भूतल के इस छोर से लेकर नभ के उस छोर तक इस प्रकार व्याप्त हैं जिस प्रकार पुष्पों की गन्ध पवन के रथ पर चढ़कर तीनों लोकों में निर्बाध भ्रमण करती है।

कबरी ... में लय।

शब्दार्थ—कबरी=केश-पाश। आकुंचित=संकुचित। कंटकित=रोमांचित। मंद्रलहरियां=स्वर-लहरियां। गोपन=गुप्तता। अगुरु=चन्दन बहुत।

अर्थ—केश-पाश में बंधे हुए सुगन्धित फूलों की महक और संकुचित ओष्ठों का (रोमांच से) कांपना आलिंगन की पीड़ा से मस्त रोमांचित शरीर और मदमाती आंखों को प्राणियों के हृदय में गुप्त भावों की मधुर वीणा को गुप्त स्वर-लहरी में झंकृत कर देती हैं जो कि चन्दन की धूम शिखा की भांति ऊपर उठकर आकाश में एकाकार हो जाती हैं। इसी प्रकार से दो प्राणियों में नर और नारी का भाव चरम कोटि पर पहुंचने के पश्चात् प्रेम की पुष्टि से लिंग भेद की भावना से परे हो जाता है।

दो दीपों ... जलते हैं।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—नर और नारी के दो जीवन-दीपकों की ज्योति जब सम्मिलित रूप से जलने लगती है तब उनकी द्विधा की सी एकरूपता में परिणत हो जाती है। साथ ही साथ शरीरों की भिन्नता का भाव भी मन के अथाह रत्नाकर में अर्थात् प्रेम के अथाह सागर में डुबकी लगाकर एकाकार हो जाता है।

दो हृदयों ... मुक्त है।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—नारी और नर के दो मूक हृदयों का प्रेम-मिलन प्रगाढ़ सुख का संचार करने वाला होता है और शारीरिक भिन्नता को शिथिल करने वाला होता है। जब दो हृदय प्रेम के बन्धन में बंधते हैं तो जिह्वा को शब्द प्रयोग की आवश्यकता नहीं किन्तु अलसाई आंखें ही मनोभावों को व्यक्त कर देती हैं। अर्थात् दो प्राणियों की हार्दिक भावना को व्यक्त करने के लिए कोई ऐसी भाषा नहीं जो मूक न बोली जा सके।

विशेष—नेत्रों की मूक भाषा के अप्रतिम सौन्दर्य का बिहारी ने भी बड़ा हृदयग्राही वर्णन किया है। यथा—

> 'कहत, नटत रीझत खिझत-मिलत खिलत लजियात
> भरे भौन में करत हैं नैनन ही सौं बात।'
>
> —बिहारी : सतसई

कितनी पावन ... दिखाती है।

शब्दार्थ—रस-समाधि=आनन्द-मग्न। अगोचर=इन्द्रियातीत।

अर्थ—हम उस आनन्द-विभोर होने की पवित्रता का मूल्य आंकने के लिए कोई कसौटी नहीं पाते हैं जिससे यह मृत्युलोक स्वर्ग से भी ऊंचा बन जाता है। हम इस स्थूल शरीर में आनन्द-भोग की प्रचुरता के कारण इन्द्रियातीत ब्रह्मानन्द का रसास्वादन कर लेते हैं जिसे प्राप्त करने के लिए अनन्त योग, समाधि और साधना का सम्बल संकलित करना चाहिए।

देवता एक ... जगाती रे।

शब्दार्थ—अधिर=मस्त। आरोहण=चढ़ना। परिरंभ=आलिंगन।

प्रसंग—सूफी-सिद्धान्त के आधार पर प्रेम से परमात्मा की प्राप्ति होती है। इसकी पुष्टि इस पद्य में की गई है।

अर्थ—इस रूपति की मदमस्त शान्ति के गर्भ में कोई एक आराध्य देवता कहीं न कहीं अलस सोये हुए हैं। इस देवता तक पहुँचने के लिए हमारे शरीर के अंग-प्रत्यंग रक्त के कण-कण में और त्वचा के स्तर प्रतिस्तर

कुछ सीढ़ियाँ चढ़ती हैं। अतः आलिंगन के बाहु-बन्धन में बंधकर उन सीढ़ियों पर चढ़ते जाओ जिसमें आराध्यदेव विराजमान हैं। निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचकर मनुष्य उस प्रेम के देवता को चुम्बन की मधुर थपकी से जगाने का प्रयत्न करे।

विशेष—यहाँ कवि ने विशुद्ध दाम्पत्य-जीवन को ईश्वर प्राप्ति का सहज मार्ग बताया है।

विलास की जाती है।

शब्दार्थ—विलास=भवन। स्वर्णांचल=सुनहरी वस्त्र।

अर्थ—सुन्दरता की लहरें भवन-भाव की लहरों से भी इष्टदेव की प्राप्ति के लिए बलवती होती हैं क्योंकि रूपवती नारी की विशुद्ध सुनहरी रजत पताका सातवें आसमान तक लहराती हुई दिखाई देती है। यही नहीं मनुष्य जो दर्शन-शास्त्र का गहरा अध्ययन और मनन जिस मधुर पृष्ठभूमि पर कठिनता से पहुँचा सकता है उस दिव्यलोक में हम प्रेम की नाव पर बैठकर बड़ी सरलता से पहुँच सकते हैं।

ओ शून्य पवन में विश्वप्रिया।

शब्दार्थ—शून्य=आकाश। उन्निद्र=सजग। चिरन्तन=सनातन। पलभ्यान=रुकावट। ह्रिमित=मनावटी।

प्रसंग—कामुकता के प्रतिनिधि पुरुषों को सम्बोधित करते हुए पावन नारी की मूर्ति बनकर उर्वशी निम्न प्रकार से उपदेश दे रही है।

अर्थ—उर्वशी उन मनुष्यों को सम्बोधित करते हुए कह रही है कि ए स्वच्छन्द वायुमण्डल में भ्रमण करने वाली नारी के प्रति विलासिता की भावनाओं से परिपूरित मनुष्यो! (ईश्वर के ध्यान से विमुख होकर) रात भर मेरी काम लालसापूर्ण छवि का एकटक ध्यान करने वाले मैं देश काल की सीमा से परे विचरण करने वाली सनातन नारी हूँ। मैं स्वाधीन नवयौवन की छटा से विभूषित ज्योति हूँ। मैं सौन्दर्य की अमर निधि सदा अथवा नवयौवन-शालिनी और कोमलाङ्गी हूँ। तुम (नरदेहधारियों) को हृदय में धर्य धारण करना चाहिये। मैं त्रिभुवन और त्रिकाल में भी अनन्त कामनाओं

को चीरती हुई नर की सहयोगिनी अवश्य बनूँगी। मेरे मार्ग में अनन्त सरितायें गम्भीर सागर अगम पर्वत और बीहड़ जंगल कोई रुकावट नहीं डाल सकते। क्योंकि मेरी गति को रोकने के लिए भूत भविष्यत् और वर्तमान काल की कोई भी बाधा सफल नहीं हो सकती। विश्वप्रिया होने के कारण मुझे विश्व-कल्याण के लिए नारी के रूप में निर्बाध उपस्थित होना आवश्यक है।

तुम पन्थ मिलाऊँगी।

शब्दार्थ—सरल है।

मर्म—तुम मेरी प्रतीक्षा करो। किसी रात्रि को अचानक मैं अवश्य आऊँगी और तुम्हारे अधरों में अपने अधरों की मदिरा को उंडेल कर और तुम्हें अपने वक्ष से लगाकर भुज-भुजों से संचित तुम्हारी कामाग्नि को तृप्त कर दूँगी।

पुरूरवा

आवेष्टित माया हो।

शब्दार्थ—आवेष्टित=आवेश-युक्त जोश में कहे गये। उद्गार=हृदय के सहज भाव। मर्म=तथ्य। उद्घाटन=घोषणा प्रकटीकरण। श्लथ=शिथिल ढीला। अवगुण्ठन=पर्दा घूँघट। मायावरण=माया का परदा।

प्रसंग—उर्वशी के आवेश में स्वयं सौन्दर्य-वर्णन के द्वारा भी उर्वशी की माया का रहस्य पुरूरवा के मस्तिष्क में अस्पष्ट ही रहता है।

मर्म—तुम्हारे ये आवेश में कहे गये तीव्र भाव रहस्य के प्रकट करने में समर्थ नहीं हैं। माया के रहस्य का पता इन उद्गारों से बहुत अधिक नहीं हट सका है और यदि यह कुछ स्पष्ट हुआ भी हो तब भी तुम मेरे लिये रहस्यमयी हो। माया का आवरण हटा देने पर भी तुम मेरे लिये माया हो।

विशेष—उपर्युक्त प्रथम दो पंक्तियों में प्रश्नवाचक चिन्ह किंचित संदिग्ध है। उनके न होने पर अर्थ कुछ अधिक स्पष्ट होता है। तीसरी पंक्ति में आवेष्टित उद्गार के द्वारा रहस्योद्घाटन का स्वीकारात्मक शब्द प्रयुक्त न होने से 'पर' अर्थसंगति में सर्वथा बाधक सिद्ध होता है। पुनरपि मर्मस्थल से

उद्घाटित उद्गार सर्वथा आवेष्टित होते हैं। 'आवेष्टित' उद्गार का विशेषण नहीं अपितु उसका संदर्भ है जो उद्गार में स्वयं भी अन्तर्वेष्टित है। तो फिर सहज उद्गार मर्मो का सही उद्घाटक हुआ और (?) प्रश्नवाचक चिन्ह का प्रयोग करने से इसका मत विपरीत होता है जो अधिक समय नहीं है।

नारी मूलतः माया है रहस्य है सौन्दर्य है। जो स्वयं माया है उसके रहस्योद्घाटन से उत्तरोत्तर माया का ही रूप अधिक गहन होता जाएगा। प्रसाद ने भी श्रद्धा के सतरीरी शरीर को माया में लिपटा हुआ कहा है—

'कैसी हो माया में लिपटी
अधरों पर उंगली धरे हुए।"

— प्रसाद कामायनी

इसी प्रकार श्रद्धा को प्रसाद जी ने माया तथा रहस्य की संज्ञा दी है—

"कौन हो तुम विश्व माया कुहुक सी साकार।
प्राण सत्ता के मनोहर भेद-सी सुकुमार।'

—प्रसाद कामायनी

अब भी नहीं है।

शब्दार्थ—निष्कलुष=पाप रहित। शुभ्र=श्वेत। वन्हि=भाप। धरणी=यज्ञ में जलाई जाने वाली लकड़ी। हेम=सोना।

प्रसंग—पुरूरवा को उर्वशी के सौन्दर्य में किसी अव्यक्त शक्तिमती सत्ता की माया का आभास होता है। उसे लगता है जैसे उसकी सृष्टि की सौन्दर्यानुभूति का एकत्र समाहार है।

अर्थ—अब भी तुम प्रमत्त अदि उषा की तरह चमक रही हो। धरणी से अभी-अभी प्रस्फुटित श्वेत भाप जैसी तुम प्रकाशित हो रही हो। तुम मेरी युग-युगों की स्वर्णवर्णा प्रमिका हो जिसकी स्वच्छ त्वचा पर कहीं भी समय की उंगलियों के दाग तथा स्पर्श नहीं हैं।

विशेष—श्रद्धा का रूप-वर्णन भी कुछ इसी प्रकार का है—

'उषा की पहली लेखा कान्त'

× × ×

"एक लघु ज्वालामुखी अचेत"

—प्रसाद : कामायनी : श्रद्धा

एक स्पर्श ... इंगितों से।

शब्दार्थ—तन्त्री=वीणा। निनद=निनाद झंकार। प्रसून=फूल। पु स=पुष्प। इंगितों=इच्छाओं।

अर्थ—तुम कोमल बीनों के तारों पर उत्पादित अंगुली का वह स्पर्श हो जिसके द्वारा वीणा से नवीन संगीत के स्वर तथा मधुर झंकार उमड़ पड़ती है। तुम जिस दिशा में भी अपने रक्तिम कमलों जैसे चरणों को रखती हो उसी दिशा में नवीन आशाओं से अन्वित नव यौवन के कुसुम पुष्प आप उठते हैं।

तुम त्रिकाल सुन्दरी ... लौट जाओगी।

शब्दार्थ—त्रिकाल सुन्दरी=शाश्वत सुन्दर रहने वाली। आभा=ज्योति। पुलक=रोमांच।

अर्थ—तुम शाश्वत सुन्दरी हो। तीनों लोकों की अमर-प्रकाश ज्योति हो। तथा सभी युगों से और सभी दिशाओं से चलकर आई हो। इसीलिए तुम प्रत्येक जन्म-जन्मान्तरों के कणों में रोमांच जगाकर पुन: सभी दिशाओं तथा सभी युगों को लौट कर चली जाओगी।

एक पुष्प ... स्वप्नों की।

शब्दार्थ—संहित=संचित संकलित। रसाकर्षण=रसमय आकर्षण। मन्वन्तर=एक मनु का शासन काल एक युग।

अर्थ—तुम एक पुष्प में सभी पुष्पों का एक किरण में सभी किरणों का और एक स्त्री में सभी स्त्रियों का एकत्र संग्रह हो। तुम प्रत्येक युग की परिचिता प्रत्येक युग का स्नेहमय आकर्षण परिचित विश्व की प्रिया तथा उन के स्वप्नों की महारानी हो।

पर दिग्व्यापिनी ... हुई है?

शब्दार्थ—दिग्व्यापिनी=दिशाओं में व्याप्त। चन्द्रिका=चन्द्रमा की किरण। व्योम=आकाश। कादम्बिनी=मेघमाला।

अर्थ—किन्तु दिशाओं के छोर तक फैली हुई चन्द्रिका के समान सम्मुख

विचरण करने वाली तुम आकाश को छोड़ कर मेरी भुजाओं के पाश में जो आकर सिमट गई हो, अन्तहीन आकाश में विचरण करती हुई रसमयी मेघ माला सी प्रसन्न होकर सहसा जो आकर मुझ पर बरस गई हो वह केवलमात्र संयोग है अथवा इस गम्भीर महामिलन के पीछे जन्म-जन्म का कोई रहस्य छिपा हुआ है।

जहाँ जहाँ ... पुरुष था।

शब्दार्थ—मलयानिल=मलय-पवन। कुंचित=संकुचित। चुम्बन रसिक=चुम्बन का रस लेने वाला।

अर्थ—तुम जिस स्थान पर भी जब कभी पुष्प बन कर विकसित हुईं तब तब उस स्थान पर मैं ही शायद मलय-पवन बनकर तुम्हें अपनी उच्छिन्न बाहों में भरता रहा हूँ। जिसके सामने तुमने अपने संकुचित होठों को अर्पित किया, ऐसा लगता है मैं ही सदा वह चुम्बन का रस लेने वाला पुरुष था।

मेरी ही ... फूलों के।

शब्दार्थ—कल्प=युग। प्रणय उद्वेलित=कामोत्तेजित। सरोज= उरोज। आर्त=पीड़ित।

अर्थ—वह मेरी ही जलन थी जिसे कल्प-कल्प से तुम फूलों के कुञ्ज भवनों में अपने आलिंगन से शान्त करती रही हो। युग-युगों से तुम कामोत्तेजित प्रणय पीड़ित अपने वक्षस्थल पर मुझे सुलाकर मेरे दुखी नयनों के आंसू पोंछती आई हो।

जहाँ-जहाँ ... चलता है।

शब्दार्थ—निर्निमेष=एकटक। मधुकर=भौंरा।

अर्थ—जहाँ-जहाँ तुम रही मैं एकटक अपनी आँखों की ज्योति से वहीं तुम्हें सींचता रहा हूं। भविष्य में भी तुम जहाँ-कहीं जाओगी मैं गन्ध से आकर्षित हुए भ्रमर की तरह तुम्हारे साथ चलूँगा अथवा जिस प्रकार राहु चन्द्रमा का अनुगमन करता है उसी प्रकार मैं भी तुम्हारा अनुसरण करूँगा।

विशेष—प्रेम के मधुर प्रसंग में राहु की कल्पना संगत प्रतीत नहीं होती। राहु सर्वथा अशुभ तथा भयावह ग्रह है जो चन्द्रमा के सौन्दर्य का भक्षण न कर के उसे आतंकित करता है। प्रेमी तथा प्रेमिका में किसी ओर से भी आतंकित होने अथवा किए जाने से साधारणीकरण की अपेक्षा रस में दोष उपस्थित होता है।

उर्वशी

चन्द्रमा चला [illegible] अस्ताचल शिखर।

शब्दार्थ—लोहित=रक्तिम लाल। रजनी=रात। अस्ताचल=अस्त होता जाता।

प्रसंग—उर्वशी का प्रस्तुत आख्यान तृतीय अंक का उपसंहार है। इसमें एक ओर रात व्यतीत होने तथा प्रभात आने का वर्णन किया गया तथा दूसरी ओर चतुर्थ अंक की पृष्ठभूमि को प्रस्तुत किया गया है।

अर्थ—चन्द्रमा अस्ताचल की ओर जा रहा है। रात व्यतीत हो रही है। आकाश के आंगन पर तम के नीचे से प्रकाश फट रहा है। सूर्य अपने रक्त-रंजित रक्तिम किरणों के बाण फेंकता हुआ उदित हो रहा है और वह देखो सूर्य की अस्त छाया से भरित पूर्वांचल का उज्ज्वल शिखर ज्योति से खिल रहा है।

विशेष—इस पद में रात्रि के बीतने तथा प्रभात के आने के द्वारा मिलन के अन्त तथा वियोग के आरम्भ का और लोहित बाणों के द्वारा आगामी जीवन के संघर्षमय होने का संकेत दिया गया है।

हिमस्नात [illegible] जाती है।

शब्दार्थ—हिमस्नात=बर्फ में नहाई हुई। सिक्त=भीगी भीगी। वल्लरी=लता। विहगावलि=पक्षियों की पंक्ति। सोहर=जन्म के समय गाए जाने वाला मंगलगीत।

अर्थ—उस हिमाच्छादित रजनिसिक्त पुष्पवती लतिका को देखो! वह अपने पति पर्वत को फूलों का नया हार पहना रही है। शायद कुंजों में कल किसी नए फूल का जन्म हुआ है। इसीलिए तो यह जंगल के खग-वृन्द हर्षित हो मंगल सोहर गा रहे हैं।

विशेष—उपर्युक्त पद में आगामी अंक में होने वाले उर्वशी के अज्ञात पुत्र का संकेत है।

कट गया ... जाना होगा।

शब्दार्थ—निमिष=पल भर।

अर्थ—हमारा एक वर्ष इस गन्धमादन पर्वत पर ऐसे व्यतीत हो गया जैसे दो ही क्षण बीते हों। अब हमें यह स्थान छोड़ कर अन्यत्र जाना होगा और फिर पता नहीं इस हरे भरे धरती के स्वप्न-स्वरूप शीतल वन में राजपुरी से लौट कर फिर कब आना हो सकेगा।

कितना अपार ... सोते थे।

शब्दार्थ—उपधान=तकिया।

अर्थ—यहाँ रहते हुए हमें कितना असीम सुख मिलता था जब हम पर्वत की चट्टानों पर बैठे-बैठे हम दोनों झरनों के निर्मल जल में क्रीड़ा करके पाँव भिगोते थे। पेड़ों के नीचे अपनी बाहों को आपस में एक दूसरे का तकिया बना कर हम किस प्रकार निश्चिन्त होकर छाया में सो जाया करते थे।

जाने से ———हरियाली से।

शब्दार्थ—निर्झरी=छोटा झरना। नीरव=शान्त।

अर्थ—यहाँ से जाने से पहले आओ आज हम जी खोल कर झरनों से सरिताओं से तथा फूलों की एक-एक डाली से मिल लें। आओ प्रियतम! आज हम पर्वत पर रहने वाले मौन प्रकाश का भी मन भर पान करें और अपने हृदय को मस्ती से झूमती हुई हरियाली से अभिसिक्त कर लें।

चतुर्थ अंक

स्थान—महर्षि च्यवन का आश्रम (महर्षि की पत्नी सुकन्या उर्वशी के नवजात पुत्र को गोद में लिये खड़ी है। चित्रलेखा का प्रवेश)

सुकन्या

अच्छा तू   सु पर।

शब्दार्थ—उचट गई—खुल गई, छूट गई। पद-चाप—पैरों की आवाज।

प्रसंग—उर्वशी पुत्र-जनन के पश्चात् पुरूरवा के यज्ञ-कार्य में व्यस्त होने पर च्यवन के आश्रम में समय बिताती है। सुकन्या उर्वशी के नवजात शिशु को गोद में लिए खड़ी है। इसी बीच चित्रलेखा का प्रवेश होता है तथा शिशु की नींद उचट जाती है।

अर्थ—अरी चित्रलेखा! तू आ गई! तेरी आवाज पाकर मुन्ने की नींद उचट गई है अर्थात् [illegible] खुल गई है। मानो इसके मन में जो स्वर्गलोक का अंश निहित है वह पृथ्वी पर स्वर्ग की चरण-चाप सुनकर जाग पड़ा हो।

विशेष—चित्रलेखा— अप्सरा राजा पुरूरवा ने केशी नामक दैत्य को मारकर इससे सम्बन्ध किया। —हिन्दी कथा कोष चित्रलेखा ९९

परन्तु यहाँ कवि ने इस ऐतिहासिक तथ्यको न देकर चित्रलेखा को उर्वशी की सखी मात्र माना है।

यह प्रसून   प्र भी होगा।

शब्दार्थ—प्रसून=फूल। मही-नभ=धरती-आकाश। परिरम्भ=प्रेम। क्षार=मिट्टी।

अर्थ—धरती और आकाश के अद्भुत प्रेम से उत्पन्न हुआ यह सुन्दर फूल (शिशु) पता नहीं अपने पिता की तरह धरती की मिट्टी के रस का लोभी होगा अथवा देवताओं के समान केवल सुगन्ध से प्यार करेगा।

चित्रलेखा

महो और नम..........माती है।

शब्दार्थ—व्योम=आकाश जलदखण्ड=बादलों के टुकड़े।

प्रसंग—प्रस्तुत पद में चित्रलेखा धरती और आकाश के अंतर में समाहित समान गुणों का वर्णन करती हुई दोनों को एक ही सत्ता व दो समान स्वरूप सिद्ध करती है।

अर्थ—धरती और आकाश दो हैं य सब कहने की बातें हैं। धरती को जितना खोदोगे उतना ही नीचे शून्य मिलता जाएगा और आकाश जो सर्वथा शून्य तथा रिक्त दृष्टिगत होता है उसके भीतर भी नाना प्रकार के मेघ-खण्ड घूमा करते हैं। और, वर्षा-ऋतु में कभी-कभी उसके हृदय में रंगीन इन्द्र-धनुष भी निकल आता है।

सुकन्या

और..........क्या।

शब्दार्थ—विरक्त=उदासीन।

अर्थ—सुकन्या चित्रलेखा से प्रश्न करती है कि उदासीन अम्बर में रंगीन इन्द्र-धनुष के निकल आने पर उसकी क्या मनोदशा होती है?

चित्रलेखा

तुम्हें हो..........जाने से?

शब्दार्थ—निदारुणमय=कष्टपूर्ण कठोर। मधुमिका=सौन्दर्य-ज्वाला। मुग्धा=जवान नवयुवती। ध्यान में अवस्थित ध्यानस्थ=ध्यान-लीन। विलोम=चंचल।

प्रसंग—चित्रलेखा सुकन्या के प्रति अपने भाव प्रकट करती है—आकाश में इन्द्र-धनुष आने पर वह योगी अन्तरिक्ष उसी प्रकार विकल हो उठता है जैसे सुन्दर कामिनी को देखकर मुनि तपस्वी विकल हो उठते हैं।

अर्थ—सुकन्ये! क्या तुम नहीं जानतीं कि किसी सुन्दरी को देख उस पर मोहित होकर योगी वर अपना कठोर योग और तपस्वी अपना कष्ट साध्य तप को छोड़ इस तरह विकल हो दौड़ पड़ते हैं मानो सौन्दर्य की वह शिखा

जो उनके ध्यान में स्थिर नहीं होती थी वह नवयौवना कामिनी बनकर उनके सामने आ ठहरी हो। क्या तुम्हें याद नहीं है कि जब तुमने ध्यानमग्न च्यवन ऋषि का स्पर्श किया था तब वे किस प्रकार व्याकुल तथा चंचल होकर अपनी समाधि से जाग पड़े थे।

सुकन्या

किन्तु गर्व है।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—चित्रलेखा के प्रति सुकन्या अपने विचारों को स्पष्ट करती हुई कहती है कि उसे च्यवन ऋषि से इस कारण कि उन्होंने उसका (सुकन्या का) स्पर्श पाकर समाधि त्यागित की घृणा नहीं है अपितु गर्व है।

चित्रलेखा

नहीं गर्व आँखों को।

शब्दार्थ—अनायास=सहसा। तेजवंत=तेजस्वी। व्यथ-उदय=विकल-उत्तेजित। तपश्चरण=तपश्चर्या तपस्या। निरंजन=परब्रह्म। उन्मीलित=खुलना। दूपते=दोष देने।

प्रसंग—इन पंक्तियों में चित्रलेखा योग तथा भोग तप एवं प्रणय के समन्वय की महत्ता स्थापित करती है।

अर्थ—मुझे भी सहसा उन तेजस्वी पुरुषों पर गर्व होने लगता है जिनकी तपस्या विकल उद्दीप्त प्रेम में बाधा नहीं बनती। और न ही जिनका प्रेम उनकी तपस्या में विघ्न डालता है। प्रेम के बन्धन में बंधे हुए भी जो रस में डूबे हृदय से उसी परम सुख की चोटी पर चढ़े हुए रहते हैं जहाँ योग योगी को और कविता कवि को बहा कर ले जाती है। तथा परब्रह्म की समाधि से खुल जाने पर जिनकी आँखें सांसारिक प्रणय में फंसी आँखों में दोष नहीं देखतीं।

तप का नहीं है।

शब्दार्थ—उत्सर्ग=बलिदान। तपोनिधान=महान तपस्वी। सीमान्तनी=स्त्री। अमोघ=अपार। द्रष्टा=ज्ञानी। इन्द्रिय-तर्पण=इन्द्रियसुख।

अर्थ—तपस्वीराज च्यवन ने तप को प्रेम पर बलिदान कर केवल तुम्हें ही नहीं अपितु जगत भर की स्त्रियों को अपार अमर तथा तीनों लोकों को जीतने वाला गौरव प्रदान किया है। और उन परम ज्ञानी ऋषि ने पुनः यौवन धारण कर यह सिद्ध कर दिया है कि इन्द्रियों का सुख भोगने में कोई दोष नहीं है।

विशेष—"ऋग्वेद में च्यवन और अश्विनी कुमारों का आख्यान है। महाभारत के अनुसार इनकी माता पुलोमा और पिता भृगु थे। 'च्यवन' का शब्दार्थ है—गिरा हुआ। कहा जाता है, जब इनकी माँ गर्भवती थीं तभी एक राक्षस उन्हें ले भागा। मार्ग में भय से इनका गर्भपात हो गया। द्रवीभूत हो राक्षस ने उनको तत्काल पुत्र के साथ चले जाने की आज्ञा दे दी। उसी पुत्र का नाम च्यवन हुआ। च्यवन बहुत बड़े ऋषि हो गए हैं। एक बार नर्मदा-तट पर घोर तप करते हुए ये बहुत दिनों तक समाधिस्थ रहे। इनके सारे शरीर को दीमक ने ढक लिया। केवल आँखें ही चमकती रहीं। उनके इस आश्रम में एक बार राजा शर्याति की कन्या सुकन्या पहुँची और उनकी आँखों को जुगनू समझ कर खोद दिया जिससे आँखों से रक्त बहने लगा। राजा शर्याति क्षमा माँगने आए, पर स्त्री रूप में सुकन्या को देने पर ही च्यवन क्षमा करने को प्रस्तुत हुए। च्यवन अति वृद्ध और जीर्णकाय थे। सब लोग सुकन्या पर हँसते थे। एक बार च्यवन के बुढ़ापे की हँसी उड़ा कर अश्विनी कुमारों ने सुकन्या को विचलित करना चाहा। कुमारों ने उनके सतीत्व की परीक्षा ली। एक बार एक सरोवर में कुमारों के साथ च्यवन को स्नान कराया गया। दिव्य देह धारण किए वे सभी एक ही रूप धारण किए हुए निकले सुकन्या को उसमें से एक को चुनने को कहा गया। उसने उन्हीं को चुना। इससे कुमार सुकन्या से अत्यन्त प्रसन्न हुए और दिव्य औषधि से च्यवन को स्थायी यौवन प्रदान किया। यह औषधि अब भी 'च्यवनप्राश' के नाम से प्रसिद्ध है।

—हिन्दी कथा कोष ७०

एक प्रेम   हो जाते हैं।

शब्दार्थ—विधु=चन्द्रमा। ताल-द्रुम=ताड़ के पेड़। रस-आलोड़न=प्रेम रस का उमड़ना।

अर्थ—एक तो वह प्रेम होता है जो चन्द्रमा के समान ऐसे दो ताल-वृक्षों के बीच से होकर ऊपर उठता जाता है जिन वृक्षों ने कभी प्रेम का आलिंगन ही नहीं किया और दूसरा वह प्रेम है जिसके रसावेग में पड़कर दो हृदय ही नहीं दो शरीर भी एक हो जाते हैं।

प्रथम प्रेम   ज्ञान नहीं है।

शब्दार्थ—अंतर्दाह=हृदय की जलन। अतृप्ति=अधूरी प्यास। ललक=लालसा। दुःख-दंत-मुख्य=भीतर से दुःखित पीड़ित। संत्रस्त=आतंकित। विभा=प्रकाश किरण।

अर्थ—पहला प्रेम चाहे जितना भी पवित्र क्यों न हो पर अधूरा है। मन भले ही एक हो लेकिन मन की इस एकात्मता से शरीर को कुछ नहीं मिल सकता। केवलमात्र हृदय की जलन पश्चात्ताप की वेदना अभिलाषाओं की व्यथा ही तो मिल पाती है। दो हृदय सतत क्षोभ से पीड़ित रहते हैं लेकिन इस भय से सदा आतंकित रहते हैं कि धैर्य का बांध टूटते ही तपोव्रत अथवा संयम की ज्योति नष्ट हो जाएगी। अतः अच्छा है, मन चलता रहे किन्तु शरीर तो बेकाम है।

विशेष—दिनकर ने पार्थिव प्रेम की महत्ता यों कहिए कि दो शरीरों और हृदयों के एकात्म सम्मिलन की अनिवार्यता प्रतिष्ठित करते हुए मात्र योग को अथवा प्रेम के उस स्वरूप को जो दो शरीरों के आलिंगन के रस को नहीं जानता अंतर्जलन तथा मनस्ताप का कारण कहा है। मन के समन्वय (एकात्म) होने पर शरीर भी आनन्द का अनुभव करता है। इसे दिनकर स्वीकार नहीं करते। यद्यपि योगियों की परम स्थिति से मन के साथ साथ देह को भी परम आनन्द की उपलब्धि होती है। किन्तु दिनकर की भावना पर वैज्ञानिक युग का बौद्धिक आवरण पड़ा होने के कारण भौतिक युग की मूल प्रवृत्ति को उपेक्षित नहीं किया जा सकता है।

मृषा तर्क ... जाती है।

शब्दार्थ—मृषा=झूठा व्यर्थ। प्रभा=प्रकाश। स्निग्ध=स्नेह। अंग संज्ञा=शरीर की चेतना।

अर्थ—हे सुकन्ये! यह विचार व्यर्थ है। तन मन का यह पारस्परिक भेद मुझे अस्वीकार्य है। तुम्हीं बताओ! जब मन मलिन होगा तो शरीर के स्निग्ध होने की सम्भावना किस प्रकार की जा सकती है। तन-मन से समन्वित उस पूर्ण प्रेम की मैं अधिकारिणी जाती हूँ जिसकी उस लहर में केवल मन ही नहीं अपितु शरीर की सत्ताएं भी विलुप्त हो जाती हैं।

धन्य प्रिया ... लहरों पर।

शब्दार्थ—प्रिया=नारी। बलिष्ठ=उर्जस्वित। प्रणय-पीड़न=प्रेम की कसक।

अर्थ—वह नारी धन्य है जो उर्जस्वित पुरुष की बलिष्ठ भुजाओं में आंख मूँदकर अपना समर्पण कर देती है और रस-मग्न होकर उस असह्य प्रेम के पीड़न को उसी प्रकार सहती है जैसे तरंगित सागर की लहरों में पड़ा हुआ एक पुरुष उसके मत्त झकोरों में भी आनन्दित होकर झूमता है।

विशेष—उदाहरण अलंकार।

धन्य पुरुष ... जाता है।

शब्दार्थ—निष्काम=कामना-हीन। उपोषित=उपवास व्रत। जठरानल=पेट की आग। क्षुधा=भूख। दीपित=ज्योतिमान। सतत=निरंतर। भोगरत=भोग में निमग्न। तीक्ष्ण=कषाय पैना। भोग-निरत=भोग में लगे हुए।

प्रसंग—उपरोक्त पंक्तियों में कवि ने चित्रलेखा के मुख से शरीर में निहित प्रेम की दो स्थितियों—(i) भोग-निरत प्रेम (ii) योगी का प्रेम—का अन्तर स्पष्ट किया है।

अर्थ—वे पुरुष धन्य हैं जो वर्षों तक निष्काम उपवास धारण करके अपनी पेट की आग को तीव्र तथा भूख को अधिक प्रज्वलित कर लेते हैं। भला निरन्तर भोग-लिप्सा में लिप्त व्यक्ति जीवन के तीक्ष्ण स्वाद को क्या

जानेगा ? उसे तो केवल वही व्यक्ति जान सकता है जिसने कुछ दिन तक उपवास करके देखा हो। सतत भोग में लिप्त प्रेमी सर्वदा छाया में निवास करने का आकांक्षी रहता है अर्थात् वासना-लिप्त व्यक्ति कभी भी वियोगाग्नि को सहने में समर्थ नहीं होते जबकि प्रेम योगी का स्वभाव सदा धूप से छाया की ओर जाना है। अर्थात् वह तब तक प्रेम की शीतल बयार में अपना सर्वस्व समर्पण नहीं करता जब तक वह प्रेम की साधना में तप कर सोना न हो जाय।

विशेष—इस प्रकार भोग रत प्रेमी प्रेम की 'सिद्धावस्था' तथा त्यागी प्रेमी साधनावस्था से सिद्धावस्था की सोपान को अधिक श्रेयस्कर समझता है।

सुकन्या

एकचारिणी ... हो कर ?

शब्दार्थ—एकचारिणी=पतिव्रता। स्वच्छन्द=मुक्त स्वच्छन्द आचार। क्रीड़ा=खेल। दयिता=पत्नी प्रेयसी।

अर्थ—मैं पतिव्रता स्त्री भला विविध भोगों के स्वाद को क्या जानूँ ? मेरे आनन्द-धाम पतिदेव तो केवल मेरे महर्षि ही हैं। भोग भोग के इन विभिन्न आनन्दों को तो स्वच्छन्द विहार करने वाली अप्सराएं ही जान सकती हैं। गृहिणी का तो अपना एक ही परम आराध्य देव होता है जिससे उसे योग तथा भोग दोनों ही प्राप्त हो जाते हैं। (अब तुम्हीं बताओ भला) महर्षि की पत्नी तथा प्रेयसी बनकर (योग और भोग में से) मुझे क्या नहीं मिला अर्थात् प्रेम की स्वर्गिक पीयूष-धारा का मैं आनन्द-विभोर होकर पान कर रही हूँ।

विशेष—(i) सुकन्या के रूप में गृहिणी के परम आदर्श की स्थापना की गई है ?

(ii) अप्सरा के मुक्त विचरण के माध्यम से आज के पश्चिम के रंग में रंगी हुई युवतियों के प्रति एक गहरा व्यंग्य है जिसको कवि ने आगे की पंक्तियों में और अधिक स्पष्ट किया है।

शिखर शिखर ... फिरने वाली को ?

शब्दार्थ—प्रफुल्ल=प्रसन्न।

अर्थ—(नारी को अपनी कल्पना के पंख फैलाकर) शिखर-शिखर उड़ने में न जाने कौनसा आनन्द प्राप्त होता है ? (मेरी मति में तो) एक वृक्ष (पति) का आश्रय लेकर अपना सम्पूर्ण जीवन बिताने में जो मन प्रसन्न होता है चित्त शीतल होता है और गहन शान्ति मिलती है वह भला नित्य प्रति नए-नए फूलों (पुरुषों) पर उड़ने वाली रमणी को कहां प्राप्त हो सकती है ?

विशेष—कवि अथवा साहित्यकार ध्वनि-ग्राहक यन्त्र के समान अपने युग की सभी मूल समस्याओं को पकड़कर अपनी रुचि के अनुसार अपने काव्य में अभिव्यक्त करता है। पश्चिमी प्रभाव के कारण आज भारतीय नारी अपने देश की संस्कृति एवं मर्यादा को भूलकर 'तितली' का रूप धारण कर बैठी है। पातिव्रत्य धर्म उसमें से लुप्त होता जा रहा है। पश्चिमी रौ में बहने वाली ऐसी ही रमणियों के प्रति कवि ने इन पंक्तियों में व्यंग्य किया है।

'अप्रस्तुत प्रशंसा' अलंकार।

नहीं एक ... हृदय को।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—नारी के भी एक से अधिक प्राण नहीं होते फिर भला वह क्या खिलाकर अलग-अलग पुरुषों को जिलाती है और पुरुष भी नारी के हृदय को पाए बिना किस प्रकार जीता है ?

विशेष—आज का युवक तथा युवती-समूह पल्लवग्राही प्रेम के मार्ग पर चल रहा है। हृदय का तो वे कुछ मूल्य ही नहीं समझते। यही कारण है कि आज प्रेम का नाम बदनाम हो गया है। प्रेम हृदय की निधि है। हृदय एक ही होता है। अतः युवक हो अथवा युवती—दोनों को एक से ही प्रेम करना चाहिए; उसे ही अपना हृदय समर्पित करना चाहिए तभी प्रेम पावनता का रूप धारण कर सकता है।

स्यात् भाव° ... हो जाएगी।

शब्दार्थ—स्यात्=शायद सम्भवत° । भित्ति=दीवार (शरीर) । योषिता=नारी, स्त्री । शरीर-मन्दिर=शरीर रूपी भवन । धनु=धनुष (कटाक्ष) । प्रसून=फूल (कपोलों की अरुणिमा) । उन्नत-तरंग=ऊँची लहरें (उन्नत उरोज) । अचिर=अस्थायी । जरा=बुढ़ापा ।

अर्थ—सम्भवत मनुष्य नारी के शरीर रूपी मन्दिर में चित्रित धनुष (भौंह) प्रसून (कपोलों की अरुणिमा) तथा उन्नत तरंग (उर्वस्थित वक्ष) से आकर्षित होकर ही हृदय की चिर महत्ता को भूल जाता है लेकिन ये सारे चित्र नाशवान हैं। एक दिन जब इस जवानी से जरा आगे बढ़कर बुढ़ापा कदम रखेगा तो ये भौंहों के धनुष सिकुड़ जाएँगे विकसित अरुणिम पुष्पों के समान कपोलों की लाली छूट जाएगी और वक्ष पर उरोजों के कारण जो आकर्षित करने वाली उन्नत तरंग दिखाई दे रही है वह समतल हो जाएगी।

तब फिर° ... मरण है।

शब्दार्थ—हतभागी=भाग्य की मारी हुई । मर्मापक्षेप—संहार । हर्म्य=भवन अन्तःपुर । आशु=शीघ्र तुरन्त ।

अर्थ—फिर उस गलित-यौवना भाग्यहीना नारी की अन्तिम शरण कहाँ है ? उसके यौवन के खण्डहर जरा के आने पर फिर किसको रुचिकर लगेंगे ? देव-मन्दिर में भी लोग तभी तक जाते हैं जब तक उसका तोरण-द्वार हरे भरे कोमल फूल-पत्तों से सजा होता है और उसकी दीवारों पर सुन्दर चित्रकारी की छटा बनी रहती है। यदि देव-भवन खण्डित होगा तो उसके भीतर के देवता का भी मरण शीघ्र ही हो जाएगा।

भावार्थ—नारी तभी तक आकर्षण का केन्द्र है जब तक उसके बाह्य अंग परिपुष्ट एवं सुन्दर होते हैं। बाह्य दैहिक सुन्दरता को छोड़ मन के आन्तरिक वैभव पर रीझना विश्व का नियम नहीं है।

इसीलिए° ... °हाहाकारी में।

शब्दार्थ—उपवन=बाग । गलित=गले हुए, नष्ट क्षीण । म्लान=मैले । बिरमेगी=रमेगी, अटकेगी । विजन=शून्य सूना । निकेतन=घर, भवन, शरीर ।

अर्थ—इसीलिये मैं कहती हूं कि जब तक तुम्हारे यौवन का बाग हरा भरा है अपने सम्पूर्ण यौवन का तार किसी एक (पुरुष प्रेमी) के साथ बांध लो। नहीं तो एक दिन ऐसा आयेगा जब कान्तिहीन मलीन अंगों पर क्षण भर के लिये भी किसी पुरुष की दृष्टि नहीं आकर जमेगी। बाहर शरीर का सौन्दर्य समाप्त होगा और हृदय में अन्तर के देवता (आन्तरिक अनुभव) भयंकर करुण हाहाकार कर प्राणों को छोड़ देंगे—छटपटायेंगे।

विशेष—वृद्धावस्था आने पर यौवन का मूल्य मालूम होता तब प्राण यौवन के अभाव में करुण स्मृति में तड़पेंगे। शरीर का समस्त आकर्षण समाप्त हो जावेगा।

चित्रलेखा

कौन लक्ष्य ?

अर्थ—नारी का लक्ष्य कौन सा है ? भटक भटक कर अनेक स्थानों पर रस पान करना या एक ही स्थान पर बसकर रस लेना ?

मृत्युञ्जय

जिसको भी समझो।

अर्थ—तुम इन दोनों में जिसे भी उचित समझो अपना लक्ष्य बना लो।

चित्रलेखा

मैं तो ... रहूँगा।

शब्दार्थ—सौरभ=सौन्दर्य सुगन्ध।

अर्थ—मुझ जीवन में किसी प्रकार की प्यास नहीं है। मेरे प्रसन्न प्राणों के अन्तर्देवता दुःखित नहीं हैं। जहां तक मेरी दृष्टि जाती है मुझे तो ऐसा दिखाई देता है कि जब तक फूल खिलते हैं हवा सुगन्ध लेकर चलती है, मैं इसी प्रकार खिली रहूंगी। मुझमें ऐसा ही सौन्दर्य रहेगा। यही यौवन रहेगा।

विशेष—चित्रलेखा सौन्दर्य के असीम सत्य एवं सत्व को प्रकट करती हुई अपने यौवन में अमरता का आभास देखती है। वैसे भी देव जातियां अमर हैं उन्हें वृद्धावस्था नहीं व्यापती।

सुकन्या

सो ... सकती है ?

शब्दार्थ—विगलित=नष्ट। छलना=धोखा प्रवचना। मर्त्य भुवन=मर्त्य-लोक। अवलंब=सहारा आश्रय।

अर्थ—ऐसा तुम्हें इसलिये लगता है कि तुम अप्सरा हो, स्वयंसिद्ध हो समर्थ हो। तुम परियों का यौवन कभी नष्ट नहीं होता। किन्तु इस पार्थिव मर्त्यलोक में तो यौवन केवलमात्र छलना है धोखा है उसका सहारा लेकर मानव नारी कब तक जीवित रह सकती है। भावार्थ यह कि पृथ्वी के प्राणियों का यौवन क्षणिक है और उसका वृद्धावस्था में बदल जाना निश्चित है।

अप्सरियां ... होता है।

शब्दार्थ—योषिता=स्त्री। आनन्द कोष=आनन्द का घर। जीर्णता=मलिनता शिथिलता।

अर्थ—अप्सरियां जो कुछ भी करें उन्हें सब सम्भव है। लेकिन हम धरती की ललनाओं के जीवन का आनन्द-निधि केवल रसपूर्ण हृदय ही है। हमारा हृदय हमें यौवन के चले जाने पर भी नहीं छोड़ता और न ही शरीर में दुर्बलता आने पर हमारा हृदय दुर्बल होता है।

(मनुष्य के वृद्ध हो जाने पर भी हृदय में रस की धवल धार बहा करती है। इसलिए कहा जाता है कि 'वह दिल से बूढ़ा नहीं है।')

एक दूसरे ... करते हैं।

शब्दार्थ—उर=हृदय। वृन्त=डंठल टहनी। शिशिर=सर्दी। घाम=धूप गर्मी। पावस=वर्षा। खेप=खेवना व्यतीत करना। अनुद्धत मन=शान्त चित्त। उदधि=सागर।

अर्थ—हम मानव-मानवियां एक दूसरे के हृदय में इस प्रकार बस जाते हैं मानो एक ही टहनी पर दो फूल खिले हों। फिर दोनों में सर्दी गर्मी तथा वर्षा का भेद नहीं रहता है। एक ही साथ हम जवान और एक ही साथ बूढ़े होते हैं। शान्त चित्त से अगणित वस्तुओं को सुख से काट देते हैं। एक ही नौका पर चढ़कर जीवन-सागर को पार करते हैं।

सच्चे प्रेमियों के हृदय मिल जाने पर उनमें भेद की लकीर मिट जाती है।

अप्सरियों ... उत्सर्जन से।

शब्दार्थ—चिर=अमर, दीर्घकालीन। महत्=महान्। उत्सर्जन=समर्पण।

अर्थ—परियाँ अशान्त चित्त होकर अपने शाश्वत यौवन के जिस रस को भोगती हैं उनके उस रस से कहीं अधिक सुख हमें प्रेम भरे हृदय के छल रहित शान्त नम्र समर्पण से प्राप्त होता है।

विशेष—हृदय का असीम सुख उसी को मिलता है जो अपना सर्वस्व समर्पण कर अपने हृदय को किसी एक के हाथ में सौंप देता है। सतत भटकते रहने में तो हृदय के दाह के अतिरिक्त सुख है ही नहीं।

चित्रलेखा

सचमुच ... जाती हैं।

शब्दार्थ—अप्रमेय=अकथनीय। नन्दि निलय=आनन्द का निकेत। दंपतियों=स्त्री-पुरुष का जोड़ा, पति पत्नी। उत्सर्जित=न्योछावर, समर्पित। स्पर्शन=स्पर्श। मुनिसत्तम=मुनिश्रेष्ठ। कोपाकुल=गुस्से से व्यग्र। तापसों=तपस्वियों।

अर्थ—वास्तव में यह धरती का सहज अप्रमेय सुख अवर्णनीय है। मन ही आनन्द का कोष है। हृदय का क्षण भर के लिए भी समर्पण पाने से जब इतना सुख मिलता है तब उन पति-पत्नियों को कितना सुख मिलता होगा जो सदा के लिए अपना हृदय परस्पर समर्पित कर देते हैं। लेकिन सुकन्ये! जब तुम्हारे स्पर्श से च्यवन ऋषि समाधि खण्डित कर कोप से व्याकुल होकर जाग उठे थे। तब तुम उनसे भयभीत नहीं हुईं क्या? क्रोधित हुए तपस्वियों से तो हम अप्सराओं को भी डर लगता है।

विशेष—वस्तुतः समर्पण ही शुद्ध प्रेम का उपयुक्त परिणाम है। 'कामायनी' की श्रद्धा भी सेवा और समर्पण को नारी-जाति का गौरव मानती है—

"समर्पण की सेवा का सार सजल संसृति का यह पतवार।
आज से यह जीवन उत्सर्ग इसी पदतल में विगत विकार।"

—कामायनी श्रद्धा ३७

× × ×

प्रेम के समर्पण में तो कभी-कभी यह दशा यहाँ तक पहुँच जाती है कि प्रेमी को अपनी आत्म-सात् बलिदान से भी संतोष नहीं होता। तभी तो कृष्ण के प्रेम में दीवानी मस्तानी ताज अपना सर्वस्व उनके चरणों पर न्योछावर कर देती है—

"नन्द के कुमार कुरबान तेरी सूरत पै
हौं तो मुगलानी हिन्दुआनी ह्वै रहूँगी मैं।

—ताज।

भूकम्पा
डरी नहीं आँखों में।

शब्दार्थ—कौतूहल=विस्मय। उद्भासित=प्रज्वलित। रश्मि-युगल=दोनों आँखें। भीतता=भयभीतता। निष्कम्प=स्थिर। चेतनाहीना=निस्पंद। भयस्तंभ-पीड़िता=भय से जकड़ी हुई और दुःखित। जड़=निश्चेतन। मृग-रिपु=शिकारी अथवा शेर।

अर्थ—चित्रलेखे! उनकी खण्डित समाधि से उत्पन्न कम्पित मुद्रा को देखकर मैं न डरती यह कैसे सम्भव था? मैंने तो जिज्ञासावश उन ध्यानलीन मुनिदेव की पलकें तनिक अपनी ओर खींची थी त्योंही उनके प्रज्वलित दो नयन-रन्ध्रों से ऐसी ज्वाला निकलने लगी मानो स्वयं अग्नि देवता निकलकर बाहर आ रहे हों और जैसे मुझे यह ज्वाला एक ग्रास में ही निगलने को प्रस्तुत हो गई। मैं तनिक भी हिली डुली नहीं अपितु स्थिर, निस्पंद चेतना-शून्य भयभीत, जड़ित व्याकुल हुई उस हिरणी की तरह खड़ी ही रह गई, जिसकी मृत्यु सामने सिंह की आँखों में खड़ी हो।

विशेष—'उदाहरण' अलंकार।

पद में ... लाली से।

शब्दार्थ—पावक=आग। परिणत=बदलना। प्रमुदित=प्रसन्न। ज्वलन-ज्वाल=अग्नि की शिखा। जावक=महावर। आसव=शराब।

अर्थ—लेकिन मैं महामुनि के नयन-रन्ध्रों से फूटी हुई ज्वाला में जली नहीं तभी उनकी आँखों की वह आग मधु की शीतल ज्वाला में बदलने लगी मानो प्रसन्न हुई अग्नि की ज्वालाएँ जावक का रूप धारण करके बरस रही हों। उनके नयन लाल थे किन्तु क्रोध से नहीं अपितु मधुमय प्रणय-मदिरा की लालिमा से रक्तिम हो रहे थे।

विशेष—उत्प्रेक्षा अलंकार।

सहसा ... मुख पर।

शब्दार्थ—स्मिति=मुस्कान। ग्रीवा=गरदन। खुल-खुल उठी=खिल मिला उठी। बंक लोचन=तिरछी नजर।

अर्थ—उसी समय ऋषि के मुख पर मुस्कराहट की कान्ति खिल उठी और मेरी गरदन पर आकर प्रणय का हाथ मैल लौट गया। ज्योंही मुझे होश आया मैं लज्जा से काँपने लगी और आँचल सम्भालकर तिरछी नजर से देखने लगी तथा यह विचार करने लगी कि अब ऋषि-मुख पर न जाने कौन से भाव फूट रहे हैं।

अनुद्विग्न ... रहे हैं।

शब्दार्थ—अनुद्विग्न=उत्तेजना रहित, शान्त। अमृत-गिरा=मधुर वाणी। सौम्ये=सुन्दरी। शुचि=शुद्ध। तनया=बेटी। दाहकता=जलन। स्थाणु=ठूँठ।

अर्थ—इसके पश्चात् मुनिदेव शान्तिपूर्वक उठे और मधुर वाणी में पूछने लगे। शुभे तुम्हारा कल्याण हो। तुम इस वन में कहाँ से आई हो? तुम देवताओं के कुल की पावन कान्ति हो या किसी मनुज-कुल की सुपुत्री हो। तुम्हें यह सुन्दर रूप कहाँ से मिला, जिसे देखते ही अग्नि की जलन शान्त हो गई और ठूँठ में भी पत्ते निकलने लगे।

विशेष—सन्देह अलंकार।

वरण करोगी· कुंजर सा।

शब्दार्थ—जरा=बुढ़ापा। पादप=वृक्ष। मदकल=मदमस्त। कुंजर=हाथी।

अर्थ—क्या तुम मुझे वर लोगी। मैं तुम्हारे लिए बुढ़ापे को छोड़कर तपस्या के बल से गम्भीर बादल नवीन वृक्ष तथा मदमस्त युवा कुंजर के समान यौवन प्राप्त कर लूंगा।

विशेष—उपमा अलंकार।

डरो नहीं आई हो।

शब्दार्थ—तपोभग=तपस्या का भंजन। च्युति=निम्नता पतन। मनोज्ञ=सुन्दर। सन्धान=खोज।

अर्थ—डरो मत। यह तपस्या का टूटना मेरा पतन नहीं अपितु सिद्धि है। पहले भी जब महर्षि कदम का कठोर तप पूरा हुआ था तो उन्होंने वरदान में स्वर्ग नहीं अपितु सुन्दर नारी को ही मांगा था। फिर तुम तो तपस्या के फल की कान्ति सरीखी स्वयं मेरे सामने खड़ी हो। इससे भिन्न दूसरा स्वर्ग और कौन सा होगा जिसकी मैं खोज करू। यदि भगवान मुझ पर प्रसन्न नहीं है तो तुम सिद्धि बन कर क्यों आई हो। अर्थात् निश्चित रूप में ही प्रभु मेरी साधना से प्रसन्न हैं और मेरी तपस्या की सिद्धि के रूप में उन्होंने तुम्हें यहां भेजा है।

विशेष—कर्दम मुनि सांख्य दर्शन के रचयिता महर्षि कपिल के पिता थे। कहते हैं कि उन्होंने दस हजार वर्ष तक घोर तपस्या की और ब्रह्मा से वरदान प्राप्त कर कपिल की माता तथा स्वायंभू मनु की कन्या देवहूति से विवाह किया।

मणि-माणिक्य· ·स्वयं आएगा।

शब्दार्थ—शुचि-स्मिते=पवित्र एवं निर्मल मुस्कान। पर्णशाला=पत्तों की कुटिया।

अर्थ—तपस्वी का तो एक-मात्र रत्न तप ही है मणि-माणिक्य नहीं। और निर्मल मुस्कानमयी सुकन्या को मैं वही तपस्या रत्न अर्पित कर रहा हूं।

हम और तुम जिस पर्णशाला में एक साथ मिलकर रहेंगे स्वर्ग वहीं बरदान सौंपने आएगा ।

विशेष—सुकन्या के इस सम्पूर्ण संवाद में 'स्मरण' अलंकार है ।

चित्रलेखा

कीर्तिमान् होती है ।

शब्दार्थ—कीर्तिमान=यशस्वी । कीर्ति=यश । तिया=स्त्री । उद्वेग=उत्तेजना । विभव=वैभव ऐश्वर्य ।

अर्थ—यशस्वी का यश और भावुक तपस्वी की साधना जो स्त्री के हृदय में भी रसमयी उत्तेजना भर सकती है वह उत्तेजना मणि-माणिक्यों तथा मुकुटों से नहीं जगाई जा सकती । अतः वही साधना धन्य है जो धन का नहीं मन का संयम करती है ।

विशेष—संगति अलंकार ।

सुकन्या

सिखे ! मैं हरियाली ।

शब्दार्थ—विभासित=प्रकाशित । महाव्योम=महाकाश । रत्न=तारे । उर्मियां—लहरें । भंगिमा=अदाएं ।

प्रसंग—च्यवन ऋषि के—'हरि प्रसन्न यदि नहीं सिद्धि बन कर तुम क्यों आई हो ?"—वचन सुनकर सुकन्या के चित्त पर जो अमिट प्रभाव पड़ा उसी का स्पष्टीकरण सुकन्या स्वयं अपने मुख से करती है ।

अर्थ—हे सखि ! उस तापसी के मधुमिश्रित वचन सुनकर न जाने मैं किस अपार महिमा से भर गई । उस समय मैं जीवन में पहली बार मेरा नारीत्व प्रतिभासित होकर उठ जागा अर्थात् मैं उस दिन जान पाई कि हम नारियों की कितनी अपार महिमा है जो ऐसे महान् तपस्वियों की सिद्धि का कारण बनती हैं और हमारी सिद्धि के लिए न जाने कितने युग साधना में बिता देते हैं । मुझे ऐसा लगा जैसे धूप में चमकने वाला प्रकाश उसका प्रकाश नहीं है अपितु वह मेरी ही आभा से भासमान हो रहा है । महाकाश में चमकने वाले नक्षत्र मेरी ही कान्ति के परिणाम हैं, जल में जो लहरें अठखेलियां कर रही

है वह सब मेरी चरण-अरुणिमा का ही प्रतिफलन है और वन में जो हरियाली छा रही है वह सब मेरे हर्ष का ही फल है।

विशेष—इसी भाव के समानान्तर पद्मावत में जायसी का भाव दर्शनीय है—

रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती
रतन पदारथ मानिक मोती।

—जायसी पद्मावत

'स्मरण' अलंकार।

लौट गए ... आयी हो ?

शब्दार्थ—शत-शत=सैकड़ों। श्रवण कर=सुनकर। प्रशस्ति=प्रशंसा सूचक वचन। तापस=तपस्वी।

अर्थ—सैकड़ों राजकुमार जिस द्वार से निराश होकर लौट गये थे वही द्वार तापस के इस प्रशंसासूचक वचन को सुनकर खुल गया—"यदि भगवान मुझ पर प्रसन्न नहीं है तो सिद्धि बन कर तुम यहाँ क्यों आई हो ?

हाय चित्रलेखे! ... गाया था ?

शब्दार्थ—वारुणी=शराब। वन्दन-गान=प्रशस्ति।

अर्थ—हाय चित्रलेखे! मैंने अपने सौन्दर्य के विषय में अपार प्रशस्तियों का श्रवण किया है। कौन ऐसा राजकुमार था जिसे मेरे मुख में आकाश का चन्द्रमा न दिखाई दिया हो आँखों में शराब और त्वचा में सीपी जैसी उज्ज्वल चमक न दिखाई दी हो।

(परन्तु मेरे आभ्यन्तर मानस में अरूप रूप में जिस देवता का निवास था क्या कभी उसका प्रशस्ति-गान भी किसी ने किया था ? अर्थात् किसी ने नहीं किया।

लौट गए ... पाया था।

शब्दार्थ—चमत्कृत=विस्मित करने वाला। शोणित=रक्त। प्राचीर=दीवार।

अर्थ—सभी राजकुमार मेरे विस्मयकारी शोणित मांस और त्वचा को देखकर, बाह्य सज्जा रूपी रंगों की दीवार तथा मुझसे निकलने वाली गन्ध

के घेरों से टकराकर लौट गये। कोई भी तो ऐसा युवक नहीं आया जो इस त्वचा के घेरे को पार करके परे पहुँचा हो या जिसने उसके पार जाने का किंचित् यत्न भी किया हो।

सब को लगा ... गयी थी ?

शब्दार्थ—सरल हैं।

अर्थ—सब को ऐसा लगा जैसे मुझ में कोई मोहक-शक्ति आपूरित है लेकिन क्या कभी किसी ने अपनी दृष्टि को वहां तक ले जाने का प्रयास किया जहां के भीतर निवास करने वाले गहन सिन्धु से यह मोहक-तरंग उमड़ कर बाहर प्रतिभासित होती है ?

देखा उसे ... आयी हो।

शब्दार्थ—सुप्त=सोई हुई। अनायास-मुक्त=सरलता से। निश्छल=छल-रहित।

अर्थ—उस भीतरी महिमा के महासागर को महर्षि च्यवन ने देखा और यह सरल निश्छल प्रशस्ति गाकर मेरी सुप्त महिमा को जगा दिया— 'यदि भगवान मुझ पर प्रसन्न नहीं हैं तो तुम सिद्धि बन कर क्यों आई हो ?

लगा मुझे ... जाती हूं।

शब्दार्थ—दीपित=प्रकाशित बलती हुई। आकंठ=गले तक।

अर्थ—मुझे ऐसा लगा जैसे मेरे शरीर की त्वचा रूपी ऊपरी पपड़ी टूट रही है और भास्वर होने वाली नयी त्वचाएँ अन्दर से निकल रही हैं। गहन चित्त के मन्तस्तल से ऐसा प्रतीत हुआ मानो कोई मधु की धारा बही चली आ रही है और मुझे ऐसा अनुभव हुआ जैसे मैं गले तक डूब के मरी जा रही हूं।

विशेष—उत्प्रेक्षा अलंकार।

रही मूक ... प्रभा है।

शब्दार्थ—मूक=शान्त चुप। अम्बर=आकाश उच्चलोक। गूढ़ द्रष्टा=रहस्यदर्शी। अनायास=बिना परिश्रम के। अमोघ=अचूक।

अर्थ—मैं वैसे तो चुप रही पर उच्चलोक में बढ़ हुए मेरे हृदय ने कहा—

"हे रहस्यदर्शी महर्षि ! तुमने जो कुछ कहा वह झूठ नहीं है। सचमुच ही मैं परब्रह्म की अपार मुस्कान हूँ अर्थात् उसी की ज्योति से ज्योतित होने वाली ही मैं देवी के समान नारी हूँ। सौन्दर्य की प्राप्ति दीर्घकाल की तपस्या के पश्चात् होती है। (इसी सौन्दर्य को) तपस्वी और प्रज्ञावान तो विभिन्न साधनाओं के द्वारा प्राप्त करते हैं लेकिन नारी को (सौन्दर्य की) यह शक्ति बिना किसी परिश्रम के सहज ही सुलभ होती है। वास्तव में नारी का सौन्दर्य विश्व को जीतने वाली अमोघ प्रभा के समान है।

सचमुच ही ... जाते हैं।

शब्दार्थ—अपद=स्थाणु, ठूठ। द्रुमों=पेड़ों। ऊसर=बंजर।

अर्थ—सचमुच ही मेरे स्पर्श मात्र से ठूठ वृक्ष पल्लवान्वित हो जाते हैं और मैं जहां पर भी चरण रख देती हूं वहां की बंजर भूमि में भी फूल खिलने लगते हैं।

विशेष—(i) जायसी के प्रतिबिम्बवाद का प्रभाव।
(ii) तुलना—

'नयन जो देखा कंवल भा निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा दसन जोति नग हीर।।'

—जायसी : पद्मावत मानसरोदक खंड।

मैं अनन्त ... तपश्चरण की।

शब्दार्थ—अनुचरी=दासी। किरीट=ताज। प्रणय-पुण्य सीमा=प्रेम में पवित्र। दारुणतम=भयंकर महान्। तपश्चरण=तपस्या।

अर्थ—मैं उस परब्रह्म की प्रभा हूं किसी ताज या मुकुट की दासी नहीं हूं। प्रेम में पवित्र हुई मैं अनन्त नारी केवल उसी का वरण करती जिसकी महान् तपस्या के फलस्वरूप आभा प्रतिफलित हो रही होगी।

भाव यह है कि चूंकि मैं स्वयं ज्योति का अंश हूं अतः मुझे उसी का वरण करना चाहिए जो स्वयं भी उसी परब्रह्म की ज्योति का अंश हो क्योंकि इसके अभाव में मेरा उससे भाव-समीकरण होना असम्भव है। परिणामतः मेरा सारा जीवन असफल हो जायेगा।

"किन्तु हाय" ... "आयी हो ?"

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—सुकन्या कहती है कि हाय ! तुम पुनः एक बार इस वाक्य को क्यों नहीं दोहराते—"यदि भगवान मुझसे प्रसन्न नहीं हैं तो तुम भला फिर सिद्धि बन कर क्यों आई हो ?

चित्रलेखा

अरे री ... आँखों में।

शब्दार्थ—मादक=नशीली मोहक मस्त। मधु-मुहूर्त=सुन्दर क्षण।

अर्थ—प्रेम के प्रथम परिचय की यह मादक घड़ी कितनी कसकपूर्ण होती है। यह सुन्दर मुहूर्त मरकर भी नहीं मरता। जब चाहो तब इसकी साकार मूर्ति आँखों में जाग मिलती है।

घर में ... दिया है।

शब्दार्थ—कंटकित=दुःखित। पुलक-पूर्ण=रोमांच से भरी। ललनाएं=स्त्रियाँ। पर्याय=रूप। भूमा=आनन्द।

अर्थ—लेकिन मैं इस भाँति क्यों दुःखित हुई जा रही हूँ ? आह ! निश्चय ही प्रथम प्रेम की याद बड़ी रोमांचपूर्ण होती है। ऋषिगण सारी धरती के पूज्य हैं। अगणित नारियाँ उन्हें अटूट श्रद्धा और अपार गौरव से देखती हैं। स्त्री को तपस्या की सिद्धि और ब्रह्मानन्द का रूप बताकर वास्तव में ऋषि ने स्त्री-जाति को मनचाहा आदर दे दिया है।

सुकन्या

पूछो मत ... शिशुओं पर।

शब्दार्थ—कोपन=क्रोधपूर्ण। निविष्ट=स्थित, संचित। वत्सलता=स्नेह। निरीह=असहाय भोला निर्दोष।

अर्थ—कुछ न पूछो वैसे तो ऋषि का स्वभाव घोर क्रोधपूर्ण है। उनके मन की रचना में अग्नि का ही कुछ अधिक अंश सन्निहित हो गया है लेकिन स्त्रियों पर सचमुच उनकी बड़ी श्रद्धा है और स्वभावतः उतना ही स्नेह वे भोले बच्चों से करते हैं।

कहते हैं ... रहते हैं।

शब्दार्थ—अगम्भीर=साधारण चंचल।

अर्थ—वे (च्यवन) कहते हैं कि बच्चे को चंचल तथा सारहीन भावों से नहीं देखना चाहिए। वे अभी उस परम महान परब्रह्म के पैर से दूर नहीं हैं। न जाने क्या कुछ देखकर वे सपने में भी हँसने लगते हैं।

स्यात् ... नहीं है।

शब्दार्थ—कंचुक=केंचुली पर्दा।

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने शिशुओं के सहज अध्यात्म अनुभव के रहस्य का स्पष्ट किया है। उनके अनुसार शैशव की पवित्रता के बिना गूढ़ सत्ता के भेदों को जानना कठिन है। ज्ञान से मनुष्य के मन पर रहस्य का पर्दा गहरा होता जाता है। वह तो सहज सरल अलौकिक अनुभूति के लिए ही खुला होता है।

अर्थ—शायद परमसत्ता का गूढ़ भेद जो अब तक रहस्य भेदने के प्रयत्न में लगे ज्ञानी के द्वारा नहीं खुल पाया है वे शिशु उसे अनायास ही सहज दृष्टि के द्वारा देख लेते हैं क्योंकि इनकी दृष्टि पर तर्क के झमेलों में भटकाने वाले ज्ञान की केंचुली अभी नहीं चढ़ पाई है। जिसके भीतर शिशुओं जैसी पवित्रता विद्यमान है उस निर्दोष मनुष्य के प्राणों में कोई भेद नहीं छिप सकता।

जब उर्वशी ... जाती हूँ।

शब्दार्थ—अयश=पाप। रूपाहत=सौन्दर्य से घायल। स्वम=ढीला। सत्यशीला=तेजस्विनी। लोकोत्तर=अलौकिक।

प्रसंग—प्रस्तुत पद में सुकन्या चित्रलेखा के प्रति च्यवन ऋषि के द्वारा कहे गए शब्दों को दोहराती है जिसमें ऋषि ने नारी-जन्म को पवित्र कहा है उसमें भी गर्भिणी तथा सत्यशीला नारी को अत्यधिक महान तपस्या एवं श्रद्धा की प्रतिमूर्ति बताया है।

अर्थ—जब उर्वशी अपने पुत्र को जन्म देने यहाँ आई थी तब ऋषि ने इसे इतनी ममता से देखा था कि मैं उसका वर्णन भी नहीं कर सकती। और,

के समय उन्होंने चिन्तनपूर्ण गम्भीर वाणी में कहा था कि नारी का
म ग्रहण करने में बड़ी मुकीर्ति है। सौन्दर्य से व्याकुल कर वीर पुरुषों
र विजय पा लेना वस्तुतः वीरता है। अतः नारी की शक्ति महान है और
रियों में भी मय के भार से शिथिल तैमसिमनी शांति को देखकर मुझे
सके प्रति आदर से भरी करुणा सी होने लगती है। मैं सोचता हूं कि वह
बल होते हुए भी कितनी अलौकिक प्रतीत होती है।

देह-कान्ति रही है।

शब्दार्थ—देह-कान्ति=शरीर का सौन्दर्य। पीतिमा-युक्त=पीला।
वर=भारी। मैंयाली=चलती। मन्थर=धीरे।

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने गर्भवती स्त्री के शरीर एवं गति का
सुन्दर चित्रण किया है।

अर्थ—(गर्भवती स्त्री के) शरीर की कान्ति पीली पड़ जाती है। उसकी
चाल चरणों के वश में नहीं रहती। वह तो किसी भांति उस भार से भरी
गंभीर चलती की तरह चल देती है जो सागर का जल पीकर धीमी गति से
डगमगा कर आकाश में चल रही हो।

आकृति नहीं हों।

शब्दार्थ—आकृति=शक्ल। ओप-विहीन=कान्ति रहित। विवशा=
विवश (स्त्रीलिंग)। ऊर्म्या=लहरें।

अर्थ—(गर्भवती स्त्री की) आकृति कान्तिहीन हो जाती है किन्तु वह
भावों से रहित नहीं होती किन्तु फिर भी उसके मुख पर कोई भाव काफी
देर तक नहीं ठहर पाता। उस गर्भ-विवशा के वश में मानो अब उसकी
भाव-लहरियां भी नहीं रही हों।

चुप हो जाती छा जाती है।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—उसकी आंखें तिरछी या मन के बन्धन से बाहर हो जाती हैं।
वह जैसे देखना चाहती है वैसे नहीं देख पाती। उसकी नहीं देखती मुख पर
जैसे सी श्रम कर छा जाती है।

अर्थ—और अप्रगल्भा उर्वशी के समीप से जब महर्षि आए थे तब उन्होंने कहा कि उर्वशी अभी तो मौन घनीभूत हुई पीड़ा की शान्त अमावस्या में पड़ी थी और अब मानो किसी अदृश्य स्थान में जाकर तट पर आई हुई सुस्थिर नाव सी यह इस दृश्य जगत के लिए जीवन का कोई साथी ले आई है। गर्भ से भार के मुक्त होकर अब गहन अर्धनिद्रा में यह मानो उस अदृश्य के तट की पुरानी बातों को याद कर रही है।

छोर रहा उर में।

शब्दार्थ—छोर=किनारा।

अर्थ—जो तन्तु इस लोक को अलौकिक जगत से बांधे हुए है उसका अन्तिम किनारा न जाने कहां अदृश्य में छुपा हुआ है लेकिन यहां स्त्री के हृदय में उसका छोर साफ दिखाई दे रहा है। अर्थात् स्त्री ही वह तन्तु है जो इस लोक को इतर लोक से बांधती है।

नारी ही धरता है।

शब्दार्थ—महासेतु=पुल। कोष्ठ=कोठा।

अर्थ—स्त्री ही वह महान सेतु है जिस पर अदृश्य लोक से चलकर नए मनुष्य तथा नए प्राण इस स्थूल संसार में आते रहते हैं। नारी ही वह विशाल कोष्ठ है जहां देवता राक्षस एवं मनुष्यों से छिपकर परमपुरुष अपना आकार ग्रहण कर लेता है।

सच पूछो झूले का।

शब्दार्थ—सत्त्वभार=गर्भ का भार। असंग=अकेली। निलय=भवन। निरापद=दुःखरहित। कक्ष=कमरा।

अर्थ—(च्यवन ऋषि कहते जा रहे हैं—) यदि सच पूछो तो संसार के उत्पन्न होने में पुरुष का कुछ भी भाग नहीं है। यह तो नारी ही है जो सृष्टि के सम्पूर्ण श्रम को स्वयं पूरा करती है। वह अकेली ही गर्भ के भार को सहती है। सन्तान भी वही अकेली जनती है और वही बालक को मन के उस उच्च भवन में ले जाती है जहां बचपन के झूले का सुरक्षित सौन्दर्य एवं सुन्दर कक्ष है।

सुभे ! अद्भुत है ।

शब्दार्थ—सुयोग=अवसर । श्रेय=महत्ता ।

अर्थ—बच्चे के रूप में सदा ईश्वर ही नारी के गर्भ में आते हैं । प्रत्येक माँ महापुरुष की ही जननी होती है लेकिन भविष्य को समेट कर अपने अनुकूल बना लेने का अवसर संसार की सभी माताओं को कहाँ मिल पाता है । फिर भी शीलवती सुकन्या ! उसकी महत्ता कम नहीं है अतिशय है ।

(उर्वशी का प्रवेश)

उर्वशी

(चित्रलेखा से)

अच्छा......मोद-भवन है ?

शब्दार्थ—अथवा=या । मोद भवन=नन्दन-वन ।

अर्थ—उर्वशी चित्रलेखा से कहती है—अच्छा ! तुम यहाँ पर बैठी हो ! अब तो देवलोक की सभी अप्सराओं से यहीं भेंट हो जाती है । हे सखी ! यह च्यवन-कुटी है या इन्द्र का नन्दन-वन है ? (क्योंकि हम सब अप्सराएँ तो नन्दन-वन में ही मिला करती थीं, फिर कहीं भ्रम से हम यहाँ पर तो नहीं बैठे) ।

विशेष—सन्देह अलंकार ।

चित्रलेखा

मोद-भवन......बेटी हैं ?

शब्दार्थ—मोद-भवन=आनन्द-विहार। सत्य सघन=सत्य के सम्मिश्रण से । शशांक-वंशी=चन्द्रवंशी ।

अर्थ—यह सुकन्या के लिए आनन्द विहार की स्थली हो सकती है पर हमारे लिए तो यह राजभवन है क्योंकि यहाँ कल्पना और सत्य के संगम से मनुष्य जाति के लिए एक और चन्द्रवंशी राजा ने जन्म लिया है । (चित्रलेखा के हृदय में बात करते-करते एक जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि) हे आर्ये! भला बताओ तो सही ! हम अप्सराएँ किस मानव की बेटी हैं ?

विशेष—चित्रलेखा द्वारा शिशु को कल्पना और सत्य का संगम कहना

र्क-संगत है। जहाँ उर्वशी कल्पनाशील युवती है वहाँ पुरुरवा सत्य का अनुसन्धाता है। अतः पुत्र में दोनों का संगम होना स्वाभाविक है।

उर्वशी

बेटी नहीं——''दिया है।

शब्दार्थ—सरस है।

अर्थ—हे चित्रलेखा! तुम किसी मनुष्य की बेटी नहीं हुई तो क्या हुआ? किसी मानव की माँ तो मैं बन ही गई हूँ। अरी देख तो मुझ रत्नमयी को कैसा सुन्दर लाल मिला है?

चित्रलेखा

कौन कहे ——आनन से?

शब्दार्थ—आनन=मुख।

अर्थ—चित्रलेखा उर्वशी से कहती है—कौन कह सकता है कि इस शिशु के मुख पर जो तेज झलक रहा है वह माँ का न होकर पिता से प्राप्त हुआ है?

उर्वशी

अरी देखती देवों सा।

शब्दार्थ—ताक=देखना।

अर्थ—(चित्रलेखा के उपरोक्त तर्क का विरोध करते हुए उर्वशी कहती है—) अरी देख तो सही! मेरे लाल की छोटी-छोटी आँखों में इस समय भी तो स्वप्न के स्वप्न प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। (देखो) यह कैसे टुकुर-टुकुर हमारी ओर सन्तुष्ट भाव से देख रहा है। ऐसा प्रतीत होता है मानो यह देवताओं के समान सब कुछ जानने वाला सब कुछ देखने वाला और पूर्ण समर्थ है।

विशेष—(1) देवता प्रायः हर प्रकार की इन्द्रियजन्य इच्छाओं से सन्तुष्ट रहते हैं। भोग के प्रति उनकी रुचि नहीं होती। इसीलिए उर्वशी ने अपने लाल को देवों जैसा सिद्ध करने के लिए उसे सन्तुष्ट भावों वाला बताया है, मनुष्य की तरह असंतोषी और जिज्ञासु नहीं।

(ii) 'मानो हो सर्वज्ञ' में उत्प्रेक्षा अलंकार।

(iii) 'देवों सा' में उपमा अलंकार।

सुकन्या

सखी तुम्हारा ... मानेगा।

शब्दार्थ—महाधूर्त=शैतान। जुड़ाओ=शीतल करो। तृषित=प्यासे।

अर्थ—(इसी बीच च्यवन ऋषि की सहधर्मिणी सुकन्या उन दोनों के पास आती है और शिशु के विषय में कहती है)—

हे सखी! तुम्हारा बालक बहुत शरारती हो गया है। मैं बड़े ध्यान से देख रही हूँ जबसे तुम यहाँ आई हो तब से इस शैतान की नजर तुम्हारे ऊपर से हटती ही नहीं। लो इसे छाती से लगाकर इसके प्यासे हिय (मातृत्व प्रेम के प्यासा) को शीतल करो। (हे उर्वशी!) मैं चाहे इसके लिए कितना भी क्यों न कर लूँ मगर यह दुष्ट भला मुझे अपनी माँ क्यों मानने लगा?

विशेष—'महाधूर्त' और दुष्ट शब्द मातृ-प्रेम से सिक्त हैं। इन शब्दों के बावजूद में सुकन्या को शिशु के प्रति कोई दुर्भावना नहीं है।

उर्वशी

अरी जुड़ाना ... जाती हूँ।

शब्दार्थ—जुड़ाना=शीतल। हृदय-कुसुम=हृदय के पुष्प।

अर्थ—अरी! इसको क्या शीतल करूँगी? ला इस हृदय रूपी पुष्प को मुझे दे। इसे अपने वक्ष पर लगा कर ही मैं स्वयं प्राण तक शीतल हो जाती हूँ।

विशेष—(i) हृदय कुसुम में रूपक अलंकार।

(ii) माता के वात्सल्य रस में पगे हुए स्वाभाविक उद्‌गारों के दर्शन होते हैं।

(सुकन्या की गोद से बच्चे को लेकर हृदय से लगाती है।)

आह! गम ... हुआ था?

शब्दार्थ—कल्पना शृंग=कल्पना की चोटी। उत्तुंग=ऊँचे।

अर्थ—(शिशु को हृदय से लगा कर चित्रलेखा तथा सुकन्या को शिशु-

जन्म से पूर्व उत्पन्न अपने हृदय के उद्गारों को व्यक्त करती हुई उर्वशी कहती है—)

आह ! इस शिशु को गर्भ में धारण करने के पश्चात् मैंने कल्पना की चोटी पर चढ़कर कौन से सुन्दर एवं ऊंचे से ऊंचे स्वप्न को नहीं छूमा था ? अर्थात् तेरे विषय में मैं न जाने कितनी-कितनी सुखद कल्पनाएं किया करती थी।

विशेष—ममता बड़ी विचित्र होती है। माने वाले अपने निरीह नवजात तथा अज्ञात शिशु के लिए वह अपना सब कुछ न्योछावर करने को तैयार रहती है। सभी स्वार्थों से परे हट कर मां की यही इच्छा बनी रहती है कि मेरा लाडला लाखों में एक हो। सुन्दरता वीरता और ज्ञान में उसकी होड़ कोई न कर सके।

यही चाहती······प्राणों में।

शब्दार्थ—रश्मि=किरणें। अपरूप=पूर्व।

अर्थ—(शिशु को जन्म देने से पूर्व मैं) यह चाहती थी कि सूर्य की किरणों चन्द्रमा की कोमल रश्मियों तथा तारकों की पवित्र आभा को संचित करके पी जाऊं जिससे ये अपूर्व तथा अमर-ज्योतियां मेरे गर्भ में प्रवेश कर इस शिशु के शोणित हृदय तथा प्राणों में समा जायें।

विशेष—(i) सूर्य तेजस्विता का चन्द्र हृदय की कोमलता का और तारे प्राणों की पवित्रता का पर्याय हैं। अतः इन तीनों के परस्पर समन्वय से ही वह शिशु का निर्माण करना चाहती है।

(ii) प्रथम उल्लेख' अलंकार।

(iii) मातृत्व की निश्छल कल्पना।

यह सोचती······अधरों पर।

शब्दार्थ—त्रिलोक=तीनों लोकों में। अंचल=गोद।

अर्थ—(इसके जन्म से पूर्व मैं यह सोचा करती थी कि तीनों लोकों में जो कुछ भी मंगलकारी और सुन्दर है वह सब एक साथ मेरी गोद में आकर बरस जाय। मैं उसको संचित कर एक पतली सी मधुर मुस्कान का

निर्माण करके किसी प्रकार उसके होठों पर जब छू (जिसस आजीवन उसके मुख पर मधुर मुस्कान का ही साम्राज्य हो क्रोध की तथा ईर्ष्या एवं जलन की उस पर छाया भी न पड़े)।

विशेष—(i) माता द्वारा बच्चे में सत्य शिवं सुन्दरं की मधुर कल्पना करना। परब्रह्म का अंश होने के कारण वह सत्य का अंश तो है, साथ में त्रिलोक में जो कुछ शुभ और सुन्दर है उसे वह बच्चे के मानस में आत्मसात कर देना चाहती है।

(ii) 'मुस्कान' जैसे अमूर्त्त भाव का मूर्तिकरण करने की सुन्दर कल्पना। अमूर्त्त भावों का मूर्तिकरण करने में प्रसाद जी बड़े माहिर हैं। 'लज्जा' जैसे अमूर्त्त भाव का सजीव एवं मूर्त्त भाव दर्शनीय है—

"मैं वह हलकी सी मसलन हूं

जो बनती कानों की लाली।

—प्रसाद।

सबका ... महिमा से।

शब्दार्थ—मानस=हृदय। समावेश=आविष्ट। अगोचर=अदृश्य। निराकार=आकार रहित। निर्गुण=सत्, रज तम आदि गुणों से भी परे। भ्रूण-पिण्ड=गर्भस्थ शिशु का शरीर।

अर्थ— (तुझे जन्म देने से पूर्व मैंने कभी किसी का अहित नहीं विचारा) मैं सब के कल्याण की बात सोचती रही जिससे कि जिस समय तेरे मानस की रचना में करूंगा तथा अन्य सभी अच्छी बातों का समावेश हो जाय। (यहां तक कि) मैं अपनी यह प्रार्थना निर्गुण निराकार एवं अगोचर परम देव को सुनाती रही जिससे वे अपनी महिमा से गर्भस्थ शिशु के शरीर को एक बार छू दें अर्थात् आशीर्वाद दे दें।

विशेष—कामशास्त्र आदि अनेक भारतीय ग्रंथों में इस बात की बड़ी भारी चर्चा है कि जब नारी गर्भ धारण कर ले तब उसके विचार शीतल, निष्कपट द्वेष एवं ईर्ष्या रहित तथा सात्त्विक रहने चाहिए। सबकी मंगल-कामना करना ही उसका परम कर्त्तव्य होना चाहिए क्योंकि इन दिनों नारी

वह भी कर्म करेगी उसकी वैसी ही प्रतिच्छाया बच्चे के मानस एवं गौरिव में आत्मसात हो जाएगी।

यह सब——हरियाली से।

शब्दार्थ—भूतल=पृथ्वी जगती। उर-अंतर=दिल में। अनुरक्त=अनुराग-युक्त, प्रेमी आसक्त वफादार।

अर्थ—(मुझे इसके स्वरूप को देखकर अब यह पूर्ण विश्वास है कि) यह सब कुछ (जो कुछ मैंने सोचा था) पूर्णतः सत्य होगा। मेरा यह लाल अपने पिता के समान अप्रतिम तेज वाले सूर्य के समान इस अखण्ड भूतल पर उदित होगा और अपनी माता के पुण्यवान एवं शीतल हरियाली जैसे गुण लेकर मेरा यह पुण्यकर्मा लाल सब हृदय स प्रजा में [आसक्ति रखेगा तथा उसके प्रति सदा वफादार (हितचिन्तक) बना रहेगा।

जब होगा कहती हूं।

शब्दार्थ—भूप=राजा। प्रचुर=पर्याप्त काफी। धन धान्यवती=धन और धनाज से पूर्ण। परिताप=यातनाएं। वसुधा=पृथ्वी।

अर्थ—जब यह इस धरती का राजा बनगा तब यही प्रचुर धन-धान्यवती हो जाएगी। पृथ्वी पर निवास करने वाले सभी प्राणियों के (दैहिक दैविक तथा भौतिक शारीरिक तथा मानसिक) रोग शोक परिताप और पाप कट जाएंगे। संसार में सब सुखी होंगे तथा सबकी आयु बढ़ेगी। इसीलिए, हे सखी ! मैं अभी स इसको आयु कहकर पुकारती हूं।

(बच्चे को बार-बार चुमकारती है।)

कितनी मृदुल वियुगी।

शब्दार्थ—दुग्ध-धवल=दूध क समान श्वेत। सोम-सुधा=सोमरस।

अर्थ—प्राणों में कितनी सुन्दर अवर्णनीय सुखों की मधुर लहरें हिलोरें ले रही हैं। इसकी (शिशु की) यह दृष्टि मनोहर और अमृत रस में सनी है। इसके स्पर्श में न जाने क्या सोम-रस की तरंग सी भरी है। इसे गोद में लेते ही पलकें मीच मुद आती हैं। सुभद्रे ! कल से मैं किस प्रकार जीवित रह सकूंगी ?

सुकन्या

क्यों कल क्या होगा ?

उर्वशी

कल से   आँखों के ।

शब्दार्थ—विमुक्त=छूटना । आचार=लोक-कर्म ।

अर्थ—कल से मुझ पर दुखों का पहाड़ टूट पड़ेगा क्योंकि कल यज्ञ पूर्ण हो जाएगा और परिचर्या से मुक्त होते ही महाराज कल अवश्य ही मेरी खोज करेंगे तथा मुझे क्षण भर भी कभी आँखों से दूर नहीं होने देंगे ।

हाय !   सकती हूँ ।

शब्दार्थ—दयित=पति स्वामी । वंशधर=वंश को धारण करने वाला ।

अर्थ—बड़े दुख का विषय है कि जिसके लिए पति इतने विकल और बेचैन हैं वही उनका वंशज जन्म लेकर जंगल में छिपा पड़ा है और यह भी कितनी लाचारी है कि मैं अभागिनी नारी अपने बेटे का मुँह अपने ही पति को नहीं दिखा सकती और न ही पुत्र के लिए अपने स्वामी का स्नेह छोड़ सकती हूँ ।

भरत शाप   हुआ है ।

शब्दार्थ—सरल है ।

अर्थ—भरत का शाप कितना भी कठोर क्यों न हो अब तक तो वह वरदान ही था । उसका उग्र और भयंकर रूप तो अब आरम्भ हुआ है ।

विशेष—उर्वशी को दिए गए भरत ऋषि के शाप का प्रसंग किसी प्रकार ऐतिहासिक आधार नहीं रखता । कालिदास ने अपने नाटक 'विक्रमोर्वशीय' में इस कल्पना का आधार लिया है । कालिदास के अनुसार—'भरत मुनि के शाप से उर्वशी को मृत्युलोक में आना पड़ता है और तब वह राजा के साथ कुछ समय तक रहती है ।   पर जब उर्वशी के गर्भ से उत्पन्न अपने कुमार को राजा देख लेता है तब उर्वशी इन्द्र की आज्ञानुसार स्वर्ग को लौट जाती है ।   कवि की कल्पना-शक्ति इसमें खूब प्रस्फुटित हुई है । भरत

मुनि का शाप" "उर्वशी का रूप-परिवर्तन इत्यादि प्रसंग" कालिदास की कल्पना-शक्ति के फल हैं।

—स्व॰ पाण्डेय और नाथूराम व्यास संस्कृत सा॰ की रूपरेखा ११०

दिनकर ने भी इस प्रसंग को अपनी कल्पना का योग देकर कुछ अधिक रुचिकर बनाने का प्रयास किया है। ऐसी कल्पनाओं के उद्भावन का मूल कारण यह होता है कि पाठक की काव्य-पठन के प्रति एक जिज्ञासा उपस्थित हो जाती है तभी काव्य में रमणीयता आ जाती है।

सुकन्या

महा क्रूर-कर्मा जाता है ?

शब्दार्थ—कोविद=पण्डित। दारुण=भयंकर। संतति=सन्तान।

अर्थ—भरत ऋषि पण्डित होते हुए भी महा कुत्सित कार्य करने वाले एवं भयंकर प्रकृति के हैं। क्या वह यह भी नहीं जानते थे कि सन्तान का जन्म होने पर पति-पत्नी का प्रणय-सम्बन्ध और अधिक दृढ़तर हो जाता है ? भाव यह है कि वह इन सब बातों को जानते थे। इसी कारण उन्होंने असह्य पीड़ा को वहन करने वाले शाप का भार तुम पर छोड़ा है।

बाला रहती होता है।

शब्दार्थ—बाला=युवती। शिरिष-सुमन=सिरिष का फूल। अंक=गोद। तनय=पुत्र। पयस=दूध। अंचल=छाती (स्तन)।

अर्थ—(पुत्र को जन्म देने से पूर्व) युवती शिरिष के फूल के कोमल रेशे के समान अपने प्रियतम से बंधी रहती है (अर्थात् उस समय युवा-युवती का प्रेम बहुत नाजुक होता है। किसी छोटी सी शंका अथवा गिला शिकवा में ही वह प्रेम-सम्बन्ध शिरिष-कुसुम के धागे के समान छिन्न-भिन्न हो सकता है) किन्तु जब उसकी गोद में नन्हा-मुन्ना अठखेलियां करता है और आंचल में उमड़-उमड़ कर दूध निकलता है तब वे शिरिष के तार (भावुक-अस्थिर प्रेम) रेशम की कठोर रस्सियां बन जाते हैं। ऐसा कौन है जो झटके से इसको तोड़ने की सामर्थ्य रखता हो क्योंकि रेशम जितना कोमल होता है उतना ही कठोर भी होता है।

अर्थात् पुत्र प्रसव के पश्चात् उनके प्रेम में जो चांचल्य का तत्त्व विद्यमान होता है वह लुप्त हो जाता है और उनका प्रेम गम्भीर हो जाता है। कारण, सन्तान में प्रेमी-प्रेमिका को उनके रूप स्वभाव एवं क्रीड़ाओं के दर्शन होते हैं जिसके फलस्वरूप प्रेम का पार्थिव रूप आत्मिक रूप धारण कर लेता है। बस यही प्रेम का दृढ़ बन्धन है।

कौन भामिनी   त्याग सकेगी ?

शब्दार्थ—भामिनी=क्रोध करने वाली सुन्दर स्त्री। अंगज=शरीर से उत्पन्न। पुरन्ध्री=स्त्री ऐसी पति-पुत्रवती स्त्री। निमित्त=लिए। सती=पतिव्रता स्त्री।

अर्थ=अपने सौन्दर्य पर मुग्ध होने वाली कौनसी ऐसी स्त्री है जो अपनी कोख से उत्पन्न पुत्र और प्रियतम में से किसी एक का चयन करके साथ जीवन सुखपूर्वक बिताने का दावा करते है? कौन ऐसी पति-पुत्रवती युवती है जो पति के लिए पुत्र को छोड़ दे और कौनसी ऐसी पतिव्रता स्त्री है जो अपने बेटे के लिए अपने पति का त्याग कर सकती हो? अर्थात् कोई नहीं।

यह समर्थ   बड़े का।

शब्दार्थ—कराल—विषम भयंकर।

अर्थ—उर्वशी! यह बड़ा भयंकर समर्थ है। इसमें निर्णय करना बहुत कठिन है (कि मैं पति और पुत्र में से किसका वरण करूँ)। (भरत-मुनि ने शाप भी तो बड़ा भयंकर दिया है कि) तुम पुत्र और पति दोनों को एक साथ नहीं पा सकती। या तो तुम पुत्र का चयन कर सकती हो या पति का। यह भी केवल उसी समय सम्भव हो सकता है जब निष्ठुर बन कर तुम अपने पुत्र-चयन का रहस्य अपने पति से छिपाकर रखो और इस प्रकार इस रहस्यमयी प्रवंचना में तुम्हारे बेटे का भविष्य क्षार-क्षार हो जाएगा।

हे सखी! ऐसो दुष्ट मुनि ने यह कितना भीषण शाप दिया है। इससे तो यही श्रेष्ठ था कि वे तुम्हें जलाकर भस्म कर देते (जिससे न होता बाँस और न बजती बाँसुरी)।

चित्रलेखा
किन्तु भला संचालन से ।

शब्दार्थ—तपन=ताप । काम-लोल कटि=काम से चंचल कमर ।

अर्थ—चित्रलेखा सुनन्या से कहती है—किन्तु यदि भरत ऋषि उर्वशी को अपने शाप से भस्म कर देते तो अपनी कामातुर कटि के कंपन तथा भृकुटि-संचालन से सन्ध्या के समय इन्द्र की सभा में नाच-नाच कर देवताओं को तपन का हरण कौन करता ?

सरल मानती रक्त-धारा में ।

शब्दार्थ—सतत-चारिणी=निरन्तर संचरण करने वाली । तरी=नौका । मीनकेतन=कामदेव । श्रमित=थके हुए ।

अर्थ—चित्रलेखा कहती है—हे सरल हृदय भूतल पर रहने वाली नारी ! तुम भला कुटिल देवों के स्वरूप को क्या जानो ! यद्यपि देवलोक अपनी कामना को जलाकर सिद्ध हो गये हैं किन्तु उनके भस्म-समूहों में अब भी काम की कुछ चिनगारियाँ शेष हैं । उनकी शीतल (काम तथा तृष्णा से रहित) रक्त-धारा में अब भी कामदेव की नौका निरन्तर रूप से मन्द-मन्द संचरण करती रहती है ।

सहे सुमन जलाकर ।

शब्दार्थ—प्रहरण=प्रहार, आघात । अनग=कामदेव । दर्प=शक्ति सामर्थ्य । विबुध=देवता । पंचशर=कामदेव । सुरों=देवताओं । प्रशमन=शमन करना आत्मसात करना । पावक=अग्नि (कामाग्नि) । वन्हि=आग ।

प्रसंग—देवों के हृदय में काम के प्रति क्या प्रतिक्रिया होती है ? इसकी सहज कल्पना कवि दिनकर चित्रलेखा के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं ।

अर्थ—(देवताओं में भला) इतनी शक्ति कहाँ है कि वे कामदेव का स्वतन्त्र आघात सह सकें ? (अर्थात् काम के मानस में स्थित होने पर जो शरीर में इन्द्रिय-जन्य व्याकुलता होती है वह देवों में नहीं होती क्योंकि वे सिद्ध और शीतल होते हैं) । देवता लोग कामदेव के प्रहारों को अपने मानस

र धारण करते हैं क्योंकि उस कामाग्नि का सहज एवं स्वच्छ रूप से शमन करना उनके लिये सम्भव नहीं है। वे तो दूसरों में कामाग्नि जगाकर (और उसके दर्शन से ही सुखभोग करके) प्रेम का सात्त्विक भोग करते हैं।

कहते हैं मदन की।

शब्दार्थ—यौवनहर=जवानी को हरने वाली। प्रसव-पीड़ा=प्रजनन पीड़ा। तेजोनिधान=तेजस्वी। ग्रीवा=गरदन। तल्प=शैया। रंजिकाएँ=मनोरंजन करने वाली।

अर्थ—ऐसा कहा जाता है कि अप्सराएँ जवानी को हरण करने वाली प्रसव की वेदना से बची रहती हैं। और, वे इस संतति-सुख से वास्तव में वंचित रह जाती हैं क्योंकि यदि वे माताएं बनकर धरती पर निवसित हो जावें तो विषय-रस के लालची सिद्धों की और तेजस्वी देवताओं की दृष्टियां किनके गालों पर, गर्दन पर और वक्षस्थल की शैया पर आकर टकराएंगी। (अर्थात् फिर वे किसकी यौवन-माधुरी को और किसके सुन्दर अंग प्रत्यंगों को देखकर अपनी कामोद्दीप्त दृष्टि को शान्त करेंगे)। अतः हम मनुष्य अमेन्द्र का मनोरंजन करने वाली कामिनियों (अप्सराओं) के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं।

विशेष—देवताओं के विनोद का एकमात्र साधन काम ही है जो मदमत्त युवतियों के अंगों में निवास कर उनकी कामुक दृष्टि को सदैव चिर जगाता रहता है। कामायनी में काम देवों के प्रसंग में अपना परिचय इस प्रकार देता है—

"मैं काम रहा सहचर उनका
उनके विनोद का साधन था।
हँसता था और हँसाता था
उनका मैं कृतिमय जीवन था।।"

—कामायनी काम ७१

स्तन नयन कपोल आदि काम के साकार रूप हैं जिन पर कामुक देवों की वासनामयी दृष्टि का लौट-लौट कर आ टिकना स्वाभाविक ही है—

"अपने अंग कै जानिक जोबन नृपति प्रवीन
स्तन मन नैन नितम्ब को, बड़ो इजाफा कीन ।"
—बिहारी सतसई

हाय सुकन्ये ! पाता है ।

शब्दार्थ—नियति=भाग्य ।

अर्थ—हाय सुकन्ये ! भाग्य के शाप से शापित हम अप्सराओं के हृदय की इस विषम पीड़ा को कोई भी तो नहीं समझ पाता ।

सुकन्या
(उर्वशी से)
तो यह पड़ी है ।

शब्दार्थ—दारुण=भयंकर । नियति क्रीड़ा=भाग्य का खेल । विपद=आपदा विपत्ति संकट ।

अर्थ—हे उर्वशी ! भाग्य का यह भयंकर खेल आखिर कब तक चलता रहेगा ? और आखिर कब तक पुत्र को कलेजे से लगा क्षण भर के लिए मन-तोष करने के लिए इस प्रकार (पुरूरवा से) छिप-छिप कर वन में आओगी ? साथ ही क्या मुझे यह बता सकती हो कि आयु यहाँ पर कब तक रहेगा ? (ये सब प्रश्न करते-करते जब उसने उर्वशी का कारुणिक एवं विवश मुखड़ा देखा तो लम्बी सी श्वास निश्वास कर सुकन्या इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं कह सकी) हे भगवान ! उर्वशी पर यह कैसी विपत्ति आ पड़ी है ?

उर्वशी
आगे को सकती है ?

शब्दार्थ—स्यात्=शायद सम्भवतः । सरणि=क्रम । समग्र=सम्पूर्ण । रजनी=रात । वन्ध्य=बाँझ । उदर=पेट । अभिशप्ता=शापित ।

अर्थ—उर्वशी सुकन्या के उपरोक्त प्रश्नों का उत्तर देती है—

जहाँ तक आने का प्रश्न है सम्भवतः यह मेरा अन्तिम दिवस है । कल से तो (पुरूरवा के पास जाने पर) मेरे जीवन का वही पुराना क्रम शुरू हो जाएगा । दिन में तो वे जहाँ पर भी रहेंगे उनके साथ मुझे भी रहना पड़ेगा

और रात्रि आने पर ऐसी प्रेम-कथा में खो जाना पड़ेगा जिसका न आदि है, न मध्य और न कभी अन्त होता है। इतना होते हुए भी मैं कह नहीं सकती कि आयु के वियोगजन्य दुःख को मैं कैसे सहन कर सकूँगी ? (आत्मचिन्तन करती हुई उर्वशी कहती है कि) हाय पुत्र ! तू मुझ जैसी अभिशप्ता और अल्प-उर्वरा अप्सरा की कोख से क्यों जनमा था जो तुझे माँ का प्यार भी नहीं दे सकी।

मैं निमित्त आने पर।

शब्दार्थ—*निमित्त*=हेतु कारण। *अबोध*=अनजान। *निखिल*=सम्पूर्ण। भ्रूण-वहन=गर्भ को धारण करना। प्रजनन=जन्म। शरण्ये=शरण देने वाली। स्वसे=भगिनी बहन।

अर्थ—हे सुकन्या ! मैं तो इस बच्चे की माता कहलाने की हेतु मात्र हूँ। सत्य रूप में देखा जाए तो इस सम्पूर्ण विश्व में तुम्हें छोड़कर दूसरी कौन इस अबोध शिशु की माता कहलाने की अधिकारिणी है ? केवल गर्भ धारण कर लेना और (फिर निश्चित समय पर) उसको जन्म दे देना ही मातृत्व नहीं है माता तो असल में वह है जो बच्चे को अपनी छाती से लगाकर पालती है। (भाव यह है कि इस दृष्टि से इस शिशु की माता मैं नहीं वरन् तुम हो क्योंकि मैंने तो केवल इसको जन्म भर दिया है जब कि इसका लालन-पोषण तो तुम ही कर रही हो)। हे सखी करुणामय देवी शरण में आये हुए को शरण देने वाली मंगल तथा कल्याण करने वाली और भगिनी (सुकन्ये)। मैं यह क्या बता सकती हूँ कि अपने वंश से बिछुड़ कर आयु कब तक यहाँ धर्म की शरण में तथा तुम्हारे आँचल की छाया में रहेगा ? लेकिन (इतना तो निश्चित है कि) एक न एक दिन उसे अपने पिता के घर में तो अवश्य ही जाना है। (हाँ यह बात दूसरी है कि वह कब जा सकेगा ? हो सकता है भाग्य की प्रवंचना से) वह आज या कुछ दिन में अथवा यौवन आने पर ही जाए।

अपना कुल पायी हूँ।

शब्दार्थ—तृणवत=तिनके के समान। जनित=उत्पन्न किए गए।

तनय=पुत्र । दयित=स्वामी पति, प्रियतम (पुरूरवा) । क्षिति=धरती । नन्दन-कानन=नन्दन-वन ।

अर्थ—(मातृत्व में विभोर होकर उर्वशी सुकन्या से कहती है—) मैं स्वर्ग सुख (प्रणय-सुख) को तो तिनके के समान नगण्य मानकर किसी भी क्षण यहीं छोड़ सकती हूँ लेकिन इस धरती पर रहते हुए (अपनी आँखों के सामने) मैं (अपने आत्मज पुत्र के लिए) बच्चे के भाग्य को कैसे छोड़ सकती हूँ ? हे सुकन्ये ! इसलिए मेरे द्वारा प्रसूत इस शिशु को जब तुम्हारी इच्छा हो तभी (राज-गृह) भिजवा देना । (यह मैं जानती हूँ कि) जब मेरे स्वामी की दृष्टि इस पर पड़ेगी तब मुझ पर एक वज्र सा टूट पड़ेगा । भरत द्वारा दिया गया शाप गर्जन कर उठेगा और मैं पुतली के समान पराधीन सी होकर इस धरती को छोड़ अचानक खिंची हुई स्वर्गलोक को चली जाऊँगी । फिर अकस्मात् मेरे ये सभी सुख जिनकी लालसा लेकर मैं इस धरती पर उतरी थी और जिनके लिए मैंने नन्दन-वन को भी भुला दिया था छूट जाएँगे ।

यह धरती वसुधा से ।

शब्दार्थ—अटवी=जंगल । प्रसून=फूल । सरित्सलिल=नदी का पानी । शस्य=फसल (अनाज) । निकुञ्जों=झाड़ियों (लताओं) के झुरमुटों । अविनश्वर=शाश्वत अमर । सुरपुर=इन्द्रलोक ।

अर्थ—स्वर्ग में जाने पर मुझे यह पृथ्वी (यहाँ से खड़े होकर दिखाई देने वाला) यह नीलाकाश मृगों से आपूरित हरे भरे जंगल तथा ये (रंग-बिरंगे) फूल बड़े याद आयेंगे । प्रातःकाल उषा की अरुणाभा व सरिता के जल का झलमल-झलमल करना धानों के खेतों पर चन्द्रमा की चाँदी जैसी किरणों का बिखर जाना लता-कुंजों में पक्षियों का कलरव करना भला मुझ स्वर्ग वासिनी को स्वर्ग में कहाँ देखने को मिलेगा इसलिये इस विशाल किन्तु नश्वर मही के शाश्वत सौन्दर्य को मैं, स्वर्गवासिनी श्रद्धा से नत होकर नमस्कार करती हूँ । इस वसुधा पर कितना अनन्त सुख प्रमोद तथा आनन्द है ? इन्द्र लोक का स्वर्गीय आनन्द तो इसकी तुलना में बहुत ही कम है ।

किन मैं जाती है ?

शब्दार्थ—अंकस्थ=अंक में धारण किए हुए । चपल=चंचल । कामिनी

=रात । निस्तब्ध=शान्त । सुदूर=दूर से । क्षितिज=धरती और आकाश का मिलन-स्थल । तृणों=घास ।

अर्थ—दिन में जब ये अचिर पर्वत मोहित करने वाली प्रिय छाया को अपने भीतर आत्मसात कर लेते हैं तब भी वे कितने सुन्दर लगते हैं ? रात्रि के आगमन पर जब आकाश की छाती पर नक्षत्रों का विराट ज्वार-भाटा सा छा जाता है तब वह कितना महान प्रतीत होता है । जब रात काफी घनी हो जाती है उसी समय उन निस्तब्ध क्षणों में कौन सा ऐसा गीत है जिसे अचेतन अंधकार गाया करता है और जब दूर क्षितिज से स्पर्श से हो अमित सुख प्रदान करने वाली वायु आती है तो वह कौन सी ऐसी रहस्यमयी बात है जिसे (हरे-हरे) तृणों पर लिखकर छोड़ जाती है (जिसे वे रह रह कर अपनी संगीतमयी ध्वनि में सुनाते रहते हैं और ओस बिन्दुओं के रूप में करुणाप्लित होकर रोते रहते हैं) ।

विशेष—'पर्वत' और अचल' में पुनरुक्तवदाभास अलंकार है ।

और गन्धमादन इठला कर ।

शब्दार्थ—विटप-तृण=वृक्षों के पत्ते । श्रवण=कान । अटवी=वन जंगल । निनद=निनाद स्वर । ज्वार बाँध=ज्वार-भाटे का रूप धारण करके । तटिनियाँ=सरिताएं । सुदाम=इनाम वाली बिजली ।

प्रसंग—उर्वशी अपने पिछले दिनों की सुखद कल्पना का स्मरण कर रही है तथा दोनों में परस्पर की गई रति-क्रीड़ा का प्रकृति पर क्या प्रभाव पड़ा इसका भी पुनराख्यान कर रही है ।

अर्थ—और मैं पुष्पों से आच्छादित इस गन्धमादन-भवन का क्या वर्णन करूं ? यहाँ के जीव-जन्तुओं की बात तो छोड़िये मुझ तो इसके वृक्षों का एक एक पत्ता तक सजीव (प्राणवान) लगता था । हमारे द्वारा परस्पर किए गए चुम्बन तथा मधुर अठखेलियों से उत्पन्न सूक्ष्म ध्वनियों यह वन वृक्षों के प्रत्येक पत्ते को कान बना मौन धारण कर कितने ध्यान से सुना करता था ? (हमारे आलिंगन से उद्दीप्त होकर) लताएँ तथा शाखाएं हमारा मधुर स्पर्श करने के लिए झुक आती थीं और हिमालय की चोटियाँ ऐसी प्रतीत होती थीं मानो विशाल भुजाएं हों जो उठने में आगे बढ़कर हमें अपने आगोश में ले लेना

चाहती हों। (हमारे मुख तथा नासिका से निकलने वाली उत्तप्त एवं कामासक्त निश्वासों से पीड़ित होकर) कुजों के फूल बेचारे विपर्यस्त हो उठते थे। ऐसा प्रतीत होता था जैसे वे अपनी गन्धपूर्ण श्वासों के द्वारा हम को पी जाएंगे। (हमारी प्रणय-क्रीड़ा से गेंदालित होकर) पहाड़ों की चोटियों पर लहराने वाली हरियाली समुद्र की लहरियों के समान फेन उगल रही थी और वह ज्वार भाटे के समान लग रही थी जो किसी न किसी प्रकार बादलों से मिलने के लिये उत्सुक हो रही थी। (हरियाली की उर्मियां स्त्रीलिंग तथा बादल पुल्लिंग है। स्त्रीलिंग का पुल्लिंग से परिरंभण करने का भावस भाव उर्वशी तथा पुरूरवा के परस्पर लिपट हो जाने के आकुल भाव को वर्णित करता है) और ढलान वाली फिसली-फिसली शिलाओं से टकराकर उछलती हुई बहने वाली सरिताएं हमें देखकर और अधिक इठला कर चलने लगती थी। (भाव यह है कि ये गर्विता नायिका का रूप धारण करके इठला इठला कर यह व्यक्त करने का प्रयत्न करती थी कि तुम्हीं नहीं" मैं भी अपने प्रियतम समुद्र के आलिंगन-पाश में समा जाने के लिए जा रही हूं। तुम्हें तो किसी न किसी क्षण अपने प्रियतम के आलिंगन से अलग होना ही पड़ेगा मगर मुझ सौभाग्यशालिनी को देखो जो एक बार उसकी गोद में समा जाने के पश्चात् कभी उनसे विलग नहीं होती)।

विशेष—(i) उपमा रूपक तथा उत्प्रेक्षा अलंकार।

(ii) स्मरण अलंकार।

(iii) प्रकृति का मानवीकरण।

और हाय ... बनाकर।

शब्दार्थ—निर्झरी=छोटा झरना (स्त्री०)। सुकृत=अच्छे कर्म।

अर्थ—और हाय! (मैंने एक निर्झरिणी को देखा था। उसको याद भला मैं कैसे भूल सकूंगी? अच्छे कर्मों से प्रेरित हुई सी एक निर्झरिणी पेड़ों की छाया में बहती हुई कितनी भोली लग रही थी। ऐसा लगता था जैसे वह जिस किसी पवित्र उद्गम-स्रोत से निकल कर आ रही है वहीं कहीं उसके प्रियतम कुटिया बना कर रहते होंग (जिनके साथ वह अभी न

करके आ रही है और अब उस प्रेम का स्मरण मात्र करने से द्रवित हो रही है।)

विशेष—(i) उदाहरण तथा स्मरण अलंकार।
(ii) प्रकृति का मानवीकरण।

आह! 　　छिपाकर।

शब्दार्थ—अलभ्य=अप्राप्य। मदिर=मस्त। घ्राण=सूंघने की शक्ति। विषद=विस्तृत। उरदेश=वक्ष। लक्षण=चिन्ह। रभस=मिलन। अमल=निरन्तर। शर्वरी=रात। मुखदेश=मुख।

अर्थ—अलमादन का यह सुख और प्रियतम की गोद—सब मुझे याद आ रहे हैं। वह मस्त आनन्द जो स्वर्ग में भी अप्राप्य है उसका मैंने इस रसमयी पृथ्वी पर जी भर कर पान किया है। नासारन्ध्रों में जो सुगन्धि तथा शक्ति नयनों में जो सौन्दर्य व्याप्त हो गया है त्वचा में कपोलों में तथा उंगली की पोरों में स्पर्श के सुख की जो पुलकित कर देने वाली सनसनी समा गई है उसे क्या कभी पवित्र एवं विस्तृत गगा का जल धो पायेगा? कल्पवृक्ष के नीचे ध्यान में जगी हुई मैं अपने वक्ष पर प्रियतम के वक्षस्थल के सुखद चिन्हों को तथा रोमांचित हुई सारी देह पर मिलने चुम्बनों को ढूंढूंगी। और प्रियतम के साथ की गई उन सुन्दर रसकेलियों को क्या मैं कभी भूला सकती हूं? मेरे सारे अंगों से प्रियतम का सदा ठिठोली कर तथा खेलते रहना और प्रेमरस में निमग्न नयनों से सारी रात मस्ती में बिता देना कभी मुझे अपने आकुल एवं स्निग्ध हृदय से लगा लेना और कभी बालकों की तरह मेरी गोद में अपना मुंह छिपा लेना—(ये सब क्या कभी मुझे भूल सकेंगे?)

तब फिर 　　जाते हैं।

शब्दार्थ—आलोड़न=उमड़ना। निगूढ़=गहन। बेकली=बेचनी। विसम=लीन। अन्तराल=हृदय। विमुख=बेसुध।

अर्थ—और फिर दो आत्माओं की ध्वनियों का गहन संघर्ष एक को दूसरे में लीन कर देने की उनकी वह बेचैनी, खून का [illegible] तूफान, हड्डियों में चिनगारी का उठना और त्वचा का पुलकित होकर स्वयं प्रकाशित हो उठना मानो शरीर

के अन्धकार की पर्तें एक-एक कर नष्ट होती जा रही हों। मन का किसी आकाश के अन्तर में किसी महासागर में डूब कर निश्चल समाधि के सुख में खो जाना आदि मेरे विगत प्रेम की स्मृतियाँ कितनी विकल कर देने वाली हैं। सुकन्ये ! धरती का यह प्रभापूर्ण प्रेम कितना दिव्य है, कितना गहरा है? अपनी उत्तेजना की धारा में बेसुध होकर स्वयं तैरते हुए न जाने हम किस अद्भुत लोक में पहुँच जाते हैं।

यह प्रदीप्त जाता है।

शब्दार्थ—मर्त्य-जगती=मरण-धर्मा पृथ्वी। वातायन=झरोखा खिड़की। प्रणय-वह्नि=प्रेम की आग। पाषाण=पत्थर।

अर्थ—(धरती का) यह आलोकित आनन्द भला इन्द्रलोक की शीतल प्रशान्त प्रकृति में कहाँ सम्भव है? पारिजात के पुष्पों में (काम की) आग ढूँढने से भी नहीं मिलती। यह तो मर्त्यलोक ही है जहाँ पर स्वर्ग के सुख के अन्धकार में भी आलोकवान झरोखे खुल पड़ते हैं। शान्त हृदय में प्रेम की आग उसी प्रकार जलने लगती है जैसे सोया हुआ पत्थर जाग कर हीरा बन जाता है।

किन्तु मेरे वारे।

शब्दार्थ—अमेय=अपरिमित। निर्जर=बुढ़ापे से रहित। अमर्त्य=अमर। पीयूषमयी=अमृतमयी। अदूर=निकट समीप। दाव=दाँव। आकस्मिक=सहसा आने वाले।

अर्थ—किन्तु दुःख है कि इन अतुल अपरिमेय सुखों की नश्वरता को अमरता में बदलकर भोगना मेरे लिए भी कठिन है। यद्यपि मैं जराहीन स्वर्गिक अमर एवं अमृतमयी अप्सरा हूँ। भरत का शाप न जाने मेरे कितने समीप एक ही आकस्मिक झटके में पृथ्वी से मेरा सुखमय सम्बन्ध छिन्न कर देने के लिए दाँव लगाए बैठा है।

जो भी जाने है।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—हे सखि! चाहे मैं कुछ भी क्यों न करूँ पर वह दिन तो अब आने ही वाला है जब मेरा सारा सौभाग्य एक ही क्षण में छिन जाएगा। मैं

पृथ्वी के सारे सुखों को छोड़कर यहाँ से उसी प्रकार उड़कर चली जाऊँगी जिस प्रकार आत्मा शरीर को छोड़ अम्बर में उड़ जाती है और अंत में मुझ शापित अभागिनी नारी को न तो प्राणों से प्रिय पुत्र ही मिल सकेंगे और न ही फिर मेरा प्रियतम से मधुर मिलन हो सकेगा।

चित्रलेखा

मरण शाप' रही हो।

शब्दार्थ—दुस्सह=असहनीय। दुरन्त=भयंकर। छागी=बकरी। खर=तीक्ष्ण। छुरिका=छुरी।

प्रसंग—मरण के शाप की दुस्सह कल्पना से चित्रलेखा के हृदय में उर्वशी के प्रति भयजन्य कारुण्य की लहर दौड़ जाती है और वह उर्वशी के दुर्लक्षित भाग्य के प्रति शोक प्रकट करती है।

अर्थ—प्रिय सखी! मरण का असहनीय भयाक्रान्त अभिशाप कितना दुःखदायी एवं कटु है। प्रत्येक क्षण इसके भय को उस बकरी की तरह आखिर तुम कब तक सहती जाओगी जिसकी भय से निरन्तर रूप से काँपती हुई गरदन पर यमराज की जीभ के समान तीक्ष्ण छुरी झूल रही हो।

सिन्धु को करती हैं।

शब्दार्थ—सुरपुर=इन्द्रपुरी।

अर्थ—'आयु' को किसी तरह अपने प्रियतम पुरूरवा के राजमहल में पहुँचा कर तुम आज ही रात को यदि इन्द्रपुरी लौट चलो तो अधिक श्रेयस्कर है। ठीक है कि शाप से छूटने का कोई उपाय नहीं है किन्तु ऐसा करने से तुम उसके भय की व्याकुलता से तो बच जाओगी और फिर अप्सराएं अपनी सन्तानों का पालन करती ही कब हैं?

विशेष— और अप्सरा संततियों का पालन कब करती हैं? — पुराणों में निम्नलिखित कथाएं देखिए—शुकदेव का जन्म घृताची से मत्स्यगन्धा का जन्म उपरिचर और अद्रिका से अष्टावक्र का जन्म विश्वावसु मुनि और मेनका से। राजा शान्तनु और पूर्वचित्ति मुनीश्वर कण्व और प्रम्लोचा तथा मेनका और विश्वामित्र की कथाएं भी। गंगा ने भी अपने आठ पुत्रों से

किसी का पालन नहीं किया। हाँ मेनका एक ऐसी अप्सरा अवश्य है जिसके भीतर मातृत्व कुछ अधिक सजीव था। दुष्यन्त के यहाँ जब शकुन्तला निकाल दी गई तब सहसा मेनका आकर उसे उठा ले गई, ऐसा साक्ष्य कालिदास की कल्पना देती है।'

— उर्वशी-परिशिष्ट १९८

उर्वशी

यों बोलो ... नहीं है।

शब्दार्थ—वातायन=खिड़की झरोखा। स्वरस=सुरस। पगावी=छिटकिरती। अनागत=भविष्य।

प्रसंग—चित्रलेखा के यह कहने पर कि उर्वशी शाप के भय से बचने के लिए पृथ्वी से पलायन कर स्वर्ग को लौट जाय तो अच्छा है उर्वशी पृथ्वी के दुःख-सुख के समन्वित एवं शाश्वत नियम की ओर उसका ध्यान आकृष्ट किया चाहती है। यहाँ (धरती पर) अमृत और मरण फूल और काँटे दुःख तथा सुख सबका एक साथ वरण करना पड़ता है। अतः अनागत दुःखों की आशंका से भयभीत होकर उर्वशी भागना नहीं चाहती।

अर्थ—हे सखी! ऐसा मत कहो। पृथ्वी के अपने अलग नियम हैं। यहाँ जिस जगह सुख होता है उसी जगह दुःख भी झरोखे से झाँका करता है। जहाँ मनुष्य को मधुमय रस का पूर्ण स्वाद मिलता है वहाँ पास की खाई में छिपकर बैठी हुई मृत्यु अपना ध्यान लगाए दाँत पीसती रहती है। यहाँ जो भी अमृत का पान करना चाहता है उसे एक हाथ रस के घड़े पर और दूसरा मौत की गरदन पर रखना पड़ता है। (जब इस धरती का नियम ही ऐसा है) तो फिर मैं ही भविष्य के भय से भयभीत होकर इस धरा को क्यों छोड़ दूँ। अतः प्रिय पुत्र आयु यहीं रहेगा। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग इसका नहीं है।

सुकन्या

चिर! ... पालूँ मो।

शब्दार्थ—निरीह=भोला। पयमुख=दुधमुँहा। निरापद=आपत्ति-

रहित । कुलपाली=कुल को पालने वाली । विमातृजन=विमाता । वामा=स्त्री ।

अर्थ—चित्रलेखे ! उर्वशी ठीक कहती है इस भोले तथा दुधमुँहे आयु को अभी से राजभवन भेज देना आपत्तिहीन नहीं होगा । रानी चाहे कितनी भी उदार कुल का पालने वाली तथा दयावती क्यों न हों हम स्त्रियाँ विमाताओं का विश्वास नहीं किया करती हैं । उर्वशी तुम 'आयु' को मुझे दो । इसका पालन-पोषण मैं करूँगी ।

(उर्वशी की गोद से आयु को ले लेती है और उसे पुचकारते हुए बोलती जाती है) ।

यह आश्रम' 'नहीं है ।

शब्दार्थ—इन्दु=चन्द्रमा । बैहे=पंख । कपोत-केकी=कबूतर और मोर । रार=झगड़ा । रोपेगा=करेगा । शशकों=खरगोशों । खंजन=नाम पक्षी । कुरंग-छौनों=हिरन के बच्चों । होम-धेनु=यज्ञ की गाएं । गोचर-अनुकूल=प्रदेश चराने योग्य । समिधा=यज्ञ की सामग्री । शस्त्र शास्त्र-निष्णात=शस्त्र तथा शास्त्रों में प्रवीण । कैशोर=यौवन । पीयूष=अमृत । मृण्मयी=मिट्टी वाली ।

अर्थ—हे सखी ! यह तुम्हारा पुत्र आयु इस आश्रम की ज्योति है इस पर्णकुटी का नन्हा सा चन्द्रमा है और हमारी आँखों का तारा है ।

यह मेरा मुन्ना घुटनों के बल दौड़-दौड़ कर कभी हरिण के कानों को पकड़ेगा और कभी कबूतर एवं मोर के पंखों को ।

जब यह खड़ा होकर चलने लगेगा तो सुन्दर खरगोशों गिलहरियों मृग-शावकों तथा वाम-मृगों के साथ हठपूर्वक झगड़े करेगा ।

फिर कुछ दिन में और तनिक बड़ा होकर यह यज्ञ की गायों को लेकर गौओं के चरने योग्य जंगल में प्रतिदिन जाया करेगा ।

और साँझ के समय उन्हें चराकर सिर पर छोटा सा कुशा दाम तथा समिधा का गट्ठा लेकर लौट आएगा ।

फिर पवित्र होकर महर्षि च्यवन के साथ यज्ञ की वेदी पर बैठकर हमारा यह लाल मन्त्रोच्चारण कर हवन किया करेगा ।

रुदन के धुएं से जब उसकी आंखों में आंसू उमड़ आएंगी तब मैं अपने आंचल से उसके दोनों नयन पोंछ दूंगी।

अस्त्र और शास्त्रों के प्रयोग में प्रवीण शरीर से बलिष्ठ मन से प्रगल्भ युक्त जब यह अपना पुत्र यौवन को प्राप्त कर लेगा तब मैं इसे स्वयं राज-भवन में पहुंचा आऊंगी।

तब तक तुम (उर्वशी) जाकर मर्त्य धरती के अमृत का निर्विघ्न तथा सन्देह रहित होकर पान करो। आयु को अब किसी प्रकार का भी भय नहीं रह गया है।

उर्वशी

तो मैं जा रही हूं ?

सुकन्या

कहां जा रही हो ? क्या तुम प्रिय के आलिंगन पाश में बंधने के लिए तो नहीं जा रही हो।

उर्वशी

उस दारुण विपद में।

शब्दार्थ—विकल्प=विचार। दारुण=भयंकर।

अर्थ—राजा के आलिंगन-पाश में तो अब केवल शरीर ही बंधने को शेष रह गया है क्योंकि मेरे प्राण तो आयु के ही जीवन से लिपटे हैं जिन्हें मैं यहीं तुम्हारे घर छोड़कर जा रही हूं। मैं पुत्रों और पति—दोनों को नहीं अपितु इनमें से केवल एक को ही प्राप्त कर सकती हूं। भरत का यह शाप वास्तव में बड़ा भयंकर है। इसकी कल्पना-मात्र ही भयंकर एवं असहनीय है। आगे से किसी का भाग्य किसी को भी ऐसी घोर विपत्ति में न डाले।

(उर्वशी और चित्रलेखा का प्रस्थान)

पञ्चम अंक

स्थान—पुरूरवा का राजप्रासाद (पुरूरवा उर्वशी महामात्य राजपण्डित राजज्योतिषी अन्य सभासद परिचारक और परिचारिकाएं यथास्थान बैठे या खड़े। राजा की मुद्रा अत्यंत चिन्ताग्रस्त। प्रारम्भ में कई क्षणों तक कोई कुछ नहीं बोलता।)

महामात्य

देव ! क्षमा   पाने वाली है ?

शब्दार्थ—कुतुक=कौतुक तमाशा, उत्सुकता। महामह=महान महिमा से युक्त। मूक=चुपचाप। विषण्ण=दुःखी। अचल=स्थिर शान्त। मधुरोर=सुख देने वाला संसार। निस्पन्द=स्पन्दन रहित। सन्न=हतप्रभ हैरान।

प्रसंग—पुरूरवा के राजमहल में दरबार लगा हुआ है। पुरूरवा उर्वशी महामात्य राज-पण्डित राज-ज्योतिषी अन्य सभासद तथा परिचारक और परिचारिकाएँ यथास्थान बैठे या खड़े हुए हैं। राजा की मुद्रा अत्यन्त चिन्ताग्रस्त है। प्रारम्भ में कई क्षणों तक कोई कुछ नहीं बोलता। अन्त में महामात्य ही राजा से चिन्ता का कारण पूछते हुए कहते हैं—

अर्थ—हे देव ! आज मेरे चित्त में एक जिज्ञासा आयी है जिसके लिए आप मुझे क्षमा करें। आज मैं अपने महामहिम राजा के विशाल नेत्रों में किसी नवीन चिन्ता को उमड़ते हुए देख रहा हूँ। महाराज जब से (दरबार में) आए हैं तब से कुछ चुप दुःखी तथा अचल दृश्यमान हो रहे हैं। यह महासिन्धु सुख देने वाले मधुर स्वर को रोक कर अपनी लहरों को निस्पन्द किए इस प्रकार अपने में क्यों डूब रहा है। (भाव यह है कि आप महासिन्धु के समान हैं। आपके चित्त में आनन्द की हिलोरें मधुर गुंजन किया करती थीं। वे आज शान्त हो गई हैं तथा आप अपने में ही डूब जाना चाहते हो)। यह दृश्य देखकर सम्पूर्ण सभा हतप्रभ है। (कृपया हमें बताइए कि) कौन ऐसी भयंकर आपदा है जो हम पर आना चाहती है।

विशेष—'समुद्र का अपने में डूब जाना' बड़ी भयंकर आपदा का

सूचक है क्योंकि यह वैज्ञानिक सत्य है कि जब कभी समुद्र लहरों को अपने अन्तर में समेट कर शान्त हो जाता है तब यह समझना चाहिए कि निकट भविष्य में समुद्र के अन्दर महाप्रलय आने वाली है। इस प्रकार कवि ने अंक के प्रारम्भ में ही आने वाली किसी घोर विपत्ति की पाठकों को सूचना दे दी।

पुरूरवा
कुशल करें ... देखा है।

शब्दार्थ—अर्यमा=सूर्य। मरुद्गण=देवता। व्योम-मण्डल=आकाश लोक। अभिषुत=निकाले हुए। सोम=रस। भुवन=लोक संसार। आहुनीय=आहुति देने योग्य। अनल=अग्नि। अभीष्ट-वर्षी=इच्छित वर्षा करने वाले। मघवा=इन्द्र।

प्रसंग—दुःख का पहाड़ टूटने से पूर्व राजा पुरूरवा राष्ट्र की मंगलकामना के लिए सभी देवताओं से करबद्ध याचना करता है—

अर्थ—सूर्य देवता हमारा कल्याण करें। देवता आकाश-लोक से उतर कर निचोड़े हुए सोमरस का पान करने के लिए हमारी धरती पर आते रहें। अर्थात् हमारी धरती इतनी रसमयी हो कि देवता यहां पर रीझ-रीझ कर आएं। वरुण देवता यज्ञ में आहुति देने योग्य अग्नि को सदा प्रज्वलित रखें और इच्छित वर्षा करने वाले इन्द्र की हम प्राणियों पर सदा करुणा-दृष्टि रहे। (यह मंगलकामना करते हुए अब मैं अपनी चिन्ता का कारण बताता हूं।) हे सभासदो! कल रात को मैंने एक विचित्र स्वप्न देखा है।

विशेष—(i) अपनी गहन चिन्ता में देवताओं से राष्ट्र की मंगल-कामना करना एक आदर्श राजा की पहचान है जिसे कवि ने यहां उपस्थित करने का प्रयत्न किया है।

(ii) 'अर्यमा' मरुद्गण' 'अभिषुत' तथा 'आहुनीय' जैसे शुद्ध तत्सम शब्द, जो हिन्दी भाषा में चले नहीं हैं कठिन प्रतीत होते हैं। ऐसे दुरूह शब्दों का मोह काव्य के सहज प्रवाह तथा साधारणीकरण में बाधक होता है। अतः इनका यथासम्भव त्याजन ही श्रेयस्कर है।

स्वप्न !

समासद

पुरूरवा

स्वप्न ही   जागृति है ?

शब्दार्थ—धाम = प्रकाश । छमना = धोखा । मुद्रित = अंकित । निद्रित = ..या हुआ ।

अर्थ—हे सभासदो ! तुम चाहो तो उसे स्वप्न कह सकते हो यद्यपि मेरे आभ्यन्तर चक्षुओं के सामने अब भी वे दृश्य ज्यों के त्यों घूम रहे हैं । जैसे सुषुप्ति और जागरण क्षितिज के धूमिल प्रकाश में मैंने उन्हें सत्य केवल सुस्पष्ट तथा स्वच्छ रूप में देखा था (वैसे ही चित्र अब मेरी आंखों के सामने नाच रहे हैं) ।

(रात्रि को जो स्वप्न देखा था) उसकी कथा बड़ी विस्मयकारी है । (मैं नहीं जानता कि) वह मानस की छलना थी या मेरे भविष्य के अंकित पृष्ठ, जिनका आगे चलकर उद्घाटन होने वाला है उनको मैं रात्रि को सोते समय भविष्य में जाकर देख आया हूं ।

यह कौन बता सकता है कि रात्रि को मैंने जो स्वप्न देखा था वह ारहीन है या जो कुछ मैं अब देख रहा हूं वह स्वप्न है ? मैं नहीं जानता कि रे लिए यह जागरण स्वप्न है या स्वप्न जागृति है (परन्तु यह रहस्य तो वेष्य के मुद्रित अंक ही खोलेंगे) ।

विशेष—(i) सन्देह अलंकार ।

(ii) अन्तिम तीन पंक्तियों में पुरूरवा के हृदय का अन्तर्द्वन्द्व बड़े सजीव रूप में अंकित हुआ है ।

महामात्य

बड़ी विस्मयक   आर्येय ।

शब्दार्थ—बिमा = मिटाना । उन्मीलित = खुली । दुश्चिन्त्य = बुरी चिन्ताओं से भरा । अभिज्ञान = परिचमी कुमार ।

अर्थ—अद्भुत बात है । स्वामी आपने ऐसा क्या कुछ देख लिया है जिसके कारण स्वप्न और जागृति की दूरी कम हो रही है, तथा वर्तमान पर

भविष्य की परछाई पड़ रही है। भविष्य की बन्द हुई पोथी के पृष्ठ मुझे से उभर आ रहे हैं अर्थात् जिससे भविष्य कुछ स्पष्ट सा हो रहा है। हे स्वामी! दया करके आप मुझे बतायें कि दुश्चिन्ताओं से युक्त वह क्या सुषमा था। दो अश्विनीकुमारों की कृपा से जो भी विघ्न होंगे दूर हो जायेंगे।

विशेष—दो वैदिक देवता। ये सूर्य के औरस पुत्र माने जाते हैं। इनकी माता एक अप्सरा थी जिसने अश्विनी का रूप धारण कर लिया था। यह देख सूर्य ने भी अश्व का रूप धारण कर लिया। उनके सहवास से जिन युगल कुमारों की उत्पत्ति हुई वे अश्विनीकुमार कहलाये। ये चिरयुवा चिरकुमार दिव्य तेज युक्त, लोकोपकारक एवं देव चिकित्सक थे। ये ऊषा के पूर्व हिरण्मय रथ पर आरूढ़ होकर आकाश में विचरण करते हैं। सम्भवतः इसी आधार पर सूर्य के पुत्र के रूप में कल्पित कर लिये गये हैं। निरुक्तकार इन्हें 'स्वर्ग तथा पृथ्वी' और दिन तथा रात्रि का प्रतीक मानते हैं। पौराणिक कथाओं के आधार पर नकुल तथा सहदेव की उत्पत्ति इन्हीं के अंश से मानी जाती है। इन्होंने अति वृद्ध च्यवन ऋषि को चिर-यौवन प्रदान किया था जिसके फलस्वरूप च्यवन ने इंद्र से कहकर इन्हें देवताओं का यज्ञ-भाग दिलवाया था जिससे चिकित्सक होने के कारण अश्विनीकुमार वंचित रहते थे।

—हिन्दी कथा कोष पृष्ठ १०

पुरूरवा

कौन ... निकालेगा।

शब्दार्थ—बद्ध=बँधा हुआ। ऋत=प्रकृति के वे नियम जिनसे सृष्टि की सम्पूर्ण प्रक्रिया गतिमान होती है। प्रारब्ध=भाग्य नियति। सौम्य=सुन्दर, उदार।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण में पुरूरवा प्रकृति के शाश्वत नियमों की ओर संकेत करते हैं और भावी को प्रबल बताते हैं।

अर्थ—महामात्य! कौन से विघ्न की कथा कैसे विघ्न का बात आप कह रहे हैं। जो कुछ भी होता है अथवा होने वाला है सब ऋत नियमों के अमर धागों में दृढ़ता से बँधा है। ...

प्रकार जैसा भी चाहो कह सकते हो। जो बीज यहां गिरा है वह अवश्य ही वृक्ष बनकर उगेगा।

किन्तु ... आता है।

शब्दार्थ—गर्त=गड्ढा। गह्वर=गुफा। प्रदीप्त=तेज युक्त।

अर्थ—लेकिन मैं किसी प्रकार भी इन नियमों के बन्धनों से भयभीत नहीं हूं गहनतम धरा के अन्तराल में गम्भीर गुफा में भी यदि मुझे जाना पड़े तो मैं उसी प्रकार तेजयुक्त होकर चमकूंगा जिस प्रकार अन्तरिक्ष के विभिन्न लोकों में मैं अनेक बार घूम चुका हूं। मेरा यह मौन धारण करना भय का प्रतीक नहीं है अपितु मैं तो यह विचार कर रहा हूं कि अब की बार मेरा भविष्य कौनसा वेष धारण कर आवेगा।

महामात्य

महाराज ... पृथ्वी पर ?

शब्दार्थ—संकल्प=निश्चय इरादा। प्रसाद=कृपा। व्योम=नभ।

अर्थ—वस्तुतः महाराज आपका मन बलशाली है आपका अन्तर दृढ़ एवं दृढ़ निश्चयों से आपूरित है। जिस (पुरूरवा) की बाहों की कृपा से देवता निश्चिन्त रहते हैं उस अजेय के लिये आकाश अथवा पृथ्वी में कहीं भी भय नहीं है।

प्रभु ... रहते हैं।

शब्दार्थ—अभीक=निडर। निरम्प्य=स्थित।

अर्थ—हे स्वामी ! आप भय से मुक्त ही रहें किन्तु फिर भी मेरी यह जानने की जिज्ञासा है कि वह स्वप्न क्या था जिसकी याद अब तक आपके प्राणों में घर किये बैठी है।

मन के चंचल लेख (कार्य-कलाप) निद्रा के सपने चित्रपट पर बालू की रेखा के समान बनते बिगड़ते रहते हैं।

विशेष—दिवस के समय अथवा जागृतावस्था में मन में आये विचार ही सपनों में आते-जाते रहते हैं ऐसा विचार सभी मनोविज्ञानवेत्ताओं का है।

पुरूरवा

देखा ... आतरता से।

शब्दार्थ—मध्य=मध्य। वट-पादप=बड़ का पेड़।

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियों में पुरूरवा अपना स्वप्न का वर्णन करते हैं।

अर्थ—मैंने स्वप्न में देखा कि सारे प्रतिष्ठानपुर में कुछ कोलाहल छाया हुआ है। लोग कहीं से एक नवीन अश्वत्थ का वृक्ष ले आये हैं और उसे यहीं बाहर के आँगन में रोपकर (लगाकर) बड़े चाव से तथा जिज्ञासा से प्रपीड़ित व्यग्रता से सींच रहे हैं।

म भी   नहीं हो।

शब्दार्थ—क्षीरघट=दूध का घड़ा। उत्कंठित=उत्सुक। बिरवा=पौधा। नागर=नगर-निवासी। नवागत=नवागन्तुक। सौरमंडल=सूर्य-मंडल।

अर्थ—फिर मैंने (सपने में) देखा जैसे मैं भी दूध का एक घड़ा हाथ में लिए उत्सुक होकर वहीं आ गया हूँ और उस नवीन तरु-वृक्ष को दूध से सींचकर वहीं खड़ा हो गया हूँ। लेकिन मेरी ओर कोई भी नगर-निवासी दृष्टि नहीं दे रहा है मानो मैं किसी अन्य सूर्यमंडल से आया हुआ नवागन्तुक जीव हूँ जिससे उन नगर-निवासियों को कोई जान-पहचान नहीं है।

तब देखा   गया है।

शब्दार्थ—मदमत्त=मद से मस्त। वरिष्ठ=हृष्ट-पुष्ट।

अर्थ—तभी मैंने यह भी देखा कि मैं एक मदमस्त वरिष्ठ हाथी पर बैठा हुआ प्रतिष्ठानपुर से बाहर किसी जंगल में पहुँच गया हूँ। किन्तु ज्योंही मैं उस जंगल में हाथी की पीठ से नीचे उतर कर देखता हूँ तो मुझे सब सूना नजर आता है और मुझे वहीं छोड़कर चोरी से मत्त हाथी भी कहीं गायब हो गया है।

एकाकी   धारा सी।

शब्दार्थ—एकाकी=अकेला। निःसंग=संग रहित एकाकी। निर्जन=सूना। वधूसरा=नदी का नाम। दृगम्बु-धारा=आँसुओं की धारा। पुलोमा=महर्षि भृगु की स्त्री तथा च्यवन की माता।

अर्थ—ऐसी साथी हीन अकेला मैं सुनसान जंगल में भटकता हुआ उस स्थान पर आ पहुँचा जहाँ च्यवन ऋषि के आश्रम के पास से वधूसरा नदी पुलोमा की आँखों के आँसुओं की धारा सी बहती है।

विशेष—दैत्य द्वारा पीड़ित होने पर 'अपुलरा' पुलोमा के आँसुओं से निकली थी। 'पुलोमा' महर्षि भृगु की स्त्री तथा च्यवन की माता थी। यह वैश्वानर की कन्या थी।

उर्वशी

च्यवनाश्रम! ... जल दे।

शब्दार्थ—हन्त=मारी गई।

अर्थ—(क्या कहा!) च्यवनाश्रम! हाय मारी गई! हे अपाले! मुझे एक घूँट भर जल दे दे।

(अपाला घबरा कर पानी देती है।
उर्वशी पानी पीती है।)

पुरूरवा

देवि! आप ... लगता था।

शब्दार्थ—तरु=पेड़। वसन=कपड़े। कृष्णसार मृग=काली धारियों वाले हिरण। अभय=निडर। वीथि-वृन्दों=लताओं के बीच में बने रास्तों। मेघमन्द्र=बादल के गर्जन के (समान)। घट=घड़ा। प्रत्यंचा=धनुष की डोरी। सुभव्य=गरिमामय।

अर्थ—देवि! आप सहम क्यों गई? मैं सत्य कह रहा हूँ वह च्यवनाश्रम ही था। च्यवन ऋषि वृक्ष के ऊपर से अपने सूखे हुए वस्त्र उतार रहे थे। श्याम वर्ण की धारियों वाले हिरण कुञ्जों के बीच बनी पगडंडियों में निडर होकर विचरण कर रहे थे। मोर तट पर खड़े होकर बादल की गर्जन के समान घड़ों को भरने की घुम घुम ध्वनि को कान लगा कर सुन रहे थे और पास ही एक दिव्य बालक अपनी वीर भुजाओं में धनुष को धारण कर प्रशान्त मन से प्रत्यंचा को माँज रहा था। हाय उर्वशी! वह बालक मुझे कितना गरिमाशाली लग रहा था इसका मैं क्या बखान करूँ? (अर्थात् वाणी से उसकी सुभव्यता का वर्णन नहीं हो सकता)।

विशेष—(i) तपोवन के सात्विक वातावरण का सजीव चित्रण।
(ii) 'उपमा' अलंकार।

उर्वशी

दुर्विपाक ... पड़ेगा।

शब्दार्थ—दुर्विपाक=कुफल दुष्परिणाम।

अर्थ—हाय ! यह कैसा दुष्परिणाम है ! कितनी दुर्भाग्य की बात है ! हे भगवान् ! ला थोड़ा सा जल और दे। मेरे प्राणों में (रहस्य की जो) ज्वाला भड़क उठी है वह कण्ठ में आकर अटक गई है। (अर्थात् भरत शाप की घटना जो अनन्त काल से मेरे प्राणों में सोई पड़ी थी, वह आज इस स्वप्न को सुनकर पुनः एक प्रज्ज्वलित ज्वाला के समान जाग उठी है मगर दुर्भाग्य की बात है कि मैं इसे अपने प्रियतम को बता भी तो नहीं सकती)। मुझे ऐसा लगता है जैसे आज सम्पूर्ण आकाश में महाप्रलय का नृत्य होगा।

विशेष—(i) उर्वशी के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का चरम विकास।

(ii) 'ज्वाला' शब्द का सुन्दर लाक्षणिक प्रयोग।

(पानी पीती है।)

पुरूरवा

देवि ! ... रहा था।

शब्दार्थ—अकारण=बिना किसी कारण के। भीत=डरी हुई। विध्वंस=नाश। स्यंदन=रथ। प्रताप=ताप' तेज।

अर्थ—हे देवि ! आप बिना किसी ठोस कारण के स्वप्न से भी क्यों डर रही हो ? जब मैं तुम्हारे साथ हूँ तो भला विध्वंस की क्या मजाल जो हमारे पास भी फटक जाय। क्या तुम भूल गई कि मेरा रथ आकाश में भी अबाध गति से उड़ता है। (अतः घबराने की आवश्यकता नहीं धरती और आकाश में कहीं पर भी प्रलय के आसार देखूं या कहीं तुम्हारी बातों के समस्त शत्रुओं में त्राहि त्राहि मचा दूंगा। इसलिए घबराओ मत !) मैं तो केवल ऋषिकुमार के तेज का वर्णन कर रहा था।

उर रचा ... सिमटा हो।

शब्दार्थ—उर रचा=भुजाएं। परिपुष्ट=ठोस। मध्य=कमर। कृश=पतली। पृथुल=मोटी। प्रमत्त=मटकती हुई। उन्नत=ऊँचे उठ

अर्थ—शान्त हो जाइए। सिद्ध, दैवज्ञ ज्योतिषी विश्वमना हिसाब-किताब में लगे हुए हैं। देखें वे स्वप्न का क्या फल बतलाते हैं।

विश्वमना

हाय इसी नहीं है।

शब्दार्थ—निमित्त=हेतु लिये। गिरा=वाणी। मृषा=झूठ। विमूढ़ =मूर्ख।

अर्थ—(गणना करने के पश्चात् ज्योतिषी विश्वमना कहते हैं—) हाय क्या मैं यही दिन देखने के लिये जीवित बचा था? महाराज! यदि गणना के आधार पर मैं सत्य कहता हूँ तो मेरा कहा हुआ झूठ सिद्ध होता है और यदि झूठ कहता हूँ तो मन में यह विचार आता है कि आखिर सत्य बोलकर अब तक मैं जो मान पाता आया हूँ वह क्या मृषा बोलकर पा लेता? अतः हे देव! मुझ मूर्ख को आज मौन ही रहने दो क्योंकि गणना के आधार पर जो कुछ मुझे दीख रहा है उसका मेरे सामने कोई भी आधार नहीं है।

विशेष—काव्य में नाटकीय उत्सुकता पैदा करने के लिये मूल बात को छिपा कर उसके लिये पाठक में उत्सुकता पैदा करना।

पुरूरवा

छिपाता है कौन कहेगा?

शब्दार्थ—प्रहेलिका=पहेली। उत्कण्ठा=जिज्ञासा।

अर्थ—(विश्वमना की बात से उत्कंठित एवं उद्विग्न हुए पुरूरवा कहते हैं—) किसका आधार गुप्त है? गणित का क्या फल है? (जल्दी बताइये करना) यह पहेली चित्त में और अधिक व्यग्रता उत्पन्न कर रही है। आपको जो कुछ भी कहना है सो निस्संकोच होकर कहिए। चाहे गणित झूठ हो मगर आपको कोई भी झूठा नहीं कहेगा।

विश्वमना

वरण करें पहना कर।

शब्दार्थ—प्रव्रज्या-पीठ=संन्यास-पीठ। किरीट=मुकुट।

अर्थ—हे अभिदेव! मेरा कल्याण करें! क्षमा महाराज! मैं सच सच कहता हूँ ध्यानपूर्वक सुनिये। आपकी जन्म-कुण्डली में जो अमिट संन्यास

योग पड़ा हुआ है वह आज ही अपना फल दिखाएगा । क्योंकि आपकी प्राण दशा में शनि ने प्रवेश किया है और सूक्ष्म में मंगल ग्रह पड़ा हुआ है । इसके अतिरिक्त जन्म-कुण्डली में जो अन्य योग हैं उनके अनुसार आप अपने वीर बेटे को राज पाट धन धाम और अपना मुकुट सौंप कर आज सन्ध्या तक प्रव्रजित हो जाएँगे ।

पर विस्मय सुखकर है ।

शब्दार्थ—अयश=वाच्य (आधार) रहित । अपकीर्ति=अपयश ।

अर्थ—लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि वह (अधिकारी) पुत्र आपके यहाँ कब पैदा हुआ है ? (विवश होकर) चलो अच्छा है मगर मेरे मुख पर कालिख पुत जाय । लोग कहेंगे कि वृद्ध हो जाने पर चित्रलेखा की विद्या मर गयी (मगर) आज वाली इस आधार-रहित विपदा से तो मेरे लिये यह अपयश कहीं ज्यादा सुखकर है ।(भाव यह है कि मेरा अपमान तो व्यक्तिगत है इससे अन्य किसी पर असर नहीं पड़ता लेकिन राजा के प्रव्रजित हो जाने पर तो सारे नागरिकों पर दुःख का पहाड़ टूट पड़ेगा । अब भगवान मेरी कही हुई बात को झूठ कर दे जिससे प्रजा तो सुख से रहे) ।

उर्वशी

आह ! क्रूर नहीं है ।

शब्दार्थ—सरल है ।

अर्थ—आह ! (भरत के) भयंकर शाप ! तुम्हारी ज्वाला बहुत प्रबल है । अरी पिपासे ! मैं इसमें जली जा रही हूँ । जल्दी से मुझे थोड़ा सा पानी दे । हे महाराज ! (मैंने इस शाप का रहस्योद्घाटन आपके सम्मुख नहीं किया । मुझे क्षमा करें क्योंकि) मुझ किस्मत की मारी का इसमें कोई दोष नहीं है ।

(पानी पीती है । दाह अनुभूत होने के साथ ।)

पुरूरवा

किसका शाप ? जलती है ?

शब्दार्थ—विजन=एकान्त । विपिन=कानन । पुरी=नगरी ।

अर्थ—(पुरूरवा व्यग्र होकर कहता है—) (तुम) किसके पाप (का अपमान कर रही हो?) कहाँ की ज्वाला (तुम्हें जला रही है?) और हे कल्याणी! (तुमने) कौन सा दोष (किया है?) आप बार-बार दुःखी होकर अपने आप को हतभागी क्यों कह रही हैं? गन्धमादन के एकान्त कानन में तुम कितने आनन्दित रहते थे? इसलिये यदि (दुर्भाग्यवश) वह नगरी छूट भी गई (तो चिन्ता की क्या बात है?) हम दोनों वहीं पर चले चलेंगे। तुम तो पता नहीं किस प्रकार चिन्ता में डूबी जा रही हो। (अब जाओ) क्या तुम्हें छोड़कर (किसी भी मूल्य पर) मेरी यह देह जीवित रह सकती है?

(प्रतीहारी का प्रवेश)

प्रतीहारी

जय हो   क्षमा है।

शब्दार्थ—प्रणत है।

अर्थ—महाराज की जय हो। वन से सुकन्या नाम की एक तापसी आयी है। उसके साथ एक ब्रह्मचारी भी है। वह स्वामिनी उर्वशी से मिलना चाहती है।

पुरूरवा

सती सुकन्या   राजा को?

शब्दार्थ—सती=पतिव्रता। कीर्तिमयी=यशस्विनी। भामिनी=स्त्री। पुण्योदय=पुण्य के फलित होने।

अर्थ—(क्या) पतिव्रता सुकन्या (पधारी हैं?) महर्षि च्यवन की यशस्विनी स्त्री को आदर-सहित ले आओ। मेरा स्वप्न अब फलित हुआ सा लगता है क्योंकि भला बिना पुण्य कर्मों के उदित हुए सज्जन व्यक्ति राजा को कहाँ मिलते हैं?

(सुकन्या और आयु का प्रवेश।)

पुरूरवा

इलापुत्र   गुरुकुल में?

शब्दार्थ—पदों में=चरणों में। महर्षिसत्तम=महर्षियों में श्रेष्ठ। वर्धमान=विकास पर है।

अर्थ—मैं इलापुत्र पुरूरवा आपके चरणों में आदर नमस्कार करता हूँ। हे देवि! महर्षिश्रेष्ठ (च्यवन) की तपस्या तो ठीक चल रही है न? आश्रम में तो किसी प्रकार का विघ्न नहीं है? अरण्य-गुरुकुल में तो सब कुशल-क्षेम है?

सुकन्या

जय हो पिता हैं।

शब्दार्थ—पितृ-गेह=पिता के घर। सुयोग=अवसर। न्यास=धरोहर, अमानत। सक्षेम=कुशलतापूर्वक।

अर्थ—(राजा से—) राजा आपकी जय हो। यहाँ पर सब कुशल है। (उर्वशी से—) उर्वशी! आज अचानक ही महर्षि कहने लगे कि आयु को आज ही अपने पिता के घर जाना है। अतः आज ही जैसे-तैसे सायंकाल तक इसे अपने माता-पिता के पास पहुँचाना होगा।

इसलिये मैं इसे अचानक ही ले आयी क्योंकि न तो पूर्व सूचना देने का ही कोई अवसर था और न ही इसको रोक रखने का कोई उपाय था। हे सखी! सोलह वर्ष पूर्व तुमने मुझे जो धरोहर सौंपी थी उसे मैं कुशलता-पूर्वक तुम्हें लौटा रही हूँ।

(आयु से—) बेटा! यही तुम्हारी माँ है और ये देव तुम्हारे पिता हैं इन्हें प्रणाम करो।

(आयु पहले उर्वशी को फिर पुरूरवा को
प्रणाम करता है। पुरूरवा उसे
छाती से लगा लेता है।]

पुरूरवा

महाव्रतम! पया है॥ पृ० १४१ ४२॥

शब्दार्थ—अघटन=न घटने वाली। आत्मज=उत्तम पुत्र। त्राता=रक्षक। पु=पुरुरव। अमृत-अभ्र=रससिक्त बादल। अनभ्र=शून्य बादल-रहित। पौरजनों=नगर के निवासियों। अवाध=कभी न रुकने वाला। संज्ञा=होश चैतन्य। विक्षिप्त=पागल। आनंद-कंद=आनन्द के कण। आलोक=प्रकाश।

अर्थ—बड़े आश्चर्य की बात है। यह तो ऐसी घटना घटी जिसके घटने की कभी कल्पना भी नहीं थी। ईश्वर की लीला भी कितनी अपूर्व एवं अद्भुत है। अरे! यह सब कुछ सचमुच ही सत्य है या मैं फिर कोई स्वप्न देख रहा हूं।

अब (उर्वशी से—) हे देवि! देखो अब मैं पुत्रवान् हो गया। यह मेरा पुत्र है। मेरा भी रक्षक इस धरती पर नवयत्न धारण कर जन्म ले चुका है।

(अपने आप से—) अकस्मात् ही यह इकट्ठा किया हुआ पुण्य कैसे प्रकट हो गया? मेरे सूने हृदय में यह रस-सिक्त बादल कैसे बरस पड़ा?

(प्रतीहारी से—) अरे, सारे नगर में घोषित कर दो कि मैं पुत्रवान् हो गया हूं (और इस खुशी में) जो जहां पर है उसे मेरे पास आने की आज्ञा है दो।

खजाने का दरवाजा खोल दो और नगर-निवासियों से कह दो कि वे आकर जितना चाहें उतना सुवर्ण ले सकते हैं।

ऐल वंश के महान नभ पर आज नया सूर्य उदित हुआ है। अतः पुत्र-प्राप्ति के इस अनुपम एवं शुभ अवसर पर निर्बाध गति से उत्सव होने दो।

(प्रसन्नता से विह्वल होकर—) मैं पुत्रवान् हूं! अरे, आओ! कोई मुझे संभालो! मेरी चेतना को होश न आयो! नहीं तो मैं अविकल रूप से पागल सा हुआ चला जा रहा हूं।

(पुत्र से—) अरे मेरे पुत्र! तेरा स्पर्श अमृत के समान है। मेरे नेत्रों के लिए आनन्द-कंद है! प्राणों का प्रकाश है। आह! अब तक तुम कहां छिपे हुए थे।

(उर्वशी से—) हे देवी! यह ऐल वंश का दीपक कब उत्पन्न हुआ था? और तुमने निष्ठुर बनकर अब तक इसे क्यों छिपा रखा था। हाय! (तुम्हारे न बताने से) मैं कितने बड़े सुख को भोगने से वंचित रह गया हूं।

उर्वशी

प्रथम से ... पावक से।

शब्दार्थ—पुत्रेष्टि-यज्ञ=पुत्र की इच्छा का यज्ञ। प्रतियत्न=यज्ञ के निमित्त।

पावक=अग्नि वीर्य।

अर्थ—हे देव ! आज से सोलह वर्ष पूर्व जब आप पुत्रेष्टि-यज्ञ के निमित्त अपना पावन एवं विशिष्ट जीवन बिता रहे थे उस समय मुझ में आपके द्वारा स्थापित तेज-पूर्ण वीर्य से च्यवन ऋषि की तपोभूमि में मैंने आयु को जन्म दिया था।

किन्तु छिपा' जाता है।

शब्दार्थ—पुत्र कृ= पुत्र की इच्छा रखने वाले।

अर्थ—किन्तु हे देव ! पुत्र की इच्छा वाले आपसे मैंने इस रहस्य को क्यों छिपा कर रखा था इसके उद्घाटन का समय अब मेरे पास नहीं है क्योंकि ऐसा लग रहा है जैसे कोई मेरे प्राणों को मोह के अंकुश से बेध रहा है और मुझ जबरदस्ती इस धरती से कहीं दूर खींच कर लिए जा रहा है।

पुरूरवा

अच्छा जो कहा हो ?

शब्दार्थ—वपुमान्=शरीरधारी।

अर्थ—अच्छा जो रहस्य है उसे रहस्य ही बना रहने दो। अपने इस रहस्य को उद्घाटित करने की अभी कोई जल्दी नहीं है क्योंकि तुम्हारा यह रहस्य शरीर धारण करके मेरे सामने ही खड़ा हुआ है।

समासवो ! गया था।

शब्दार्थ—पुंगव=श्रेष्ठ। उद्‌भ्रम=व्याकुल। अंक=गोद।

अर्थ—हे समासवो ! कल रात स्वप्न में मैंने इसी श्रेष्ठ वीर को वन में प्रत्यंचा मांजते हुए देखा था। और व्याकुल होकर ज्योंही मैं इसे अपनी गोद में भरने के लिए इसकी तरफ दौड़ा था तब यह दुष्ट मुझे छलावा देकर लता कुंजों में लुप्त हो गया था।

किन्तु, तात ! बन्धन है।

शब्दार्थ—प्रसुप्त=सोए हुए।

अर्थ—किन्तु हे तात ! अब भला तुम मेरे आलिंगन-पाश से कैसे भाग सकोगे ? क्योंकि ये दृढ़ भुज-बन्धन प्रसुप्तावस्था के नहीं अपितु जगे हुए के हैं।

आयु

अब तक   लिया है।

शब्दार्थ—वियुक्त=अलग। अंक=गोद। तात=पिता। निमित्त=हेतु, लिए। उपोषण=उपवास व्रत।

अर्थ—यह क्या कम विपदा की बात है जो मैं अब तक आपकी गोद से अलग रहा। हे तात! (भला विचारिए) आपकी (स्नेहमयी) छाया छोड़कर वन में किसके लिए आयु था? जब से जन्म ग्रहण किया है तब से धर्म का पालन करता हुआ मेरे प्राणों का व्रत रहा है। हे पिताजी! यद्यपि अब तक मुझे तापसी माँ (सुकन्या) का प्यार मिलता रहा है लेकिन फिर भी मेरा हृदय (माता-पिता के अंक में समा जाने की) भूख और प्यास से बहुत विकल है।

पुरूरवा

क्या किया   पाते हैं?

शब्दार्थ—तृषित=प्यासा। क्षीर=दूध।

अर्थ—हे मेरे लाल! अपनी व्यथा कह कर तुमने तो मुझे रुला दिया। (उर्वशी से) हे देवि! (देखो) माँ की छाती का दूध तथा पिता का स्नेह न पाने से हमारा लाल कितना प्यासा रहा है?

[उर्वशी अदृश्य हो चुकी है।]

महामात्य

महाराज!   स्वामी के?

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—महाराज! यह आश्चर्य की बात है? देवी उर्वशी जो अब तक आपके पास खड़ी थी, वह यहाँ पर नहीं है न जाने कहाँ चली गई?

पुरूरवा

कहाँ जायगी?   पानी को।

शब्दार्थ—श्रान्त-चित्त=उदास। स्यात्=शायद।

अर्थ—क्यों? भला इस अमित आनन्द को छोड़ कर वे कहाँ जाएँगी किन्तु अभी वे कुछ उदास तथा थकी हुई सी लगती थीं। जाकर देखो शायद

थोड़ा सा शीतल, स्वच्छ एवं प्रसन्न वायु में घूमने के लिए प्रमद उपवन में चली गई हों।

सुकन्या

सभा यत्न सुषमा से

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—सब सारे प्रयत्न करना बेकार है क्योंकि उर्वशी राजभवन में नहीं है। वह आपके सहज प्रेम के आकर्षण में निबद्ध होकर जहाँ से भूतल पर आई थी वहीं पर पुनः लौट गई। आज वसुधा चिर-नवीन लगने वाले सौन्दर्य से वंचित हो गई।

महाराज दिया था।

शब्दार्थ—अनुराग=सघन प्रेम। विलोल-हृदया=चपल चित्त वाली। कुपित=क्रोधित। दारुण=भयंकर।

अर्थ—हे महाराज! उर्वशी सामान्य नारी न होकर एक अप्सरा थी जब उसका आपसे अनुराग हुआ तब उस चंचल-हृदया ने किसी कारण से महर्षि भरत को क्रोधित कर दिया और तब स्वयं भरत ने ही उसको भयंकर शाप दिया था—

"भूल गई तनय को।"

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—हे उर्वशी! जिसके स्वरूप-चिन्तन में डूब कर तुम अपने कर्तव्य तक को भूल गई हो जाओ तुम भूतल पर जाकर उसी की प्रेयसी बनो किन्तु, गृहस्थी के सभी सुख तू नहीं पा सकेगी। पुत्र और पति दोनों को तुम नहीं पा सकती। या तो तुम पुत्र को ही पा सकोगी या केवल अपने पति का ही सुख भोग सकोगी। हे! अहंकारिणी। यह सुख भी तू केवल तभी तक प्राप्त कर सकती है जब तक वह तुम दोनों के परस्पर संयोग से उत्पन्न पुत्र को नहीं देख पाएगा।

वही शाप पिता से।

शब्दार्थ—उद्यत=तैयार। परिजन=बन्धुओं।

अर्थ—आज वही शाप अपना फल दे गया और उर्वशी पुनः इन्द्रपुरी में चली गई। हे महाराज! (आप सोचते होंगे कि यह दृश्य देखकर मुझे

विस्मय क्यों नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि मैं तो इस घटना के लिए पहले ही अपने को तैयार करके आई थी क्योंकि मैं जानती थी कि आपके द्वारा 'आयु' के देखते ही भरत-शाप फलित हो उठेगा और उर्वशी इस पृथ्वी पर नहीं रहेगी। लेकिन अब आप ही सोचिए। आखिर आयु को हम कब तक उसकी जाति गंध सौभाग्य गोत्र तथा बान्धवों एवं पिता से अलग रख सकते थे?

हुआ वही   प्यासा है।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—जो कुछ पूर्वनिश्चित था वही हुआ। अतः हे महाराज! इस विषय पर शोक करना व्यर्थ है। अब तो जो कुछ आपसे आयु मांग रहा है वही दीजिए। वस्तुतः ही इस बेचारे का हृदय बहुत प्यासा है।

(पुरूरवा आयु से अलग हो जाता है)

पुरूरवा

चली गयी?   ममता थी।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—तो क्या उर्वशी स्वर्गलोक को चली गई? मेरे लिये सब सुनसान हो गया? मैं विरही वंचित रह गया? देवों को मेरे लिये बस इतनी ही ममता थी।

लाओ मेरा   वाणी की।

शब्दार्थ—गगन-जयी=स्वर्ग को जीतने वाला। स्यन्दन=रथ।

प्रसंग—उर्वशी के चले जाने पर पुरूरवा का पौरुष देवों के प्रति विद्रोह कर उठता है और वह स्वर्ग में देवताओं को पराजित करने के हेतु जाने को उत्सुक हो उठते हैं।

अर्थ—मेरा धनुष लाओ और आकाश को जीतने वाले मेरे रथ को सजा दो। आज देवताओं का मित्र नहीं अपितु शत्रु बनकर मुझे इन्द्रपुरी में जाना है और यह दिखाना है कि किसका तेज अधिक प्रबल है—भरत के शाप अथवा पुरूरवा के तीक्ष्ण बाणों का?

कहाँ ... आर्यों से ।

शब्दार्थ—रत्नसानु=रत्नों वाले पर्वत । कनक-कन्दरा=सोने की गुफा । प्रलय-दीप्त=प्रलय की तरह प्रज्ज्वलित ।

अर्थ—देवता मेरी प्रियतमा उर्वशी को कहाँ छिपा कर रखेंगे ? यदि वे उसे रत्नकूट पर्वत की स्वर्ण-गुफा में छुपायेंगे तो मैं उस पर्वत को सोने की धूल बना कर धरती पर बिखेर दूंगा । मनुष्य (पुरूरवा) के प्रलयकारी बाणों से वह सर्वथा छिन्न-भिन्न हो जायेगा ।

दिव के ... छिपी है ।

शब्दार्थ—दिव=दिन । वियदालोक=विस्तृत प्रकाश । अरुद्ध=निर्विरोध अप्रतिहत । शम्पा=बिजली ।

अर्थ—यदि वे (देवता) उस (उर्वशी को) दिन के विपुल प्रकाश में छाये स्वर्ण-मेघों में विलीन कर देंगे तो मेघों के हृदय में अप्रतिरुद्ध बिजली की तरह मेरा विमान देवताओं के प्राणों को कंपाता हुआ घुस जायेगा । और एक-एक मायावी बादल के पर्दे को उलट कर मैं खोज निकालूंगा कि उर्वशी कहाँ छिपी है ?

लाओ ... संगर का ।

शब्दार्थ—प्रखर=तीक्ष्ण । अग्निमय=आग उगलते । विशिख=बाण । दृप्त=अभिमानी । मघवा=इन्द्र । भीम=भीषण आमन्त्रण । समर=युद्ध ।

अर्थ—लाओ मेरा धनुष कहाँ है ? यहीं से अम्बर में बाण सन्धान कर मैं देवताओं के नन्दन-वन में आग लगा दूंगा । जलते हुए तथा आग उगलते हुए तीक्ष्ण बाण छोड़कर मैं अभिमानी इन्द्र को आज ही मनुजों के विरुद्ध युद्ध करने का निमन्त्रण भेजता हूं ।

और सिन्धु ... गया था ।

शब्दार्थ—विकराल=भयंकर । सैन्य=सेना । पराभूत=पराजित ।

अर्थ—और यदि देवों ने उर्वशी को कहीं समुद्र में छिपा दिया तो तुम विकराल सेना सजाओ । हम आज महासागर को मथ कर हिला देंगे । हमने

पराजित होकर सागर पर सभी मणि तथा रत्नों को उगल देगा, जो देवों तथा राक्षसों के समुद्र-मन्थन के समय से अब तक उसमें छुप गये होंगे।

और उसी ... निकला था।

शब्दार्थ—मोहिनी=मुग्धकारी।

अर्थ—और उसी मथने के क्रम में लहरों के आसन पर बैठी एक बार फिर उर्वशी सागर से निकल आयेगी। जिस प्रकार वह पहले भी भोर की मनमोहिनी प्रभा सारे लोकों में बिखेरती हुई समुद्र के भीतर से प्रकट हुई थी।

भूल गये ... प्राणप्रिया हूँ।

शब्दार्थ—अमित=अगणित असीम। आप्रलय=प्रलय-काल तक।

अर्थ—आज शायद देवता इस बात को भूल गये हैं कि मैंने अनेकों बार राक्षसों की प्रचण्ड शत्रुता का सामना कर उन्हें (देवों को) रण में विजय दिलवाई थी। लेकिन इस बार जब मैं ताव खाकर स्वयं उन पर टूट पड़ूँगा तो वे प्रलयान्त तक मेरे तीक्ष्ण बाणों की जलन को नहीं भुला पायेंगे। और वे इस बात को भी स्वीकार कर लेंगे कि उर्वशी चाहे कहीं भी क्यों न उत्पन्न हुई हो वह देवों की अप्सरा नहीं है अपितु मेरी पुरूरवा की पत्नी है।

उठो ... प्यारे हों।

शब्दार्थ—पटह=नगाड़े। पौर-जन=पुरवासी नगर-वासी।

अर्थ—आज सभी युद्ध के नगाड़े बजाकर लड़ाई के लिये सन्नद्ध हो जावें। नगर-निवासियों से कह दो कि उनका प्रिय स्वामी आज स्वर्ग से युद्ध ठान रहा है, जिसे अपने प्राणों का रंचमात्र भी मोह न हो वह मेरे साथ चले।

महामात्य

महाराज ... गये थे।

शब्दार्थ—शरण है।

अर्थ—महाराज! आप शान्ति धारण करें। आपका यह क्रोध अनुचित

नहीं है सार्थक ही है। तारा की बात को लेकर पहले भी देवताओं और राक्षसों में जो पक्ष धारण कर भयंकर युद्ध हुआ था और उस युद्ध में भी देवताओं को मुंह की खानी पड़ी थी।

विशेष—तारा—यह बृहस्पति की द्वितीय पत्नी थी। एक बार राक्षसों और देवताओं में इसी को लेकर युद्ध हुआ था जिसमें देवताओं की हार हुई थी।

यह सब ... सेना में।

शब्दार्थ—इष्ट=ध्येय।

अर्थ—फिर यही होगा यदि स्वामी का ध्येय ऐसा ही रहा तो अर्थात् फिर देवताओं को हार खानी पड़ेगी। किन्तु, यद्यपि यह युद्ध मनुष्यों और देवों में होगा फिर भी राक्षस इस अद्भुत-अवसर पर मौन नहीं रहेंगे वे निश्चय ही देवताओं के विरुद्ध मानवों का साथ देंगे।

सुरता ... रहे हो?

शब्दार्थ—सुरता=देवत्व। व्यसन=नाश। धृति=बल।

अर्थ—क्योंकि राक्षसों को देवों के नाश से बढ़कर अन्य कुछ भी प्रिय नहीं है और जहां मनुष्य और राक्षस एक साथ मिलकर उनसे लड़ेंगे वहां उन देवों के पांव किस शक्ति के बल पर टिक सकेंगे। अर्थात् उनकी पराजय निश्चित है।

इस संगर ... संगति में।

शब्दार्थ—अपूत=अपवित्र।

अर्थ—महाराज! इस युद्ध में हमारी विजय तो निश्चित है लेकिन हमें यह अवश्य सोचना है कि देवों से वैर बांध लेने पर कहीं हम राक्षसों की अपावन संगति में न पड़ जायें।

नर का ... किया है।

शब्दार्थ—उपयोग=प्रयोग।

अर्थ—मनुष्य का शृंगार केवल जीत मात्र नहीं है अपितु उसकी विजय तो उज्ज्वल चरित्र ही है। नीतियां यही कहती हैं कि जिसे भी तुम विजयी

समझते हो उसकी विजय के उन सारे प्रकट अथवा गुप्त प्रयत्नों की जाँच पहले अवश्य कर लो जिनका प्रयोग उसने विजयोपलब्धि करने के समय किया था।

काल घबराता हूँ।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—महाराज मैं देवों से इसीलिये घबराता हूँ कि कहीं उनकी अमृता हमें राक्षसों के हाथों में न सौंप दे अर्थात् हम कहीं राक्षसों से मित्रता कर अनुमत्व को ग्रहण न कर लें।

पुरूरवा

कायरता पुरुष का।

शब्दार्थ—भीति=भय। कथित=बनी। मिथ्या=झूठा। वसन=वस्त्र। दनुज-संगति-कल्पना-जन्म=राक्षसों की संगति की कल्पना से उत्पन्न।

अर्थ—महामन्त्री! यह कायरता की बात है। वास्तव में तुम्हारे मन को इन्द्र के कठोर वज्र तथा देवों की माया का भय सता रहा है। लेकिन तुम ऊपर से राक्षसों के साथ की कल्पना से उत्पन्न दोषों के झूठे आवरण को ओढ़कर उस भय को छिपाने का प्रयत्न कर रहे हो।

जब मनुष्य कम है?

शब्दार्थ—दरक=दहल हिल जाना बैठ जाना।

अर्थ—मनुष्य जब आलोड़ित होकर विद्रोह की वाणी में चीखता है तो आकाश का हृदय दहल जाता है। उसकी तपस्या की ज्वाला में इन्द्र का हृदय भी काँप जाता है। ओह! अगर कहीं मनुष्य क्रोधित होकर प्रलय का आमन्त्रण कर बैठे तो स्वर्ग टूटकर धरती पर आ जाये। हम मनुष्यों की शक्ति कम नहीं है फिर हम देवताओं की सहायता क्यों माँगें।

बज मरण हूँ।

शब्दार्थ—द्रुत=शीघ्र।

अर्थ—युद्ध के बाजे बजाये जावें। शीघ्र ही युद्ध का साज सजाओ। यह अपमान सहा नहीं जाता। इससे मृत्यु अधिक श्रेयस्कर है।

[निपुण्य के आवाज आती है।]

पीना होगा ... ... अमलिन है ?

शब्दार्थ—गरल=विष ज़हर। अमलिन=पवित्र।

अर्थ—(पुरूरवा जब इस प्रकार रौद्र रस से आप्लावित होकर देवताओं के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर रहा था उस समय आकाशवाणी (नेपथ्य) होती है—)

हे पुरूरवा ! सावधान, तुम्हें यह गरल पान करना होगा और इस विषम पीड़ा को भी सहन करना पड़ेगा क्योंकि देवताओं के साथ युद्ध करने में तुम्हारा किसी भी दशा में हित नहीं है। जानते हो देवता किसे कहते हैं ? वे मानव के शुद्ध एवं श्रेष्ठ रूप हैं जिन्होंने अपने मलों का विरेचन कर लिया है। तो क्या तुम आज मानव के इसी श्रेष्ठ रूप से युद्ध करना चाहते हो ? या उससे (युद्ध करना चाहते हो) जो तुम्हारा रूप अभी दानवी एवं दुष्ट-स्वरूप धारण किये बैठा है ?

पुरूरवा

यह किसका ... ... गगन में।

शब्दार्थ—यवनिकाओं=पर्दों। घटित=घट रहा है हो रहा है।

अर्थ—यह किसका स्वर है ? इन पर्दों की ओट में कौन छिपा बैठा है। (बड़े आश्चर्य की बात है कि) आज जो कुछ भी घटित हो रहा है वह स्तम्भित करने वाली घटना है। बड़ी अनोखी बात है ! आखिर तुम कौन हो जो इतने सूक्ष्म विचार मेरे समक्ष बोल रहे हो ? तुम कहाँ छिपे हो धरती में या आकाश में ?

[नेपथ्य से आवाज़]

मैं प्रारब्ध ... ... अतल से।

शब्दार्थ—प्रारब्ध=भाग्य। प्रताप=यश। अतल=तल रहित।

अर्थ—मैं चन्द्रवंश का भाग्य तथा तेरा संचित किया हुआ पुण्य हूँ जो तेरे ही प्राणों की अतल गहराई से बोल रहा हूँ।

अनुचित नहीं ... ... जाती है ?

शब्दार्थ—क्षणभंगुर=पल भर में नष्ट होने वाली। अनुत्पन्न=जो अभी पैदा नहीं हुए हैं। शत-सहस्र=लाखों। बिम्ब=प्रतिच्छाया।

अर्थ—क्या पल भर में नष्ट होने वाली वर्तमान की इस विजय का अभिमान करना अनुचित नहीं है? क्या तुमने कभी अपने दिल की गहराई में डूब कर कभी इस विषय पर चिन्तन किया है कि तेरे द्वारा किए गए वर्तमान-कर्म पर आगे आने वाले लाखों प्राणियों का भविष्य निर्भर है? (यदि तुमने वर्तमान में इतना अहित कर्म किया तो) अनुत्पन्न लाखों व्यक्तियों के मुखमण्डल पर तुम्हारी कौनसी छाया, प्रतिच्छाया अथवा प्रतिबिम्ब पड़ेगा?

जैसे तूने   करेंगे।

शब्दार्थ—प्रणय-चुम्बिका=प्रेम की कूँची। लौह-विशिखों=लोहे के बाणों।

अर्थ—जिस प्रकार तुमने प्रेम की कूँची तथा लौह के बाणों से अपने जीवन का ओजस्वी वृत्त लिखा है उसी प्रकार कल को आने वाली [illegible] की विपुल सम्पत्ति भी लौह तथा वासना से समन्वित होकर (जीवन-प्रांगण में) नर्तन करेंगे।

अतुल पराक्रम   जन्मे हैं।

शब्दार्थ—ताराहर=नक्षत्रों की ज्योति को मन्द करने वाले।

अर्थ—तुम्हारे द्वारा किए गए अतुल पराक्रम के प्रकाश में भी यह बात छिपाए नहीं छिपेगी कि ये मनुष्य (जो आज लौह विशिखों का नृशंस प्रयोग कर रहे हैं) ताराहर शक्ति के विनाश में जन्मे हैं।

चिन्तन कर   रही है।

शब्दार्थ—निक्षेप=चिह्न, रखना।

अर्थ—तुम विचारपूर्वक सोचकर यह जान लो कि तुम्हारे एक-एक क्षण की चिन्ता व सुदूरव्यापी भविष्य का मनुष्य जन्म ले रहा है। अपना चरण उठा कर तुम यह सोच लो कि तुम्हारे एक-एक चरण-न्यास की ध्वनि भविष्य के कानों में गूँज रही है।

विशेष—भाव मिलाइए—

"युगों की चट्टानों पर सृष्टि डाल पद चिह्न चली गम्भीर।
देव गन्धर्व असुर की पंक्ति अनुसरण करती उसे अधीर॥

कामायनी श्रद्धा ५६

और प्रेम ... सकता था ?

शब्दार्थ—आराधन=पूजा । लावण्य=सौन्दर्य । रमामुख=लक्ष्मी का मुख । आलोक-पुंज=प्रकाश-पुंज ।

अर्थ—और तुम्हारा यह प्रेम (जो इस समय इतना रौद्र रूप धारण किए हुए है) करुणा की अनुचारिणी क्यों नहीं बना ? उन दिव्य देवताओं की अर्चना क्यों नहीं बना, जो नारी के सौन्दर्य अथवा लक्ष्मी के प्रकाश-आनन में छिपे हुए हैं अथवा यह जीवन का प्रकाशित प्रकाश-पुञ्ज क्यों न बन सका जिसको लेकर ऊर्ध्वलोक में तू और भी ऊँचा उठ सकता था ?

अरुण अधर ... जाता है ।

शब्दार्थ—अरुण-अधर=रक्तिम ओष्ठ । कुसुमासव=मकरन्द । घूर्ण=आलोड़ित । माया-मनोज=मायाविनी सुन्दर । आकटि=कमर तक । लम्ब=सीधी । शिखा=ज्वाला । मदन=कामदेव । वक्ष=उरोज । प्रतीप=उलटा । त्रिवली=पेट पर पड़ी हुई तीन रेखाएं । स्वर्ण-सरसी=स्वर्णिम तालाब । श्लथ=शिथिल । विक्रमी=बहादुर वीर । मरीचिका=माया तृष्णा धोखा । पृथुल=परिपुष्ट । परिणत=कोमल । विधिवत=उन्मुक्त । अयन=बंधाएं । ध्वस्त=नष्ट । हत विक्रम=जिसका तेज नष्ट हो गया हो । ऋतु-सरस=ऋतुमती स्त्री का मासिक धर्म के समय होने वाला रक्त-स्राव ।

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियों में कवि स्त्री के मांसल शारीरिक सौन्दर्य का अत्यन्त उन्मुक्त एवं कामोद्दीपक शृंगारपूर्ण वर्णन कर अनन्य विक्रमी पुरुषों के उसकी मोहिनी मरीचिका में फँसकर हतविक्रम होने का काव्यमय वर्णन करता है ।

अर्थ—रक्तिम अधर, अरुणिम कपोलद्वय आँखों में मधुमय मद के आलोड़न आदि से युक्त मायामयी सुन्दर ललना रूपी प्रतिमा का मनोन्मत्त आमन्त्रण कितना अनतिक्रमणीय होता है ? मस्तक से कमर तक लिपटकर कामदेव की सजती हुई प्रचण्ड शिखा सी सम्पूर्ण लता में सौन्दर्य की छाया का आलोड़न लिए पड़ने उलट कर रखे हुए कलशों जैसे उरोजों पर पुष्ट सघन दो कलशों से परिप्लावित और स्वर्ण-मंडित तड़ाग में उठती हुई लहर के समान त्रिवली से युक्त नारी रूपी मरीचिका को अपने आलिंगन में समेट कर रखने के लिए किन धीर-वीर पुरुषों की भुजाएं शिथिल नहीं पड़ जाती ?

कौन ऐसा वीर है जो परिपुष्ट मधुरिम आवाहन करती हुई मधुर मसृण सम्पुञ्ज नग्न अंसाओं पर आकर मधुमय मांसल रक्त-स्राव की सुगन्ध से अपने विक्रम को न गँवा बैठा हो ? सौन्दर्य के लीलामय आचरण से ध्वस्त न हो गया हो।

जितने भी ... घावों को।

शब्दार्थ—व्रण=घाव। शोणितमय=रक्तपूर्ण।

अर्थ—(इस संसार में जितने भी प्रेम किया है वह प्रेम-शर का शोणितमय तिलक धारण किए तथा अपने विदीर्ण प्राणों में घावों को संजोए चल रहा है। और प्रेम की यह चोट जिसे जितनी अधिक गहरी लगी है जिसका घाव जितना अधिक गहरा है, वह उतना ही पीड़ा की मुक्ति पाने के लिए कम बेचैन रहता है। अर्थात् प्रेम के आघात में जो व्यथा होती है वह तो अमित आनन्द प्रदान करने वाली होती है। उसे तो व्यक्ति संजोकर अपने दिल में रखना चाहता है फिर क्या तुम इस व्यथा-मुक्ति के लिए क्यों उतने बेचैन हो रहे हो ? इसका तात्पर्य यह है कि तुम्हारे हृदय पर अभी तक प्रेम का घाव गहरा नहीं लगा है।

नारी के भीतर ... पत्थर की।

शब्दार्थ—किंचित=कुछ। सलिल धार=जल की धारा। महीधर=पर्वत।

अर्थ—क्या तुमने कभी सोचा है कि नारी के भीतर भी जो एक असीम नारी है पुरुषों में उसकी रक्षा कौन करेगा ? उसकी रक्षा केवल वही कर सकता है जो सामान्य पुरुष न होकर पुरुष से कुछ अधिक तत्त्व धारण किए हुए है। (वह पुरुष) जिसके हृदय में (प्रेम की) मीठी धारा बहती हो प्राणों में पर्वत के समान दृढ़ता हो उंगलियाँ कलियों के समान कोमल हों तथा जिसकी मुट्ठियाँ पत्थर के समान ठोस हों।

विशेष—हृदय सलिल धार के समान इसलिए कि उसमें प्रेम की निर्मल धारा सर्वदा प्रवाहित होती रहे पर्वत इसलिए कि वह प्रेम के मामले में सदा दृढ़ रहे, कोमल उंगलियाँ इसलिए कि प्रमिका को सहलाती रहें और पत्थर की मुट्ठियाँ इसलिए कि मात्र आलिंगन में प्रेयसी को जकड़ सकें।

वह सकता ... विषधारी भी।

शब्दार्थ—पुरुषाधिक=पुरुष से अधिक। शिलोच्चय=शिला से भी । शिखर-शैल=पर्वत की चोटी। प्रपात-ताड़न=पानी के प्रताड़न से।

अर्थ—हे पुरुरवा ! क्या तू बता सकता है कि क्या तुम पुरुषाधिक वही पुरुष हो (जिसका मैंने ऊपर वर्णन किया है ?) (यदि नहीं जानते तो) फिर हृदय के सामान्य धरातल से ऊपर उठकर शिखर-शैल के समान मानस की उच्चावस्था में स्थित होकर देख कि तू प्रेम के पथ पर प्रवास कर से बढ़ा हुआ है या तब हवा के झोंकों से प्रभावित होकर इधर-उधर डोल रहा है ? यह भी देख तेरी भुजाओं में कुसुम की कोमलता है या व वज्र की शिला के समान ठोस भी है ? भुजाओं में फूल ही फूल धारण किए हुए हैं या कुछ पावक-शलाकाएं भी हैं ?

विपद व्यापिनी विस्तारकर ।

शब्दार्थ—विपद् व्यापिनी=विपत्ति में पीड़ित करने वाली । तिया=नारी । मनोज्ञ=मनोहर ।

अर्थ—हे पुरुरवा ! क्या तुम्हें (उर्वशी को छोड़ कर) अभी तक विपद् व्यापिनी मिली थी ? जब तुम ज्योतिषी जी से अपना भविष्य पूछा था तब उसने क्या बतलाया था ? नारी एक मनोहर छलना है। जब उसका हृदय चाहता है तो कण्ठ फाड़-फाड़ कर बिलख-बिलख कर रोने लगती है और पुरुष (उसकी मनोज्ञ छलना पर) मग्न होकर हँसता रहता है।

पूछ रहा दिशा में ।

शब्दार्थ—मर्मविद=मर्मों को जानने वाला । गणक=गणना करने वाला ज्योतिषी । उपवेशित=बैठकर ।

अर्थ—(हे पुरुरवा !) तुम अपने विषय में मर्मविद्, गणक ज्योतिषी से क्या पूछ रहे हो ? जरा अपने हृदय को चीर कर देखो ? तुम्हारे समाधान की ताली उसी में पड़ी हुई है। तुम जरा अपने अन्तर्मन को जगा कर पूछो। वह तुम्हें जिस दिशा में भी जाने का संकेत करे उसी दिशा का अनुसरण कीजिए। निश्चय ही तुम्हें मनःशान्ति मिलेगी।

बिना चुकाये चला कर ।

शब्दार्थ—सरल है ।

अर्थ—(अपने कर्मों का) चुकाना मूल्य चुकाए बिना भला कौन जगत में सुख ग्रहण कर सकता है ? हे पुरु ! तेरे पर अपार जीवन का जो ऋण चढ़ा हुआ है उसे बचा कर तू किसी प्रकार भी भाग नहीं सकता अर्थात् उसका मूल्य तुम्हें चुकाना ही पड़ेगा।

नहीं देखता … प्राणों का ।

शब्दार्थ—सरल है ।

अर्थ—हे पुरूरवा ! देख तेरे सामने जो प्राणों को तरेरे हुए खड़ा है यह और कोई नहीं तेरा ही जीवन है । आज तक इसका आधार लेकर जो कुछ भी संचित किया है उसका मूल्य इन्हीं क्षणों में तुम्हें गिन-गिन कर चुकाना होगा ।

पर, कैसे ? … निदिध्यासन है ।

शब्दार्थ—उड्डयन=उड़ान । विभा=ज्योति । निदिध्यासन=ध्यानावस्थित समाधि ।

अर्थ—लेकिन यह मूल्य कैसे चुकाएगा ? क्या स्वर्ग में जाकर उर्वशी को पुन धरातल पर लाएगा ? अथवा मन के महाकाश में जहां न कोई कामिनी नारी है न (पार्थिव) प्रेम की कामना है अपितु परमज्योति की छाया प्रार्थना एवं ध्यानावस्थित समाधि का साम्राज्य है उज्ज्वल प्रेम के बलशाली पंखों द्वारा असीम उड़ान भरेगा ।

खोज रहा … नहीं है ।

शब्दार्थ—अवलम्ब=आश्रय । द्विधा=द्वैत ।

अर्थ—क्या तुम इस धरती की वासना में ही आश्रय ढूंढना चाहते हो ? किन्तु इस आश्रम का इस द्वैत भरी ज्वलित जगती में कोई उत्तर नहीं है । मैं फिर वही बात कहता हूं (कि यदि तुम मुक्त होना चाहते हो तो) अपने अन्तर में झांक कर देखो । समाधान कभी भी तुम्हें इसी के अन्तस में मिलेगी ।

पुरूरवा

देख लिया … जाता है ।

शब्दार्थ—सरल है ।

अर्थ—हे परिजनो ! मैंने सब कुछ देख लिया । विरक्तता का फलादेश परम सिद्ध हुआ । मेरे पास इस समय एक क्षण भी नहीं है । अतः पुरोहित से कहो कि आयु के राजतिलक के लिए पुण्य श्लोक उच्चरित करें ।

मृषा बन्ध … सगा है ।

शब्दार्थ—मृषा=झूठ । बन्ध=सांसारिक बन्धन । दैहिक=शारीरिक । सिद्धियों=उपलब्धियों । कंचनावरण=सोने के आवरण में । विषण्ण=दुःखी । गिरा=वाणी ।

अर्थ—विक्रम और विभास का यह बन्धन और माया का मोह झूठा है। इन दैहिक सिद्धियों यश के स्वर्णिम आवरण में भीतर ही भीतर विपण्ण हुआ ऐसा अनुभव कर रहा हूं जैसे मैं अन्दर से खोखला होता जा रहा हूं। (इन जगती के बन्धनों में फंस कर) मैंने अपने अन्तरतम के रोदन और अभावों की अव्यक्त गिरा को कई बार सुनकर भी अनसुना कर दिया है।

पर अब ... जाता हूं।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—पर, अब इस स्वर की ओर अधिक अवहेलना नहीं की जाती। हे अनन्त दिशा की ओर ले जाने वाली महाशक्ति! मूक प्राणों में झंकार भरने वाली! ठहरो! मैं अपने पंख खोलकर अभी तुम्हारे साथ चलता हूं।

दिन भर ... जाने का।

शब्दार्थ—विभावसु=सूर्य। प्रदोष=रात्रि। कन्दरा=गुफा। दरी=खोह। अन्तर्गगन=आभ्यन्तर चित्त। चक्रवाल=एक पुराण वर्णित पर्वत। विजन=एकान्त।

अर्थ—सूर्य भी रात्रि को अपने अन्तश्चित्त में शीतल प्रकाश प्रकाशित करने के लिए दिन भर अपना प्रकाश लुटाकर रात्रि के आने पर अपनी सम्पूर्ण रश्मियां समेट कर पर्वत की किसी निर्जन कन्दरा अथवा खोह के एकान्त प्रान्त में उतर जाता है। तो फिर भला मैं आकाश के मध्य में क्यों तपता रहूं। अब मेरे नए सूर्य को भी क्षितिज छोड़कर आकाश की ओर आने दो क्योंकि मेरे लिए भी वह समय आ गया है जबकि मैं अपनी किरणें समेट कर चक्रवाल के पार कहीं एकान्त प्रदेश में उतर जाऊं।

यह लो ... जाता हूं।

शब्दार्थ—पूर्णिमान=अभिनत होने वाला। पूषण=सूर्य। ऐल-वंश अवतंस=ऐल वंश के पुत्र। कानन=वन।

अर्थ—यह लो मैं अपने अभिनत होने वाले सिर से ऐल वंश का मुकुट हटाकर आयु के मस्तक पर धरता हूं। लो सूर्यदेव की कृपा से राज्याभिषेक भी पूरा हो गया। ऐल-वंश के सुपुत्र नए सम्राट आयु की जय हो। हे महाराज! अब मैं राज्य भार से मुक्त होकर वन में जा रहा हूं।

भाग्य खोल! ... आशिष के?

शब्दार्थ—सध सका नहीं=पूरा नहीं हो सका। महाभाग=महान यशस्वी। निःस्व=निर्धन।

अर्थ—यह मेरे भाग्य का दोष है कि मैं अपने कर्तव्य को पूरा नहीं कर सका। अब तो मैं केवल आपकी प्रजा हूँ। अतः प्रजा धर्म के कर्तव्य का पालन करूँगा। मैं यहाँ पर भी घूमा वहीं पर महान यशस्वी राजा का यशोगान करूँगा। एक निर्धन संन्यासी भला एक आशीर्वाद के अतिरिक्त और क्या दे सकता हूँ?

समासदो! कहेंगे।

शब्दार्थ—कालज्ञ=समय को समझने-बूझने वाले। पटु=होशियार। निदेश=आज्ञा।

अर्थ—हे सभासदो! आप सबके सब कालज्ञ और कर्म-निपुण हैं? आप सब जानते हैं कि राजा की समयोचित आज्ञा को आपने किस होशियारी से निभाना है। (मैं जा रहा हूँ।) अतः आप प्रजावासियों से हमारा आशीर्वाद कहिए।

जय हो प्रजाजनों को।

शब्दार्थ—सुरम है।

अर्थ—महाराज की जय हो! प्रजाजनों के लिए जन्मदिन जितना सुरम्य एवं सुखकर था आवास है उतना ही सुखद यह वन भी होगा।

[एक ओर से पुरूरवा का निष्क्रमण; दूसरी ओर से महारानी औशीनरी का प्रवेश]

औशीनरी

चले गए? (महाराज चले गए?)

सभी सभासद

अनुकंपामयी राजमाता की जय हो।

औशीनरी

हाँ, मैं तया कर।

शब्दार्थ—राजमहिषी=रानी। नियति=भाग्य।

अर्थ—हाँ, मैं अभी थोड़ी देर तक राजमहिषी थी। चाहे कहीं थी हो मगर अभी तक नियति ने मुझे प्रकाश से दूर न जाने कहाँ फेंक रखा था। भाग्य की बात है कि अब मैं निश्चय ही राज-माता हूँ इसलिए हे बेटा! आ! मैं तुझे अपने गोद में छुपा कर अपने प्राणों को शीतल कर लूँ।

[आयु को हृदय से लगाती है।]

कितना भव्य बचपन में।

शब्दार्थ—चिबुक=ठोडी। तनय=बेटा।

अर्थ—हे बेटा! तुम्हारा स्वरूप कितना भव्य है? तुम्हारे नेत्र नासिका मस्तक तथा ठोडी में महाराज के स्वरूप की पूर्ण प्रतिच्छाया पड़ी हुई है काश! हे बेटा कहीं यदि तू मुझे बचपन में मिल गया होता तो मैं तुम्हें कितनी उमंग और चाव से पालती-पोसती।

पर, तब पिला कर।

शब्दार्थ—उत्तु ग=ऊंची। पावक=अग्नि। पाषाणों=पत्थरों। क्षीर=दूध।

अर्थ—लेकिन कोई बात नहीं जिन महान एवं मनस्वी पुरुषों को उत्तु ग शिखर पर नवीन यशोपताका गाड़नी होती है उन्हें भाग्य प्रायः अग्नि में तपा-तपा कर गढ़ता है पत्थरों पर सुलाता है और उसे किसी शेरनी का दूध पिलाता है।

विशेष—भाव मिलाइए—

(अ) जिन्दगी के असली मजे उनके लिए नहीं हैं जो फूलों की छांह के नीचे खेलते और सोते हैं। बल्कि फूलों की छांह के नीचे अगर जीवन का कोई स्वाद छिपा है तो वह भी उन्हीं के लिए है जो दूर रेगिस्तान से आ रहे हैं जिनका कण्ठ सूखा हुआ, ओठ फटे हुए और सारा बदन पसीने से तर है पानी में जो अमृत तत्त्व है, उसे वह जानता है जो धूप में खूब सूख चुका है वह नहीं जो रेगिस्तान में कभी पड़ा ही नहीं है।

× × × ×

बड़ी-बड़ी चीजें संकटों में विकास पाती हैं बड़ी हस्तियां बड़ी मुसीबतों में पलकर दुनिया पर कब्जा करती हैं। अकबर ने तेरह साल की उम्र में अपने बाप के दुश्मन को परास्त कर दिया था जिसका एकमात्र कारण यह था कि अकबर का जन्म रेगिस्तान में हुआ था और वह भी उस समय जब उसके बाप के पास एक कस्तूरी को छोड़कर कोई दौलत नहीं थी।

महाभारत में देश के प्रायः अधिकांश वीर कौरवों के पक्ष में थे मगर फिर भी जीत पाण्डवों की हुई; क्योंकि उन्होंने लाक्षागृह की मुसीबत झेली थी क्योंकि उन्होंने वनवास की जोखिम को पार किया था।

'जीवन उनका नहीं युधिष्ठिर ! जो उससे डरते हैं।
वह उनका जो चरण रोप निर्भय होकर लड़ते हैं।'
—दिनकर : हिम्मत और जिन्दगी

(ख) वसुधा का नेता कौन हुआ ? भूखण्ड विजेता कौन हुआ ?
अतुलित यश क्रेता कौन हुआ ? नव-धर्म प्रणेता कौन हुआ ?
जिसने न कभी आराम किया विघ्नों में रह कर नाम किया।
× × × ×
कंकड़ियाँ जिनकी सेज सुघर, छाया देता केवल अम्बर
विपदाएँ दूध पिलाती हैं लोरी आँधियाँ सुनाती हैं।
जो लाक्षा-गृह में जलते हैं, वे ही सूरमा निकलते हैं।
—दिनकर : रश्मिरथी : तृ. सर्ग : २८, २९

सो तू चला ... जाया था।

शब्दार्थ—सीमन्तनी-शिखा=नारियों की अग्रणी। केहरिणी=शेरनी।

अर्थ—और तू जिसकी गोदी में पला है वह नारियों में अग्रणी पति व्रताओं में शेरनी के समान और कोई नहीं है। तपोनिधान तपः सिंह च्यवन ऋषि की प्रिया (सुकन्या ही) है।

भाग्य हमारा ... आया हो ?

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—देखो मेरा भाग्य कितना अगाध होकर बढ़ा है ? (ठीक भी है) ऐसा कौन है जो अचानक राज्याभिषेक को पाकर विस्मित और निस्तब्ध नहीं होगा ? उस वट-वृक्ष को सम्मुख देख जिसकी छाया के लिए वह इतनी दूर से चलकर आया हो (भला कौन विस्मित नहीं होगा)।

कितना विषम ... पूरा कर।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—कितने बड़े शोक का विषय है ? पहले तो तुम्हारा जन्म ही जंगल में हुआ और फिर अब महान आवश्यकता को तब पिता की शीतल गोद तुम्हें नहीं मिल सकी। अब तुम स्वयं ही उनके पास आए तो वे सहसा अपना राजपाट सर्वस्व तुम्हें सौंप तथा अपना वात्सल्य (पुत्र प्रेम) पूरा कर चले गए।

मौरवता करने का।

शब्दार्थ—रवपूर्ण=ध्वनिमयी। मुखर=वाचाल। विकल्प=उपाय। मस्तकस्थ=मस्तक पर धारण किए।

अर्थ—हे बेटा! तेरी यह ध्वनिपूर्ण मौरवता और तेरी यह चुप्पी सब प्रकार से मुखर होकर तेरे मन की पीड़ा को प्रकट कर रही है। लेकिन अब शीश पर धारण किए गए राजमुकुट के भार का वहन करने के अतिरिक्त अन्य उपाय भी क्या है?

उदित हुआ बचेगा?

शब्दार्थ—प्लावन=प्रलय।

अर्थ—हे आयु! तेरा भाग्योदय हुआ तो अवश्य मगर बड़े संकट-काल में हुआ है लेकिन तुम्हें छोड़कर हमें इस महान आपदा से कौन पार उतारेगा? यदि तुम्हीं उदास रहे तो कौन ऐसा है जिसके मुख पर मुस्कान इठलाएगी और यदि तुम ही इस महान सक्रान्ति से नहीं उबरे तो भविष्य में आने वाली इस महान प्रलय में कौन बच सकता है? (भाव यह है कि हे पुत्र! अब तुम पितृ-शोक को भुला कर प्रसन्न हो अपने राज-धर्म का पालन करो)।

पिता गए रही हूँ।

शब्दार्थ—नरनाथ=राजा।

अर्थ—अरे बेटा यदि तुम्हारे पिता चले गये तो क्या हुआ? तेरी माता तो तेरे सामने खड़ी हुई है। हे बेटा! [illegible] राजा अभी अनाथ नहीं हुआ है। तू जिस वात्सल्य रस की कृपा से आपन्न है मैं भी उस अमृत-कोष को लुटाये बिना आजीवन इसी में भरी हुई हूँ।

कमा न सता हूँ।

शब्दार्थ—[illegible]=हरा भरा पौधा। [illegible]=[illegible]।

अर्थ—(इस पद में औशीनरी का मातृत्व अपनी चरम सीमा पर आ गया है। कवि ने बड़े साधारण शब्दों में माता के वात्सल्यपूर्ण भावों को प्रकट किया है—)

प्रकृति की ओर से मुझ को वात्सल्य का अमृत मिला था वह [illegible] रूपी वृक्ष की टहनियों तक सूखी डालों में सब तक लहरें मारता रहा, उनसे कोई पौधा नहीं [illegible] किन्तु आज मुझे [illegible] हो रहा है जैसे [illegible] मेरी अभी [illegible] आ रही हैं। [illegible] मैं भी जीवन का बहुत [illegible] थी, [illegible] मेरे औंगें

पर लगा है। (भाव यह है कि मैं अभी तक ममता की प्यासी थी। तू मेरे लिए शीतल जल के समान आया है। तुझे पाकर मेरा सूखा हुआ हृदय पुष्पित एवं पल्लवित हो गया)।

तप्त आग   बचा कर ?

शब्दार्थ—द्विधा=दुविधा। विपन्नता=संकट ग्रस्तता। शतक्रतु=इन्द्र, इस कारण कि उन्होंने सौ यज्ञ किये थे। कहते हैं पुरूरवा भी शतक्रतु थे।

अर्थ—हे वीरश्रेष्ठ पुत्र! (इस शीतल वात्सल्य रस को) दुविधा ग्लानि और चिन्ता से गर्म मत करो। देखते नहीं मैं इन्द्र के समान तेजस्वी अपने पति को बचा कर अपने अन्तस में उच्छ्वसित वेदना के विस्फोट को दबा कर संकल्प लता के हिम कगारे पर खड़ी हुई हूं।

और हाय   हरते हैं।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—लेकिन हाय फिर भी मैं भीरु नारी हूं। नारी के भाग्य में विधाता ने रोदन के अतिरिक्त क्या और कुछ भी सर्जन किया है? पर किशोर होने पर भी हे बेटा! तू राजा है। राजा कभी भी अपनी पीड़ा से पीड़ित नहीं होते अपितु वे तो अपनी पीड़ा को भूलकर दूसरे की पीड़ा का हरण करते हैं।

हंसते हैं   निमिष में ?

शब्दार्थ—किरीट=राज मुकुट। दुर्वह=वहन करने में कठिन। निमिष=क्षण।

अर्थ—जब राजा हंसते हैं तो सबके अधरों पर हास्य की किरण आ जाती है और जब रोते हैं तो सब पुरवासियों के नयन अश्रु-सिक्त हो जाते हैं। इसलिये जिस नृपति के मस्तक पर दुर्वहनीय समाज-शासन का ताज रख गया हो उसके लिए अपनी पीड़ा तथा अपना आनन्द क्या महत्त्व रखता है? लेकिन हाय यहां पर तो (इतने बड़े उत्तरदायित्व का यह कार्य) एक ही क्षण में सम्पन्न हो गया।

महामात्य

घटित हुआ   खेला है।

शब्दार्थ—दारु-पुत्तली सी=काष्ठ की पुतली के समान।

अर्थ—यह काण्ड अचानक इस प्रकार घटित हो गया जैसे यह सब काष्ठ की पुतली के समान मनुष्य के हाथों में पराधीन होकर नर्तन कर रही हो।

मानो भाग्य ने हम सबकी बुद्धि को कुण्ठित करके और सबको अपने पाठ से वशीभूत करके अपने आप दुःखान्त नाटक का अभिनय किया हो ।

विशेष—उत्प्रेक्षा अलंकार ।

कौन जानता चुका था ।

शब्दार्थ—अशनि=बिजली । आसन्न=आने वाली । स्तंभित=अवाक् विमूढ़ । गिरा=वाणी ।

अर्थ—महामात्य राजमाता औशीनरी से कहते हैं—हे देवि ! कौन जानता था कि बिना घटाओं के ही हम पर यह बिजली टूट पड़ेगी । हमें तो आने वाली इस महान विपत्ति का आभास तक भी नहीं मिला था । (यह सब कुछ देखकर) हम कुछ तो भाग्य के आधीन हो गये और कुछ महाराज के भय से विमूढ़ से हो गए । इससे पहले कि हम अपने मुख से कुछ कहें महाराज का राज-मुकुट कुमार के मस्तक पर आसीन हो चुका था ।

सब कुछ रहना था ।

शब्दार्थ—अस्त=प्राण वायु (इसकी संख्या सात मानी गई है—उप-नीम धातु, पुनि आसहु अभियुक्त विविध) देवता ।

अर्थ—सब कुछ ऐसे घटित हो गया जैसे आकाश में मस्त दौड़ रहे हों जैसे कोई पुष्प-कानन में आग लगा रहा हो जैसे हम आदमी नहीं अपितु पत्थर की मूर्तियां हों अथवा जैसे स्वयं कुचक्र हमें आगे की ओर हांक रहा हो (और हम विमूढ़ हुए उसी दिशा में आगे बढ़ते गये) । हे देवि ! उस हमें वह भारी विस्मय में डाल कर छोड़ गए । अपने दिल के गुबार को निकालना चाहते थे वे भी हम नहीं निकाल सके ।

औशीनरी

कौन सह देखा सी ?

शब्दार्थ—सरल है ।

अर्थ—अपने दिल की पीड़ा को आज तक कौन सह सका है ? क्या तुमने नहीं देखा कि मैं इस कोलाहल के बीच मुग्धा की प्रकम्प लौ के समान मेरे जीवन में जो कुछ भी हुआ उसे देखकर भी सदा चुप्पी साधे रही (अर्थात् मैं यह जानते हुए भी कि मेरे पति तथा उर्वशी के बीच स्थापित प्रेम से मेरा अवश्य कोई अहित होने वाला है, कुछ नहीं बोली) ।

वाणी का बैठी थी ।

शब्दार्थ—दर्पस्व=तेज । निर्घोष=[illegible]

अर्थ—(मनीषियों का कथन है कि) वाणी का तेज यदि चांदी है तो मौन स्वर्ण है। लेकिन अन्ततोगत्वा मुझे इस स्वर्ण से क्या मिला? मेरे जिस राष्ट्र में प्रतिष्ठ एवं मधुरता का सिंगार था वह सब इतिहास बन कर रह गया। मैं जहां प्रथम एवं शान्त अपने मूक नीड़ में बैठी थी वहां से सभी अपनी छाया बचाकर इस कोलाहलपूर्ण जगत से दूर भाग गए। (किसी ने भी मेरे मौन का मूल्य नहीं आंका। कोई भी मेरे दर्द को सुनने नहीं आया)।

महाराज होती है।

शब्दार्थ—दानवाकृति=दैत्याकार। धूमिल=धुंधला। पद चाप=पैरों की आवाज। नीरव=शान्त। म्लान=उदासनी।

अर्थ—माना कि महाराज बड़े उदार थे वह मृदु एवं भाव प्रवण थे और मुझ अभागिनी को उन्होंने बड़ा आदर-मान भी दिया था लेकिन ऐसा क्या हुआ कि वे चलते समय मुझ पर अपनी कृपा करनी भी भूल गए? न जाने उन्हें इस दैत्य के समान भीषण आकार वाले भवन में उपेक्षित शान्त और धूमिल उस कोने का ध्यान क्यों नहीं आया जहां पर न तो कभी घटनाएं भूलकर आती हैं अर्थात् कोई भी घटना घटित नहीं होती और न यहां इतिहासों के पैरों की आवाज ही सुनाई देती है अर्थात् कोई भी ऐसी घटना नहीं घटती जिसका इतिहास में उल्लेख किया जा सके। इस कोने में ऐसी प्रणयिनी भी रहती है जिसका प्रेम शान्त और स्थिर है जिसकी स्निग्ध और शीतल है जिसकी अभिलाषाएं अपनी ही बहकती हुई ओं से दग्ध नहीं होती जहां पर पैरों के नीचे भृंगों की लाश बिछ नहीं तरंगों के ऊपर नागमणियां नहीं लहरातीं जहां अधरों की कोयल म बनकर नहीं बरसती और जहां प्राण से पृथक रहकर चिनगारियां जलती। बल्कि जिस कोने में नारी का शुभेच्छु और विनम्र हृदय है वह वह कोना है जहां उद्वेगों से अधिक आनन्द शान्ति और संयम है, जहां एक प्राण में ही धूप और मधुरस दोनों संचित हैं जहां में सूर्य जैसी प्रचण्डता और चन्द्रमा जैसी शीतलता छिपी हुई नारी केवल सौन्दर्य-मूर्ति बनकर मनुष्य के मन को मोहित करने होती बल्कि उसका माता का रूप भी होता है जो अमृत के समान देने वाली होती है।

भूल गये प्रियतम की।

शब्दार्थ—दयित=प्रिय पति। निभृत=एकान्त। निलय=भवन। समाराधन=पूजा। त्रिलोक-शरण=परमात्मा। अकल्याण=अहित। कंटक=काँटा।

अर्थ—महारानी औशीनरी महाराज पुरूरवा के विरह में भी उनकी कल्याण-कामना करती हुई कहती है कि हे प्रियतम! तुम जाते समय यह क्यों भूल गये कि इस शान्त और अकेले महल में कोई नारी व्रत को लेकर तुम्हारी पूजा में बैठी हुई है, जिसकी ओर चलते समय तुमने बिल्कुल भी ध्यान नहीं दिया। मैं त्रिलोकपति परमात्मा से अश्रुमुखी बनकर केवल यही भीख माँगती हूँ कि हे प्रभो! मेरे स्वामी का तनिक भी अहित न हो। उन पर पड़ने वाली जो मुसीबत हों वे मुझे दे देना मैं प्रसन्नतापूर्वक उन सबको सहन कर लूँगी किन्तु हे देव! मेरे प्रियतम के पैर में छोटे से छोटा काँटा भी न चुभे उन्हें मामूली-सी भी विपत्ति का सामना न करना पड़े।

विशेष—इन पंक्तियों में महारानी औशीनरी का चरित्र भारतीय आदर्शों से परिपूर्ण है।

किन्तु हाय जाता हूँ।

शब्दार्थ—मृषा=झूठ निरर्थक। हतभागी=निर्भागी।

अर्थ—अपनी विरह-वेदना को व्यक्त करती हुई औशीनरी कहती है कि यह बड़े दुःख की बात है कि मेरे जीवन की सारी साधना झूठी सिद्ध हुई निरर्थक चली गई, क्योंकि मैं तो अपने दोनों हाथों को जोड़े हुए उनके ध्यान में डूब कर बैठी रही और वे मेरे देवता मुझसे बिना कहे ही चले गये। मुझसे इतना भी कहकर नहीं गये कि हे निर्भागी! उठ और अपनी पूजा को छोड़ कर मुझे अन्तिम विदाई दे क्योंकि मैं अब इस भवन को छोड़कर जा रहा हूँ।

विशेष—इन पंक्तियों को पढ़ कर भावसाम्य के कारण गुप्त जी की यह पंक्ति अनायास ही स्मृति-पटल पर थिरकने लगती है—

'सखि! वे मुझसे कहकर जाते।

याग-धाम मन में?

शब्दार्थ—वार्यक=वर्ई दिया, कामना।

अर्थ—अपनी विरह-वेदना को व्यक्त करती हुई औशीनरी कहती है कि मेरे पति मन नहीं छोड़ते व वे याग-धाम, अन्य

किसी भी धर्म-कार्य में मेरे बिना (मुझे साथ लिए बिना) प्रवृत्त नहीं होते थे किन्तु अब उन्होंने मुझे बताए बिना ही संन्यास धर्म का कठोर व्रत धारण कर लिया है। न जाने उनका यह कठोर व्रत किस प्रकार पूरा होगा क्योंकि उन्होंने मुझ जैसी संन्यासिनी प्रिया को अपनी बाईं दिशा में नहीं बैठाया है? (शास्त्रों के अनुसार पति का यज्ञानुष्ठान तभी पूर्ण होता है जब उसकी पत्नी भी उसके साथ हो) और यदि उन्हें मुझको त्यागना ही था तो कम से कम जाते समय अपने चरणों को चूम तो मुझे अन्तिम बार ले लेने देते? मुझे बिना बुलाए और दर्शन किए बिना वे न जाने कैसे चुपचाप चले गये। न जाने मैं अकस्मात् ही अपने पति के मन में क्यों गड़ गई? अथवा जो पति मुझे कभी बहुत अधिक प्यार किया करते थे उन्होंने मुझे मृत-तुल्य जानकर यहीं त्याग दिया?

शुभ ! गोत्र   अधिकार नहीं हूँ।

शब्दार्थ—शल्य=तीर का फल।

अर्थ—हे शुभे ! प्रियतम की यह उदासीनता मेरे हृदय में तीर के फल की भाँति लग गई है और यह तमाम जीवन मेरे हृदय को सालती रहेगी। बड़े दुःख का विषय है कि जो पति कभी मेरा सर्वस्व था वह मुझे इसी प्रकार छोड़कर चला गया है, मानो उस पर मुझ अभागिनी का कोई अधिकार ही नहीं था।

विशेष—उत्प्रेक्षा अलंकार।

सुकन्या

देवि ! यही है   सुराकर।

शब्दार्थ—दाम=बन्धन। क्षाम=क्षीण। वैराग्योन्मुख=वैराग्य की प्रवृत्ति वाला।

अर्थ—महारानी औशीनरी का विलाप सुनकर उनकी सखी सुकन्या उन्हें समझाती हुई कहती है कि हे देवि ! यही नियम है कि जो बन्धन अधिक क्षीण और दुर्बल होता है वैराग्य की प्रवृत्ति वाला मनुष्य कभी भी उन बन्धनों से नहीं डरा करता किन्तु यहाँ पर जन्म जन्म की अभंग शृंखला होती है पति उधर से तन्तु जोड़ बनाकर आया करता है।

सुकन्या के कहने का अभिप्राय यह है कि नारी जीवन की सबसे अधिक सुदृढ़ कड़ी है, इसलिए सती नारियों से बिना मिले ही पुरुष प्रस्थान कर देते हैं।

परामर्श क्यों नहीं गये हैं।

शब्दार्थ—मुक्तिकामी=मुक्ति की इच्छा करने वाले। गृह=घर।

अर्थ—हे देवि ! नारी विश्व का सबसे बड़ा बन्धन है इसीलिए जो व्यक्ति मुक्ति की इच्छा करते हैं, वे इस नारी रूपी बन्धन से कभी परामर्श नहीं लेते क्योंकि यदि कोई नारी की बातें सुनने लगे तो फिर उसका गृह त्याग करना असम्भव हो जाता है। इसलिए यदि महाराज आपसे कुछ कह कर नहीं गये तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। यहां तो वही हुआ है जो भाग्य को स्वीकार था।

यशोधरा

पतिव्रते सिर पर।

शब्दार्थ—तिग्म=तीक्ष्ण प्रखर। अवमानना=अपमान। प्रतारण=वंचना ठगी। दयित=प्रियतम।

अर्थ—सुजाता के उत्तर को सुनकर महारानी यशोधरा कहती है कि हे पतिव्रते ! यह सच है कि गृहिणी की बातें सुनकर मुक्तिकामी को घर छोड़ना असम्भव हो जाता है किन्तु बिना कहे-सुने भाग जाना भी बहुत ही प्रखर और विषम चोट होती है यह विष के समान घूमने वाला अपमान और ठगी है। न जाने प्रियतम ने इस बात को क्यों नहीं सोचा कि मैं अबला और निर्दोष हूं। यह भाग्य की कैसी विडम्बना है कि उन्हें छला तो किसी अन्य ने और उनके विरह का वज्र गिरा किसी अन्य के (मेरे) सिर पर।

विशेष—उपमा अलंकार।

गवां दिया छिपी हुई थी ?

शब्दार्थ—रसित=आनन्दपूर्ण। पुलिन=किनारा। व्रीड़ा=लज्जा। प्रमदा=युवती।

अर्थ—हे सुजाता ! मैंने भूल में रहकर अपना सर्वस्व खो दिया और मैं सब कुछ देखकर भी अनदेखी बनी रही। हे देवि ! मुझे इस बात पर अब बार-बार पछतावा होता है कि मैं तरंगों से आकर्ष और आनन्द से भरे हुए उस प्रेम के किनारे पर क्यों नहीं गई जहां पर अप्सरायें स्नान करती हैं ? कहने का भाव यह है कि मैं अपनी ही लज्जा में सिमटी रही और खुलकर महाराज से अप्सराओं जैसा प्रेम न कर सकी। अब मैं बार-बार इस घटना को याद करके पछताती हूं कि लज्जा के झूठे आवरण को फाड़कर मैंने क्यों उस युवती (उर्वशी) के प्रेम को स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं होने दिया। वह उर्वशी केवल अप्सरा ही नहीं थी, बल्कि मुझमें भी छिपी हुई थी।

बसी नहीं ... धनुष की ?

शब्दार्थ—कुसुम-दाम=पुष्पमाला । पुष्प-स्रज=फूलमाला । उद्दाम=उन्मत्त विलास । शिंजिनी=धनुष डोरी ।

अर्थ—हे सुकन्या ! मुझे बार-बार यह याद करके पश्चात्ताप होता है कि मैं पुष्पमाला बनकर उनकी विलास बाँहों में क्यों नहीं बस गई ? फूलमाला बनकर उनकी विलास मर्म से क्यों नहीं चिपट गई ? जब वे अपना धनुष उठाकर घबराए का हृदय बींध रहे थे तो मैं उनके उस महाधनुष की डोरी क्यों न बन गई ?

कहने का भाव यह है कि यदि मैं उनके उर्वशी के प्रति प्रेम में बाधक न होकर सहायक होती तो वे मुझे इस प्रकार त्याग कर न चले जाते ।

चली नहीं ... रेखाओं में ?

शब्दार्थ—प्राणपति=प्रियतम । आख्यान=कहानी । पर्ण-पर्ण पर=पत्ते-पत्ते पर । जीवन्त=जगमगाती । प्रभा-सी=ज्योति के समान । कृशानु=अग्नि । लोहित=लाल ।

अर्थ—हे सुकन्या ! मुझे अब यह पश्चात्ताप हो रहा है कि मैं न प्रियतम के साथ-साथ धरती और आकाश में उस उस स्थान पर क्यों नहीं गई, जहाँ-जहाँ उन्हें अंकित हुई महान् घटनाएं सुना रही थी । जब वे प्रिय उस धरती विजय की कहानी पत्ते पत्ते पर लहर-लहर में और प्रत्येक ऊंचे शिखर पर अंकित कर रहे थे, तब मैं जगमगाती ज्योति के समान उनके बाणों के फलकों पर और बाणों से निकलती हुई आग की लाल लपटों में न जाने क्यों नहीं समा पाई ?

विशेष—वीप्सा और उपमा अलंकार ।

बीत गयी ... बदली की ।

शब्दार्थ—व्रीडा-विकल=लज्जा से दुःखी । धूमों में=धाराओं में ।

अर्थ—हे सुकन्या ! लहरों पर मचल-मचल कर नाचने वाली अप्सराएं इसीलिए जीत गई कि वे खुली धूप में और बादलों से भरे हुए आकाश में स्वच्छन्द होकर उड़ सकती थी और मैं इसीलिए हार गई कि मेरे लज्जा से [भ]री नैनों में खुली धूप की ज्योति और कोलाहल की किरण गड़ती थी, इस लिए मैं होती हुई घटनाओं को स्पष्ट रूप से नहीं देख पाई ।

देखा ही ... निहार सकता है ?

शब्दार्थ—अम्बर=हृदय । क्या वस्त्र=लज्जा से ...

के विशेष्य हैं—वीरों को बनाने से ।

अर्थ—हे सुकन्या ! मैंने अपने हृदय के छाया निवास से निकलकर, हृदय के प्रेम-लोक को छोड़कर देखा ही नहीं कि कहाँ क्या महिमा बरस रही है ? किन्तु मुझे बहुत ही दुःख है कि मुझ लज्जा से डरी हुई छाया से बाहर खींचकर उस धूप और उस उन्मुक्त भुवन में क्यों नहीं फेंक दिया जहाँ लहरों से भरा हुआ जीवन का समुद्र लहराता है और जहाँ पुरुष रण के लिए तैयार होकर भी तीरों को चलाने से पहले पास में खड़ी हुई अपनी प्रिया के मुख को देख लेता है।

हाय सती ... आवश्यकता भी।

शब्दार्थ—कदर्य=कायर । मंगलैषा=कल्याण की इच्छा । क्षुधा=भूख।

अर्थ—हे सती सुकन्या ! इस घटना में सारा मेरा ही दोष है। मैं ही कायर, दोषी अनुदार और कंजूस हूँ क्योंकि मैं ही पुरुष को वह भावमय भोजन नहीं दे पाई जिसकी उसके मन में भूख भी होती है और जिसकी उसे आवश्यकता भी होती है। इस भावमय आहार के अभाव में पुरुष उदासीन हो जाता है, क्योंकि केवल शुभकामना और कल्याण की इच्छा से कुछ नहीं होता।

मुझे भ्रान्ति ... सुरभि देने से।

शब्दार्थ—भ्रान्ति=धोखा। पूजा प्रसून=पूजा का फूल। सुरभि=सुगंधि।

अर्थ—मैं यह मानकर धोखा खाई हुई थी कि मेरा भी कुछ है, लेकिन आज उसे भी चढ़ाकर अपनी भ्रान्ति का निवारण कर चुकी हूँ। अब पूजा के फूलों की डाली में देव की अर्चना करने के लिए कुछ भी शेष नहीं रह गया है। किन्तु अब मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि जिस बात की प्रियतम को सबसे अधिक चाह थी वह सुगंधि उन्हें देने से मैं चूक गई हूँ अर्थात् वह वस्तु उन्हें नहीं दे पाई हूँ।

रही समेटे ... लगाकर।

शब्दार्थ—कुट्टमित=नायिका भेद में माने हुए ११ हावों में से एक हाव जिसमें सुरतानुभव के समय बनावटी कष्ट चेष्टा प्रकट की जाती है। ललित=सुन्दर। लीला=क्रीड़ा। मदिर=मादक।

अर्थ—हे सुकन्या ! जब प्रियतम मेरे पास से तो मैं न जाने क्यों सजीव वधू की भाँति लज्जा का अलंकार समेटे हुए रही। मुझे अब पछतावा हो

रहा है कि तब उस सुन्दर क्रीड़ा में चकित होकर मैंने सुखानुभव के समय कष्ट-चेष्टा को क्यों नहीं प्रकट किया। उस समय मैं प्रसन्न उद्दाम तरंगित और मादक मेघमाला के समान घिर कर तथा अपने पति का समस्त अस्तित्व घेरकर क्यों न बरस पड़ी ?

मुझे दुःख है कि मैं जीवन की अद्वितीय और सर्वोत्तम स्थिति को हार गई हूँ क्योंकि मैं प्राणों के प्रार्थना-भवन में प्रियतम का ध्यान लगाकर बैठी रही।

सुकन्या

देवि ! आपको ... लाभ मिला है।

शब्दार्थ—दुरन्त=अपार। दुस्सह=असह्य। प्रवाह=बहन। उन्मूलित=उखड़ी हुई। पादप=वृक्ष।

अर्थ—महारानी औशीनरी के दुःख को सुनकर सुकन्या उसे समझाती हुई कहती है कि हे देवि! आपका दुःख सचमुच ही अपार और असह्य है। वास्तव में यह दुःख आजीवन व्यथा देता रहेगा किन्तु अब इस ग्लानि जलन और आत्म-पीड़ा से कोई लाभ नहीं है क्योंकि जो वाटिका उजड़ गई है वह तो अब फिर दोबारा बसाई नहीं जा सकती। अब तो केवल शांति का यही उपाय है कि तुम्हें जो नया वृक्ष (आयु) मिला है उसे देखकर ही जीओ और अपने विरह-दुःख को भूलने की कोशिश करो।

जितना भी ... यतीत्व-ग्रहण की ?

शब्दार्थ—विच्युति—विछोह। अविस्मय=अपार। विक्रान्त=भयानक। भीम=विशाल। दुर्जय=अजेय। कराल=विकराल। तथ्य=सचाई। अरि=शत्रु। यतीत्व-ग्रहण=संन्यास ग्रहण करना।

अर्थ—महारानी औशीनरी को सान्त्वना देती हुई सुकन्या कहती है कि हे सुचरिते! इसमें कोई अपार विस्मय की बात नहीं है कि प्रियतम के विछोह पर जितना भी अधिक शोक प्रकट किया जाये उतना ही थोड़ा है, किन्तु तुम्हें यह भी जान लेना चाहिए कि जब पुरुष के सामने सचाई शत्रु अथवा चट्टानें आ जाती हैं तो वह भयानक विशाल अजेय और विकराल रूप धारण कर लेता है किन्तु इसी व्यक्ति का जब अपने मन की किसी भावना से अथवा अतृप्त इच्छा से युद्ध ठन जाता है तो वह इतना अधिक कायर बन जाता है कि इसके मुकाबले का इस संसार में कोई भी प्राणी कायर नहीं होता। उस समय वह आत्म-हत्या तक करने के लिए [illegible] जाता है। संन्यास-ग्रहण करने की बात तो बहुत छोटी

पर के· मिलती है।

शब्दार्थ—पर के=दूसरे के। पाश=बंधन।

अर्थ—यह सत्य है कि दूसरे के फेंके हुए बन्धन में मनुष्य कभी भयभीत नहीं होता है और अपने बाहु-बल से वह अवश्य ही उसे काटकर फेंक देता है लेकिन वही वीर जब अपने बनाए हुए बन्धन में फंस जाता है तो उसे उससे छूटने के लिए, निकल भागने के लिए राह ही नहीं मिल पाती है।

इसीलिए मम पीड़ा भी।

शब्दार्थ—दायित्व=जिम्मेदारी। अनिद्र दृष्टि=सतर्क निगाह।

अर्थ—हे शुभे! क्योंकि मनुष्य अपने बन्धन में बंधकर उससे नहीं छूट पाता है इसलिए गृहस्थ नारी की जिम्मेदारी बहुत ही गहन और दुस्तर बन जाती है उसे सतर्क निगाह से प्रत्येक क्षण सावधान होकर यह देखना होता है कि युद्ध से लौटे हुए मनुष्य को किस बात के लिए दुःख है, उसे किस चीज की सबसे अधिक चाह है और उसके मन में कहाँ कोई पीड़ा कसक रही है।

हे महारानी! यदि आपने यह नहीं देखा कि महाराज के कहाँ घाव थे कहाँ जलन थी और कहाँ मर्म-पीड़ा थी तो आपने बुरा किया।

कहने का भाव यह कि चतुर नारी को अपने पति के सभी प्रकार के मनोभावों को जानकर उनका उचित उपचार करना चाहिए। यह उसकी बहुत बड़ी जिम्मेदारी होती है।

यह भी नियम किए हुए हैं।

शब्दार्थ—उद्भट=वीर। पयोधि=सागर। तिया=नारी। नितल=अत्यधिक गहराई।

अर्थ—सुकन्या महारानी औशीनरी को समझाती हुई कहती है कि हे महारानी! प्रकृति का यह नियम भी बड़ा ही विचित्र लगता है कि जो व्यक्ति समर्थ और वीर होते हैं, वे सागर के ऊपर घुसे हुए आँगन में घूमते हैं अर्थात् केवल सुनहली कल्पनाओं के पीछे दौड़ते रहते हैं। इसके विपरीत नारी जिसे अबला और केवल आँसू तथा करुणा की मूर्ति माना जाता है सृष्टि के महामूल तथा अपार तल में बैठकर सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण करती है और वही अपनी उंगली पर समुद्र को रखकर ऊँचा उठाये हुए है।

कहने का भाव यह है कि जिस पुरुष को वीर माना जाता है वह तो सुनहली कल्पना के पीछे दौड़ता-दौड़ता अपने जीवन को व्यर्थ में ही समाप्त

और शाम को जब पुरुष युद्ध से लौट कर आता है तो नारी ही कभी मन्द-मन्द मुस्कराकर और कभी आंसू बहाकर उसका दिन भर का इतिहास सुनती रहती है।



नारी क्रिया बन जाता है।

शब्दार्थ—शान्ति=शांति।

अर्थ—नारी क्रिया नहीं है बल्कि वह तो केवल क्षमा, शांति और करुणा की साकार मूर्ति है इसीलिए जब भी इतिहास नारी के निकट पहुंचता है तो वह या तो प्रसन्न हो जाता है, या कविता बन जाता है।



हाय भविष्य भवन भवन में।

शब्दार्थ—निनाद=निनाद कोलाहल।

अर्थ—हे स्वप्न! न जाने इस पृथ्वी पर वह सुनहला भविष्य कब अवतरित होगा जब यहां पर कोलाहल नहीं बल्कि शान्ति का राज्य होगा और दिन भर के संघर्ष में पुरुष जिस इतिहास का निर्माण करेगा, वह सांझ होते ही प्रत्येक भवन में काव्य का रूप धारण करेगा।

कहने का भाव यह है कि काव्य का विषय गरिमा से युक्त होता है अब कब मनुष्य ऐसे महान् कार्य करेगा जो काव्य के विषय के उपयुक्त होंगे।

अभी चंड महिमा से।

शब्दार्थ—चंड=प्रचंड। प्रखर=तीखी। वह्नि=आग। स्वाद्=आमद। प्रपग्ध=नीरव। नरेश्वरी=नारी।

अर्थ—अभी तो स्वार्थों के संघर्षण से भीषण दोपहरी आई हुई है सूर्य अपनी तीखी गर्मी लेकर तप रहा है। दिन आग के अनुकूल तथा पौरुष के गुणों से समन्वित है किन्तु जब रात आयेगी तो शायद संसार का कोलाहल समाप्त हो जायेगा और तब समूची पृथ्वी महती नारी की शीतलता प्रदान करने वाली महिमा से भीग जायेगी।

और देवि! क्रिया के।

शब्दार्थ—प्रभुत्व-तृषा से=प्रभुता पाने की इच्छा से।

अर्थ—और देवि! यह भी सुन लो कि जिन दिव्य गुणों के समूह को मानवता कहते हैं उन गुणों के अधिक निकट पुरुष नहीं नारी है अर्थात् पुरुष की अपेक्षा नारी में मानवता के गुण अधिक होते हैं। मनुष्य का हृदय जितना अधिक प्रभुता पाने की इच्छा से दुखी हो रहा है, नारी के जीवन में इतना अधिक कभी नहीं होता, अर्थात् नारी में प्रभुता पाने की इच्छा भी अपेक्षाकृत कम होती है।

कहते हैं "गंवा कर।

शब्दार्थ—सिरजा था=बनाया था। प्रकाण्ड=सर्वश्रेष्ठ। स्वत्व-हरण को=अधिकार का हड़प लेने को। विरचा=रचा।

अर्थ—कहा जाता है कि इस सृष्टि का प्रणेता, जिसने हम सबको बनाया था सर्वश्रेष्ठ पुरुष था और इसीलिए उसने प्रारम्भ में ही मनुष्य में यह प्रवृत्ति बना दी कि वह दूसरे के अधिकारों को हड़पता रहे। इसके विपरीत उसने नारी की रचना कुछ इस प्रकार कुशलता से की कि नारी में स्वत्व-हरण की प्रवृत्ति को नहीं बनाया बल्कि वह तो अपना भी अधिकार खोकर अपने को धन्य मानती है।



किन्तु कभी मिरा को।

शब्दार्थ—निर्बाध=स्वतन्त्र रूप से। सुयोग=शुभ अवसर। सृजन का=निर्माण करने का। कातर=विवश। निस्तब्ध गिरा=मूक वाणी।

अर्थ—सुकन्या महारानी औशीनरी से कहती है कि विधाता ने तो ऐसे पुरुष की रचना की है जो स्वभाव से ही दूसरों का अधिकार हड़प कर लेने वाला है किन्तु माई! हमें कभी स्वतन्त्र रूप से किसी पुरुष को रचने का शुभ अवसर मिला तो हम निष्पक्ष होकर ऐसे कोमल पुरुष की रचना करेंगी जो दूर खड़ी हुई करुणा की मौन और विवश पुकार को कोलाहल तथा कर्कश निनाद में भी सुन लेगा और बिना कहे ही वह आँखों-आँखों में—संकेत से ही मूक व्यथा की कसक को और आँसुओं की मूक वाणी को समझ लेगा।

औशीनरी

कितना मधुर" "ललना को।

शब्दार्थ—चान्द्र महिमा की=चन्द्रमा के समान शीतलता प्रदान करने वाली महिमा की। बदा था=भाग्य में लिखा हुआ था। ललना=नारी।

अर्थ—सुकन्या की यह बात सुनकर कि सुनहरा भविष्य भी कभी आयगा औशीनरी सुकन्या से कहती है कि तुम्हारा यह स्वप्न बहुत ही मधुर है तुम्हारी यह कल्पना चन्द्रमा की चाँदनी के समान शीतलता प्रदान करने वाली है लेकिन अभी तक तो किसी को भी पता नहीं कि वह स्वर्गीय भविष्य कब आयगा। हमारे भाग्य में जो कुछ लिखा था हम तो उसे भोगकर चलीं किन्तु यह प्रार्थना करती हैं कि भविष्य की नारी को अधिक उज्ज्वल और उदार युग मिले।

आयु

माँ! हताश "बढ़ा हुआ हूँ"।

शब्दार्थ—हताश=निराश। क्षीरोज्ज्वल=दूध के समान सफेद।

अर्थ—औशीनरी की यह बात सुनकर कि न जाने वह स्वर्गीय भविष्य कब आयगा, आयु कहता है कि हे माँ! तुम निराश मत होओ क्योंकि वह

भविष्य चाहे जहाँ कहीं भी छिपा हुआ हो मैं उसे अवश्य लाकर रहूँगा क्योंकि मैं उसी सुनहले जीवन का अग्रदूत बनकर आया हूँ। हे जननी ! मैंने केवल करुणामयी नारी के स्वप्नों का दुग्ध पान ही नहीं किया वरन् उसके दूध समान सफेद कल्पना-स्रोत में भी पलकर बड़ा हुआ हूँ।

को कुछ बता हूँ।

शब्दार्थ—मातृ-ममता=माता की ममता। नृप किशोर=युवा राजा।

अर्थ—आयु महारानी औशीनरी से कहने लगा कि मुझे जीवन में जो कुछ भी मिला है वह माता की ममता से और उसके सजल हृदय से मिला है। मैंने अपने जीवन में पिता नहीं माताएँ ही देखी हैं। एक माँ ने मुझे जन्म दिया और दूसरी माँ ने अपने हृदय से लगाकर तथा अपनी आँखों का अमृत पिला कर पाल पोसकर मुझे बड़ा किया है। अब जब कि मैं बड़ा हो गया हूँ तो मैं यहाँ पर राज मुकुट को नहीं बल्कि तीसरी माँ के (तुम्हारे) चरणों को खोजते हुए आ गया हूँ। हे माँ ! पहले मैं तुम्हारा बेटा हूँ और इसके पश्चात् युवा राजा हूँ।

(आयु औशीनरी के चरणों पर गिरता है। औशीनरी उसे उठाकर हृदय से लगाती और अपने आँसू पोंछती है।)

सुकन्या

बरस गया हलचल से।

शब्दार्थ—पीयूष=अमृत। तरी=नाव। घाट-अवघट में=दुर्गम घाट में। मातल=धर्मी दुरत।

अर्थ—महारानी औशीनरी को सम्बोधित करते हुए सुकन्या कहती है कि हे देवि ! इस वातावरण को देखकर तो इतना सुख मिला है मानो अमृत बरस गया हो लेकिन नारी का एक धर्म यह भी है कि यदि मनुष्य की नौका किसी दुर्गम घाट में अटक गई हो तो वह उसे अपनी स्त्रियोंमी की शक्ति से पुन चला दे और फिर वह दुःख अथवा तथा हलचल से दूर हो जाय।

सो वह उनके पन्नों में।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—सुकन्या महारानी औशीनरी से कहने लगी कि मनुष्य की नाव अब चलने लगी है इसलिए आइये अब वापिस लौट चलें। हे देवि मैं अपने घर चली जाऊँ और आप अपने प्रार्थना भवन में लौट जाय क्योंकि हम त्याग की मूर्ति होने के कारण इतिहासों को प्राण पुष्ट कर भी उसके पृष्ठों में अधिक समय तक नहीं ठहरा करतीं अर्थात् त्याग हमारा धर्म है, इसलिए हमारे मन में यश-कामना नहीं होती। हम महान् से महान् घटना को जन्म देकर भी उस इतिहास में अंकित करके भी फिर पृष्ठभूमि में चली जाती हैं